हिन्दी

उद्भव, विकास और रूप

डॉ॰ हरदेव बाहरी

किताब महल

Presented
To Dr B.L. Kaul
[signature]
28.4.76

RAMESH K. SHARMA
LL.B., M.A., PH.D.,
PROFESSOR & HEAD, HINDI DEPT.
KASHMIR UNIVERSITY,
SRINAGAR-6 (KASHMIR)
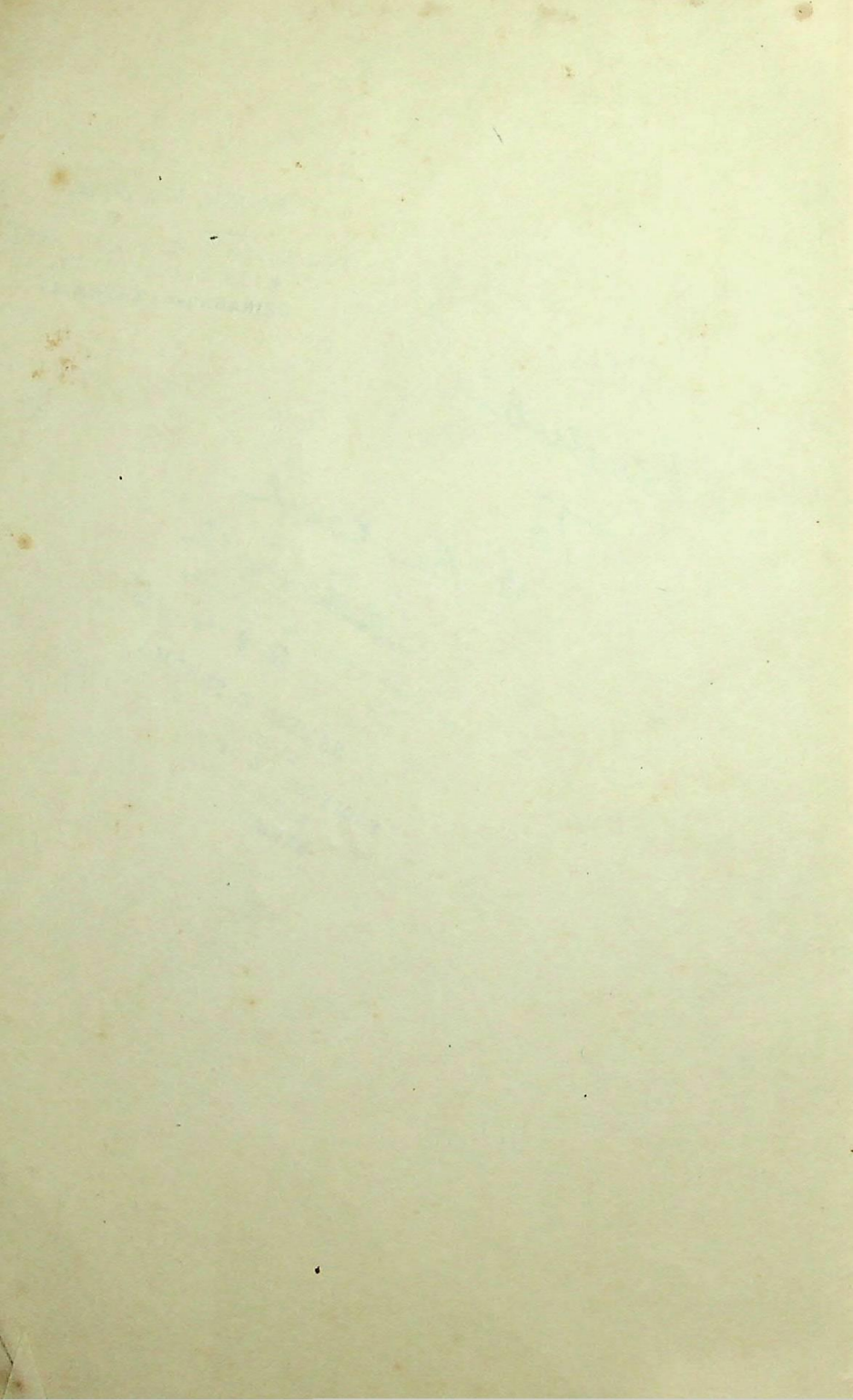
हिन्दी :
उद्भव, विकास और रूप

हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप

डॉ० हरदेव बाहरी
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

किताब महल, इलाहाबाद
१९७५

तृतीय संस्करण की भूमिका

मुझे बड़ा हर्ष है कि इस पुस्तक के पहले के संस्करणों का सारे हिन्दी-जगत् में स्वागत हुआ। यह पुस्तक पन्द्रह-सोलह विश्वविद्यालयों में हिन्दी एम० ए० के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हो गयी है। कुछ विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम को ही इसके अनुसार परिवर्तित करना आवश्यक समझा है। अब यह माना जा रहा है कि हिन्दी के विद्यार्थी को हिन्दी की पूर्वपीठिका, उसके विकास और उसकी नाना समस्याओं से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की थोड़ी-बहुत जानकारी होनी ही चाहिये; किन्तु, पाठ्यक्रम में अधिकाधिक बल हिन्दी के भाषावैज्ञानिक अध्ययन पर होना अभीष्ट है। एम० ए० के बाद भी शोधकार्य के लिए हमारे विद्यार्थियों का सम्बन्ध हिन्दी की भाषावैज्ञानिक समस्याओं से रहता है। यह पुस्तक उन विद्यार्थियों को भरपूर तैयारी कराने में सहायक है, क्योंकि इसमें सभी वैज्ञानिक पक्षों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है। सभी प्राध्यापकों और आचार्यों ने इससे पहले की एतद्विषयक पुस्तकों से श्रेष्ठ समझकर इसकी प्रशंसा की है। देश के बाहर रूस और जर्मनी के हिन्दी विद्वानों ने भी इसे सराहा है, इसका मुझे गर्व है।

इस संस्करण में हमने अनेक सुझावों को समाहित करके पुस्तक की महत्ता बढ़ाने की चेष्टा की है। तथ्य और आँकड़े दोहरा दिये गये हैं। यत्र-तत्र पर्याप्त संशोधन कर दिया गया है और अनेक विषयों को थोड़ा अधिक स्पष्ट करने के लिए नयी सामग्री जोड़ दी गयी है।

हिन्दी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास एक अलग अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इससे अद्यतन शोध-संबंधी कार्य-विवरण मिल जायगा और आने वाले शोधार्थियों का पथप्रदर्शन भी होगा।

मुझे विश्वास है कि हिन्दी से सम्बन्धित भाषावैज्ञानिक अध्ययन में रुचि रखने वाले अध्यापक और विद्यार्थी इस संस्करण को पहले से अधिक उपयोगी पायँगे। यदि वे पूर्ववत् सहयोग प्रदान करने की कृपा करते रहेंगे तो अगले संस्करण उत्तरोत्तर अच्छे होते जायँगे।

प्रयाग — हरदेव बाहरी

२.१०.१९७२

दो शब्द

१. वर्षों से हिन्दी भाषा पर कुछ सोचता-सुचवाता, पढ़ता-पढ़ाता आ रहा हूँ। उसका एक बड़ा अंश सहयोगियों के आग्रह से लेखबद्ध कर दिया है। बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपादेय होनी चाहिये, क्योंकि इसमें उनके पाठ्यक्रम का विशेष ध्यान रखा गया है। भारत के बीस-बाईस विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रमों को देखकर हिन्दी के भाषावैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित सारी ज्ञातव्य बातें इसमें रख दी गयी हैं। पहले खण्ड में हिन्दी भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करके उसके उद्भव की कथा कही गयी है। दूसरे खण्ड में ध्वनि-पद्धति, शब्द-भण्डार, अर्थविज्ञान, पदरचना या व्याकरण, आदि का ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा विवरणात्मक अध्ययन प्रस्तुत है। शास्त्रीय दृष्टि से ९वें प्रकरण का अपना महत्त्व हो सकता है। तीसरा खण्ड भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं है, हिन्दी के सामान्य पाठकों के काम का भी है। हिन्दी के नाना रूपों की चर्चा अवश्य पढ़ लीजिएगा। समस्याओं का समाधान अन्तिम प्रकरण में किया गया है। ब्लाक-चित्रों की ओर भी आप का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

२. इस पुस्तक की विषय-वस्तु आपको कहीं एक जगह नहीं मिलेगी। इसका कलेवर बहुत बड़ा नहीं है, परन्तु सामग्री भरपूर है—दीर्घकालीन और व्यापक अध्ययन द्वारा संकलित एवं निजी चिन्तन-मनन से उद्भूत, दोनों तरह की। चेष्टा की गयी है कि थोड़े शब्दों में, किन्तु सरल और सुबोध रीति से, बहुत कुछ कहा जा सके। लम्बे-लम्बे व्याख्यान देने की मेरी आदत नहीं है।

१०, दरभंगा कैसिल,
इलाहाबाद—२
विजयादशमी, १९६५।

हरदेव बाहरी

शुद्धपत्र

१. भाषा-परिवार
और उनमें हिन्दी का स्थान

१.१. भाषाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

विश्व में जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं उनमें से कुछ ही का ज्ञान भाषा-विज्ञानियों को हो पाया है। अफ्रीका और अमेरिका में ऐसी सैकड़ों भाषाएँ हैं जिनकी कुछ भी जानकारी सभ्य जगत् को नहीं है। वहाँ के आदिवासियों की थोड़ी-सी बोलियों का अध्ययन ईसाई मिशनरियों, विद्याव्यसनी नृतत्त्वशास्त्रियों और भाषाविज्ञानियों ने किया है। किन्तु, इन महाद्वीपों की किसी भी ऐसी भाषा या बोली का विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं है। छोटे-बड़े टापुओं में न जाने कितनी ऐसी भाषाएँ पड़ी हैं जिनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। हमारे अपने देश में कम-से-कम एक सौ से अधिक जातियाँ होंगी जिनकी भाषा का गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ। नाम तो हम संसार की प्रायः सभी भाषाओं के जानते हैं। हमें बताया गया है कि छोटी-छोटी बोलियों को छोड़कर भाषाओं की संख्या २७४६ है। इनमें १२०० भाषाएँ उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में, ५०० अफ्रीका में और ६०० से अधिक आस्ट्रेलिया और दूसरे टापुओं में बोली जाती हैं, अर्थात् ये २३०० नाना पिछड़ी हुई और जंगली जातियों की भाषाएँ हैं जिनका संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है। इनके पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय अभी तक नहीं किया जा सका। वर्तमान समय में भाषाविज्ञान की यह शाखा जिसके द्वारा ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन करके भाषाओं के परिवार निश्चित किये जाते हैं, उपेक्षित-सी है। यह कार्य है भी कष्टसाध्य। जब तक किन्हीं दो या अधिक भाषाओं की ध्वनि-रचना, उनके व्याकरणिक गठन, शब्द-समूह आदि से सम्बद्ध अनेक युगों की सामग्री प्राप्त नही होती, तब तक पारिवारिक सान्निध्य का निर्णय नहीं हो सकता। एक युग का सम्बन्ध आकस्मिक हो सकता है, अथवा प्रभाव के रूप में भी समझा जा सकता है। अफ्रीका और अमेरिका की भाषाओं के बारे में ऐतिहासिक सामग्री का प्राप्त होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः विद्वान् इस जोखिम में नहीं पड़ना चाहते। उनके लिए प्रत्येक भाषा निरपेक्ष रूप से, अपने में, महत्त्वपूर्ण इकाई है।

पारिवारिक सम्बन्ध निश्चित करने के लिए भौगोलिक सन्निकटता, शब्द-साम्य (विशेषतः मूलभूत संज्ञापद, प्रारम्भिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं और सम्बन्धियों के नाम, सर्वनाम, गिनती वाले शब्द, और परमावश्यक क्रियाएँ), ध्वनि-साम्य (समय-समय पर बाहरी भाषाओं से गृहीत ध्वनियों को छोड़कर), व्याकरण-गत विकास, आदि आधार लिये जाते हैं; और सम्बद्ध भाषाओं को परिवारों, वर्गों, शाखाओं, प्रशाखाओं आदि में विभक्त किया जाता है। इन्हीं आधारों को लेकर १८वीं-१९वीं शताब्दी में यूरोप और भारत के विद्वानों ने यूरोपीय और एशियाई भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया, और कुछ परिवार निश्चित किये जिनमें निम्न-लिखित महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) भारत-यूरोपीय; (२) सामी; (३) मलय-पालिनीशियाई; (४) द्रविड़; (५) जापानी-कोरियाई; (६) यूराल-अल्ताई; और (७) चीनी-तिब्बती।*

भारत में माना जाता रहा है कि संस्कृत सब भाषाओं की जननी है। बौद्ध लोग पालि को आदि भाषा कहते आ रहे हैं। यूरोप में पहले हिब्रू (यहूदी) को ऐसा ही महत्त्व दिया जाता था। कुछ लोग सामी और भारत-यूरोपीय को, कुछ द्रविड़ और यूराल-अल्ताई को, और कुछ द्रविड़ और भारत-यूरोपीय को एक ही परिवार सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु बहुमत स्वीकार करता है कि उक्त सात परिवारों का कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। इतना माना जा सकता है कि भौगो-लिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सन्निकटता के फलस्वरूप इनमें से प्रत्येक में दूसरे परिवारों के प्रभाव अवश्य पाये जाते हैं।

चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाएँ, चीन और तिब्बत के अतिरिक्त बर्मा, थाईदेश (स्याम) और उत्तरी हिन्द-चीन में लगभग ८० करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती हैं। इनमें चीनी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। राजनीति, संस्कृति, धर्म, दर्शन, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में चीनी भाषा का अपना स्थान है। इसके बोलने वालों की संख्या ७५ करोड़ के लगभग है। २००० ई० पू० से चीनी भाषा का इतिहास प्राप्त है। तुर्की, मंगोलिया, मंचूरिया, चीन के उत्तर में साइबेरिया तथा हंगरी-फ़िनलैंड की भाषाएँ यूराल-अल्ताई परिवार के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। इनका विस्तार-क्षेत्र तो बहुत

*इन नामों को कण्ठस्थ करने का सूत्र है 'भासा मद्रजा सूची' जो इनके पहले अक्षर से बनाया गया है।

उपर्युक्त परिवारों के अतिरिक्त यूरेशिया (यूरोप और एशिया) के बुरुशस्की परिवार, काकेशी परिवार, हाइपरबोरी (धुर उत्तरी) परिवार और बास्क परिवार की भाषाएं, अफ्रीका के हामी परिवार, सुदानी परिवार, बान्टू परिवार एवं होटन्टोट-बुशमैन परिवार की भाषाएं, प्रशान्त महासागर के दूर के द्वीपों की पापुई, तगालोग आदि भाषाएं तथा अमरीका के आदिवासियों की भाषाएं उल्लेखनीय हैं।

बड़ा है, किन्तु सांस्कृतिक महत्त्व कम है। बोलने वालों की संख्या कुल ६१ करोड़ है। जापानी-कोरियाई भाषाओं को पहले चीनी परिवार में गिना जाता था, बाद में यूराल-अल्ताई परिवार में; किन्तु अधिकतर विद्वानों का कहना है कि ये स्वतन्त्र परिवार की भाषाएँ हैं। जापानी में ८वीं शती से साहित्य मिलने लगता है। द्रविड़ कुल की चार प्रमुख भाषाएँ हैं—तमिल, मलयालम, कन्नड और तेलगू। तमिल सबसे प्राचीन है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'तमिल' से ही 'दविड' शब्द का विकास हुआ है। इसका विस्तार उत्तरी लंका तक है। द्रविड़ भाषाएँ भारत की भाषाएँ हैं। बोलने वालों की संख्या १२ करोड़ के लगमग है। मलय-पालिनीशियाई (१२ करोड़ लोगों की) भाषाएँ मलाया सुमात्रा, इण्डोनीशिया, बाली, बोर्नियो, फ़िलिपाइन, फ़िजी इत्यादि पूर्वी द्वीपों और अफ्रीका के पास मदगास्कर द्वीप में बोली जाती हैं। पहले भारत की संथाली, मुण्डा आदि भाषाओं को भी इसी परिवार में सम्मिलित किया जाता था; किन्तु अब सिद्ध किया गया है कि इनका सम्बन्ध न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों की भाषा से है, जो मलेनीशिया, पालिनीशिया और इण्डोनीशिया के भाषा-परिवार से भिन्न है। यहूदियों की प्राचीन भाषा हिब्रू, अरबी जिसका प्रचार अरब के बाहर मिस्र और पश्चिमी अफ्रीका के अतिरिक्त सारे इस्लामी देशों तक फैला हुआ है, और हबशी सामी परिवार की भाषाएँ हैं। इनका लिखित रूप भी बहुत प्राचीन काल से प्राप्त है। भारत-यूरोपीय (भारोपीय) परिवार का दूसरा नाम आर्य परिवार या वीर परिवार है। यह सबसे बड़ा भाषा-परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ लगभग ११५ करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती हैं। ये लोग यूरोप, कैनेडा, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, पाकिस्तान, भारत, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड आदि महाद्वीपों और देशों में फैले हुए हैं। इस प्रकार ये भाषाएँ सारे संसार में व्याप्त हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी ये भाषाएँ उत्कृष्ट और समृद्धतम मानी जाती हैं। इन भाषाओं में प्राप्त वैज्ञानिक साहित्य अनुपम और विविध है। अन्य परिवारों की भाषाओं में चीनी और जापानी में साहित्य तो है, किन्तु वह प्राचीनता, गंभीरता और व्यापकता की दृष्टि से संस्कृत, जर्मन, फ़्रेंच, अंग्रेजी या रूसी के वैज्ञानिक साहित्य से होड़ नहीं ले सकता। प्राचीन काल में संस्कृत का और आधुनिक काल में अंग्रेजी, स्पेनी, पुर्तगाली, जर्मन, फ़्रेंच और रूसी का जो प्रचार-प्रसार हुआ, उसका एक कारण यह भी था कि इन भाषाओं के बोलने वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अग्रणी रहे हैं। इन भाषाओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी सबसे अधिक हुआ है। सच पूछा जाय तो भाषाविज्ञान की नींव ही इन्हीं के आधार पर खड़ी की गई है।

हमारे भू-मण्डल की कुल जनसंख्या ३२५ क़रोड़ के लगभग बताई गई है।

इसमें से २४५ करोड़ जनसमूह की निम्नलिखित १४ भाषाएँ हैं—

चीनी	७५ करोड़	जर्मन	११ करोड़	इटाली	८ करोड़
अँग्रेज़ी	३२ करोड़	जापानी	१० करोड़	अरबी	६½ करोड़
हिन्दी	२८½ करोड़	फ्रांसीसी	१० करोड़	बँगला	८½ करोड़
रूसी	२० करोड़	मलय	८½ करोड़	तमिल	५½ करोड़
स्पेनी	१४ करोड़	पुर्तगाली	८ करोड़		२४५

उपर्युक्त १४ भाषाओं में अँग्रेज़ी, हिन्दी, रूसी, स्पेनी, जर्मन, फ्रांसीसी, बंगला, पुर्तगाली और इटाली अर्थात् ९ भाषाएँ आर्य-परिवार की हैं। शेष में चीनी, जापानी, मलय, अरबी और तमिल अपने-अपने परिवार की एक-एक प्रमुख भाषा है जो इस गिनती में आ पायी है। संसार की भाषाओं में हिन्दी का तीसरा स्थान है। यदि भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत हो सके और प्रादेशिक भाषाएँ स्थानीय काम-काज में और (मध्यदेश तथा बहुसंख्यक जनता की भाषा होने के नाते) हिन्दी अखिल भारतीय कार्यों में व्यवहृत होने लगे तो हिन्दी को ५५ करोड़ की भाषा कहलाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। तब यह संसार की दूसरी बड़ी भाषा हो जाती है। इस विषय पर अन्तिम चार प्रकरणों में कुछ अधिक विस्तार से कहा जा सकेगा।

१.२. भारत-यूरोपीय या आर्य परिवार

यूरोप, ईरान और भारत की जिन भाषाओं को भारत-यूरोपीय या आर्य-परिवार की भाषाएँ कहा गया है, उनके वर्तमान रूपों में कोई विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं जान पड़ता; किन्तु १८वीं शताब्दी में जब यूरोप के विद्वानों को संस्कृत का ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने क्रमशः प्राचीन जर्मन, ग्रीक, लैटिन और अवेस्ता आदि से उसकी तुलना करके देखा तो चकित रह गये। सारे भारत-यूरोपीय भाषा-वर्ग में धातुएँ प्रायः समान हैं। इन धातुओं से बनने वाले नाम, आख्यात आदि पद अधिकतर एक-से हैं। धातुओं और संज्ञाओं की रूपावली में लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल, भाव, तद्धित, कृदन्त, वाच्य आदि की दृष्टि से अद्भुत समानता है। विशेषण की अवस्थाओं में -तर, -तम लगाने का ढंग भी एक-सा है। सर्वनाम, संख्यावाची शब्द, सम्बन्धियों के नाम और उपसर्ग-प्रत्यय तक मिलते-जुलते हैं। विभक्तियों के कारण वाक्य में शब्द-क्रम की स्वतंत्रता सब में है।

अवि (भेड़), अश्व (घोड़ा), श्वन् (कुत्ता), गौ, वृक (भेड़िया), धूम, मधु, रुधिर, मांस आदि नाम और भर्, मृ (मरना), धा (धारण करना), दा (देना), आदि क्रियाएँ थोड़े-बहुत ध्वनिभेद के साथ सब भाषाओं में सामान्य रूप से पाई जाती हैं।

नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अवेस्ता	फ़ारसी	अर्थ
अस्मि	एहमि	सुम्	अह्मि	अम	(मैं हूँ)
अस्मि	एस्ति	एस्त्	अस्ति	अस्त	(वह है)
सन्ति	एन्ति	सुन्त	हेन्ति	अन्द	(वे हैं)
ददाति	दिदोन्ति	दन्त	ददेन्ति	दाद:अन्द	(देते हैं)
क्षिति	क्तिशस्	सितुस्	शितिश		(बस्ती)
चत्वार :	तेत्र:	क्वातुअर	चथ्वारो	चहार	(चार)
सप्त	हेप्त	सेप्तम्	हप्त	हफ़्त	(सात)
अष्ट	ऑक्तो	ओक्तो	अश्त	हश्त	(आठ)
दश	डेका	डेकेम	दस	दह	(दस)
शतम्	हेकतोन्	केन्तुम	सतम्	सद	(सौ)
मातर्	मेतरे	मातेर	मातर	मादर	(माता)
पितर्	पतेर	पतरे	पितर	पिदर	(पिता)
नव	नैओस	नोवोस	नव	नौ	(नया)

निम्नलिखित अँग्रेजी और संस्कृत या हिन्दी शब्दावली का साम्य कोई आकस्मिक घटना नहीं है—

abstain (अभिस्तम्भ्), aniline (नीला), aspire (स्पृह), autumn (हेमन्त), beg (भिक्ष्), better (बृहत्तर), birch (भूर्ज), bond (बन्ध), brother (भ्रातर), centre (केन्द्र), cow (गौ), cruel (क्रूर), cycle (चक्र), daughter (दुहितृ), door (द्वार), end (अन्त), ewe (अवि), gait (गति), goose (हंस), greed (गृध्र), grip (ग्रभ), inter (अन्तर्), juice (जूष), lymph (प्लीहा), mouse (मूस), nave (नाभि), near (नियरे), night (नक्त), path (पथ), primus(परम), row(रव), son(सूनु), state (स्थिति), two (द्वौ), waggon (वाहन), warm (घर्म), widow (विधवा), yoke (युग), इत्यादि।

इन आश्चर्यजनक समानताओं को देखकर विद्वानों ने अनुमान किया कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, लिथुआनी, अवेस्ता आदि भाषाओं की कोई ऐसी जननी अवश्य रही होगी जिसे आर्य जातियाँ यूरोप और भारत-ईरान में फैलने से पहले अपने मूल स्थान में व्यवहृत करती थीं। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यूरोप के कतिपय विद्वानों ने उनका पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की है, किन्तु भाषाविज्ञान की इस शाखा की कोई प्रामाणिक परीक्षा नहीं हुई। अभी तक यह मात्र कल्पना-जगत् की विद्या बनी हुई है।

१.२.१. लक्षण

बताया गया है कि उस आदि भारत-यूरोपीय भाषा की निम्नलिखित ध्वनियाँ थीं—

स्वर—ह्रस्व अ, इ, उ, ए॒, ओ॒, एवं उदासीन अ

इन में प्रथम तीन सभी भाषाओं में पाये जाते हैं, किन्तु अन्तिम तीन यूरोपीय भाषाओं में तो हैं, भारत-ईरानी भाषाओं में इनके स्थान पर क्रमशः अ और इ हो गया, जैसे लैटिन ए॒स्त, सं० अस्ति; लैटिन ओ॒क्तो॒, सं० अष्ट; लैटिन पतेर, सं० पिता।

—दीर्घ आ, ई, ऊ, ए, ओ

इन में प्रथम तीन सभी भाषाओं में सुरक्षित हैं। अन्तिम दो का भारत-ईरानी में आ हो गया, जैसे लैटिन रेग(म्), सं० राज्; लैटिन दोनम्, सं० दानम्।

—इनके अतिरिक्त ऋ, लृ, म्, न् स्वर थे। प्रथम दो संस्कृत में मिलते हैं, यूरोपीय भाषाओं में इनके स्थान पर र, ल हो गया। अन्तिम दो स्वर संस्कृत-ग्रीक में अ और लैटिन आदि में एम, एन् हो गये।

संयुक्त स्वर—अइ, ए॒ई, ओ॒इ, अउ ए॒उ, ओ॒उ; एवं आइ, एइ, ओइ, आउ, एउ, ओउ आदि। इनमें प्रथम छः के स्थान पर संस्कृत में ए ओ, और अन्तिम छः के स्थान पर ऐ औ हो गये।

स्वर निरनुनासिक थे।

व्यंजन—क ख ग घ   प फ ब भ म
क्व ख्व ग्व घ्व   त थ द ध न
क्य ख्य ग्य घ्य   य र ल व स ज़ ह

तालव्य (चवर्ग और श) तथा मूर्धन्य (टवर्ग और ष) व्यंजन नहीं थे।

इन में तीन प्रकार की कवर्गीय ध्वनियाँ विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं—इन्हें क्रमशः कण्ठ्य, कण्ठोष्ठ्य और कण्ठतालव्य व्यंजन कहा जाता है। संस्कृत में प्रथम से श ष, द्वितीय से क ख ग घ, और कण्ठतालव्य से तालव्य च छ ज झ का विकास हुआ। तुलना कीजिए ग्रीक दक॒, सं० दश; लैटिन क्वोद, सं० कः; लैटिन क्वार्टर, सं० चत्वारः।

पहले माना जाता रहा कि भारत-यूरोपीय में सघोष महाप्राण व्यंजन (घ, ध, भ) नहीं थे। हित्ती भाषा की खोज के बाद से कहा जाने लगा है कि सघोष-अघोष दोनों तरह की महाप्राण ध्वनियाँ थीं।

य र ल व म् न्, ये छः अर्धस्वर ध्वनियाँ थीं ।

ह के दो रूप थे । अघोष ह की ध्वनि विसर्ग के समान थी ।

संयुक्त व्यंजनों की संख्या बहुत अधिक थी ।

भारत-यूरोपीय की दो ध्वनिगत विशेषताएँ और थीं—एक तो संगीतात्मक स्वराघात जो वैदिक और ग्रीक में सुरक्षित रहा, और दूसरी अपश्रुति (ablaut) या स्वर-क्रम (अर्थभेद के लिए) जैसे सं० भृ, भर, भार; अथवा श्रुति, श्रोता, अश्रौषीत में।

व्याकरण—भारत-यूरोपीय भाषा में तीन लिंग थे—पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग । वचन तीन थे—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन । पुरुष भी तीन थे—उत्तम, मध्यम तथा अन्य । कारक आठ थे । संस्कृत में ये सब से अधिक थे । लैटिन में चार और ग्रीक में पाँच कारक थे । संज्ञाओं, सर्वनामों और विशेषणों के रूप जटिल थे । सर्वनामों और विशेषणों का रूपान्तर संज्ञा के लिंग, वचन और कारक के अनुसार होता था । गिनती दस के आधार पर की जाती थी । धातुएँ प्रायः एकाक्षरिक थीं जो कई गणों में विभाजित थीं । संस्कृत में ऐसे दस गण थे । शब्द मुख्यतः धातुओं से निष्पन्न होते थे । क्रिया का रूपान्तर परस्मैपद और आत्मनेपद तथा वाच्य के हिसाब से होता था । सिद्धान्ततः क्रिया का फल बोलने वाले को मिलता हो तो आत्मनेपद और दूसरे को मिलता हो तो परस्मैपद का प्रयोग होता था । बाद में इस नियम में कई अपवाद खड़े हो गये । क्रिया का संबंध कर्ता से है या कर्म से या भाव से, इस हिसाब से वाच्य तीन थे—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य ।

क्रिया में काल-विचार अभी विकसित नहीं हुआ था । वर्तमान और भूतकाल के दो-दो रूप इस आधार पर थे कि क्रिया सम्पन्न हो गई या नहीं—अर्थात् पूर्ण और अपूर्ण क्रिया । क्रियाओं का रूपान्तर भाव या अर्थ के अनुसार होता था । यह भाषा विभक्तिप्रधान श्लिष्ट बहिर्मुखी योगात्मक थी । शब्द-निर्माण में उपसर्गों का प्रयोग था तो अवश्य, किन्तु कम था । प्रत्यय—कृत् और तद्धित—प्रचुर संख्या में थे । दो शब्दों से अधिक का समास नहीं होता था ।

१.२.२. नाम

याद रहे कि इस भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में समय-समय र नाना कल्पनाएँ की जाती रही हैं । नाम के बारे में भी मतभेद रहा है । पहले इसे आर्य-भाषा कहते रहे । लगता है कि जर्मनी में यहूदी विद्वानों को इस नाम से चिढ़ रही है । उन्होंने इसे बदल कर भारत-जर्मनीय नाम रखा, किन्तु इसमें अव्याप्ति दोष था । वह भाषा केवल भारत और जर्मनी की तो थी ही नहीं । बाद में 'भारत-यूरोपीय' या भारोपीय नाम पड़ा । इसका अर्थ यह लिया गया कि भारत से लेकर यूरोप के उस छोर तक इस परिवार की भाषाएँ पायी जाती हैं । तोखारी और हित्ती

की खोज के बाद से यह नाम भौगोलिक दृष्टि से सार्थक भी हो गया है, किन्तु न तो सारे भारत की भाषाएँ और न ही सारे यूरोप की भाषाएँ इस परिवार की हैं। यूरोप के विद्वानों को यह नाम अधिक मान्य है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसका नाम भारत-हित्ती सुझाया है। सन् १८९३ में एशिया माइनर की हित्ती भाषा प्रकाश में आयी जिसके बारे में बताया गया कि वह वैदिक की तरह प्राचीन भाषा थी। इसे भारत-यूरोपीय भाषाओं के समकक्ष माना गया और इस प्राचीनतम जननी भाषा का नाम भारत-हित्ती रखा गया। किन्तु यह नाम बहुमान्य नहीं हो पाया। इस नाम में यूरोप की भाषाओं का स्थान तिरोहित हो जाता है। ऊपर जो लक्षण उस आदि भाषा के बताये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि वैदिक में प्रायः वे सब घटित हैं। इस परिवार की भाषाओं में वैदिक सबसे प्राचीन भी है। ग्रीक का जो प्राचीनतम लिखित प्रमाण मिलता है, वह ८वीं शती ईस्वी पूर्व का है और लैटिन का छठी ईस्वी पूर्व का: जब कि ऋग्वेद की भाषा इनसे डेढ़-दो हज़ार वर्ष पुरानी है। अतः इनको परस्पर बहनें नहीं कहा जा सकता। वैदिक भाषा निश्चय ही इस परिवार की समस्त भाषाओं की जननी है। अतः इस भाषा-परिवार को 'आर्य' परिवार कहना ही समीचीन होगा। एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि यूरोप में न जाने कौन-कौन जातियाँ थीं—वे सब आर्य जातियाँ नहीं थीं। किन्तु, देखना तो यह है कि मूल में क्या यह भाषा आर्यों की नहीं थी? नाम तो वही दिया जायगा जो मूल भाषा का था, बाद में भले ही सैकड़ों विजित जातियों ने उसे अपना लिया। अंग्रेजी ऐंगल जाति की भाषा थी। आज वह नाना जातियों द्वारा बोली जाने पर भी इंगलिश ही कहलाती है। कुछ लोग जातीय नाम देने के पक्ष में ही नहीं हैं। किन्तु, कैल्टी, ट्यूटानी, बाल्तो-स्लेवोनी आदि अनेक उपपरिवारों के नाम तो जातियों के नाम पर चला रहे हैं, इस परिवार को 'आर्य-परिवार' कहने में उन्हीं लोगों को संकोच होता है।

बाइबल में आदम-हव्वा के तीन पुत्र बताये गये हैं जिनसे तीन प्रमुख जातियों की उत्पत्ति अनुमानित की गयी है—सैम से सामी (यहूदी-अरब आदि), हैम से हामी (मिस्र और मराको की प्राचीन जातियाँ) और जैफ से जैफेती जिसका अर्थ यही जाति-परिवार लिया जाता है। किन्तु, पौराणिक कल्पना के आधार पर वैज्ञानिक सत्य की स्थापना नहीं की जा सकती। 'जैफेती' नाम भी चल नहीं पाया। 'आर्य' नाम अत्यन्त उपयुक्त और सार्थक है।

१.२.३. वर्गीकरण

आर्य-परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण ध्वनियों के आधार पर करने की

चेष्टा की गई है। सबसे पहले १८७० ई० में अस्कोली नामक विद्वान् ने सुझाया था कि कुछ भाषाओं की कवर्गीय ध्वनियाँ अन्य भाषाओं में ऊष्म (स श ज़) होती हैं, जैसे तुलना कीजिए—

[क]	[श, स]
अंग्रेजी 'कोल्ड' (ठण्ढा)	फ़ारसी 'सरद'
ग्रीक डेका, लैटिन डेकेम (दस)	संस्कृत दश, अवेस्ता दस, आर्मीनी तस्म
हित्ती कित	सं० सुप्तः

फान व्रेडके ने लैटिन का 'केन्तुम्' और ईरानी का 'सतम्' (सौ) लेकर देखा—

क	स, श
लैटिन 'केन्तुम्'	भारतीय 'शतम्'
ग्रीक 'हेकतोन'	ईरानी 'सतम्'
फ्रेंच 'केन्त'	वाल्तिक 'ज़िम्तस्'
केल्टिक 'केत्'	स्लाविक (रूसी) 'स्तो'
तोखारी 'कन्ध'	लिथुआनी 'शितस्'।

इसी आधार पर उसने भारत-यूरोपीय (आर्य) भाषाओं के दो वर्ग किये—केन्तुम् और सतम् वर्ग। केन्तुम् वर्ग में ग्रीक, इटालिक, केल्टी, जर्मनीय, हित्ती और तोखारी उपपरिवार एवं सतम् वर्ग में भारत-ईरानी, आर्मीनी, बाल्ती-स्लेवोनी तथा अलबानी उपपरिवार सम्मिलित किये जाते हैं। इन दस उपपरिवारों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है। इनमें हित्ती और तुखारी भाषाएँ लुप्त हो गयी हैं। आर्मीनी और अलबानी का महत्त्व बहुत कम है। शेष उपपरिवारों में प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत-सी भाषाएँ हैं।

क, केन्तुम् वर्ग

ग्रीक—केन्तुम् वर्ग का यह प्राचीनतम उपपरिवार है। इसका दूसरा नाम हेलेनिक समूह भी है। यूरोप की अनेक भाषाओं की सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक शब्दावली ग्रीक और लैटिन के आधार पर बनी है। यूनान, साइप्रेस और क्रीट में जो भाषाएँ बोली जाती हैं, उनका विकास प्राचीन ग्रीक से ही हुआ है। इसका प्राचीनतम साहित्य ८वीं शती ई० पू० से मिलने लगता है। संस्कृत के विद्यार्थी ग्रीक भाषा को थोड़े से परिश्रम से जान सकते हैं। इन दोनों में आश्चर्यजनक समानता है। आधुनिक ग्रीक बोलने वालों की संख्या ७० लाख के लगभग है।

इटालिक—इसके अन्तर्गत प्राचीन काल में लैटिन, अम्ब्री और ओस्की आदि अनेक भाषाएँ थीं जिनमें लैटिन का वंश आगे चला है, शेष समाप्त हो गई हैं। ५०० ई० पू० से लैटिन साहित्य मिलने लगता है। लैटिन रोमन कैथॉलिक सम्प्रदाय की धर्मभाषा और रोम साम्राज्य की राजभाषा थी। लैटिन के शब्द यूरोप की भाषाओं में पाये जाते हैं। इसका प्राकृत रूप 'रोमांस' कहलाता है जो रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ एक विस्तृत भूखण्ड में छा गया था। उसी से कालान्तर में इटाली, रोमानीय, स्पेनी, पुर्तगाली और फ़्रेंच का विकास हुआ है। जिन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या पिछले प्रकरण में दी गयी है, उनमें इस उपपरिवार की भाषाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। वे यूरोप के बाहर अनेक देशों में बोली जाती हैं।

केल्टी—ईसा की प्रथम शती तक उत्तरी इटली, गाल (फ़्रांस) तथा स्पेन में केल्ट जातियाँ बसी थीं। इनकी गाल भाषा अब लुप्त हो गयी है, यद्यपि केल्टी की अन्य भाषाएँ ब्रिटेनी, मान द्वीप, वेल्स, स्काटलैंड और आयरलैंड में विद्यमान हैं। साहित्य के क्षेत्र में आयरिश और विशेषतया वेल्श अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मान द्वीप की भाषा मृतप्राय है।

जर्मनीय—जर्मनीय या ट्यूटानिक उपवर्ग के अन्तर्गत जर्मन, डच, डेनिश, फ़्लेमिश, नार्वेजी, स्वेडिश, आइसलैंड तथा अँग्रेज़ी भाषाएँ सम्मिलित हैं। प्राचीन जर्मनीय भाषा के नमूने तीसरी शती ई० से प्राप्त होते हैं। जर्मन भाषा ओजपूर्ण है, इसमें प्रचुर वैज्ञानिक साहित्य मिलता है। अँग्रेज़ी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने का गौरव दिया जाता है।

हित्ती—सन् ईस्वी पूर्व २००० से १५०० के बीच के कुछ लेख मिले हैं जिनके आधार पर हित्ती या खित्ती भाषा का विश्लेषण किया गया है। इस भाषा पर सामी परिवार का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई देता है जिसके कारण कुछ विद्वानों ने इसे आर्य-परिवार की भाषा नहीं माना; किन्तु अब यह सिद्ध है कि हित्ती आर्यभाषा ही थी जो आज से साढ़े तीन हज़ार साल पहले एशिया माइनर में बोली जाती थी। एक विद्वान् का मत है कि हित्ती आर्य-परिवार की भाषाओं में सबसे पुरानी थी। बाद में यह असीरिया और बाबल में भी छा गयी थी।

तुखारी—तुषार जाति का उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी मिलता है। इटालिक और केल्टी उपपरिवारों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है। यूराल-अल्ताई भाषाओं से सम्पृक्त होने के कारण उनका प्रभाव भी स्पष्टतः दिखायी देता है। तुखारी के जो नमूने उपलब्ध हुए हैं, वे ईस्वी प्रथम शती के पहले के

हैं। अनुमान किया जाता है कि ७वीं शताब्दी के आसपास यह भाषा भी लुप्त हो गयी थी।

ख. सतम् वर्ग

बाल्ती-स्लेवोनी—इस उपपरिवार की दो शाखाएँ हैं—(१) बाल्ती जिसके अन्तर्गत प्रुशी (जो १७वीं शताब्दी में लुप्त हो गयी), लिथुआनी (जो जंगली प्रदेश में होने के कारण पुराने आर्य रूपों को सुरक्षित किये हुए है), और लेटिश भाषाएँ हैं; और (२) स्लेवोनी जिसके अन्तर्गत बुलगारिया, रूस, सर्विया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और बोहेमिया की भाषाएँ सम्मिलित हैं। इन भाषाओं में प्राचीन साहित्य नहीं है। रूसी सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है। स्लेवोनी भाषाओं में पारस्परिक समानता बहुत अधिक है।

आर्मीनी—यूरोप और एशिया की आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी आर्मीनी है, जिसके अन्तर्गत फ्रीजी, अराराट और स्तंबुल आदि भाषाएँ हैं। बोलने वालों की संख्या २५ लाख के लगभग है। आर्मीनी पर ग्रीक, तुर्की, ईरानी और अरबी का प्रभाव बहुत अधिक रहा है। ग्यारहवीं शताब्दी से थोड़ा-बहुत साहित्य मिलता है। इससे पहले का कुछ धार्मिक साहित्य था अवश्य, किन्तु उसे ईसाई पादरियों ने नष्ट कर दिया। आर्मीनी में व्याकरणगत लिंगभेद नहीं है।

अल्बानी—इस पर तुर्की, फ़ारसी के अतिरिक्त लैटिन और ग्रीक का प्रभाव पड़ता रहा है। गेग (उत्तर में) और तोस्क (दक्षिण में) इसकी दो अन्य उपभाषाएँ हैं। १७वीं शती से पहले का कोई साहित्य नहीं मिलता। बोलने वालों की संख्या कुल १० लाख है।

भारत-ईरानी—इस उपपरिवार की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं—ईरानी, दरद और भारतीय आर्यभाषा। प्राचीनता, व्यापकता और ऐतिहासिक महत्ता की दृष्टि से यह उपपरिवार सर्वप्रमुख है। हिन्दी इसी उपकुल की भाषा है; इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से विचार किया जायगा।
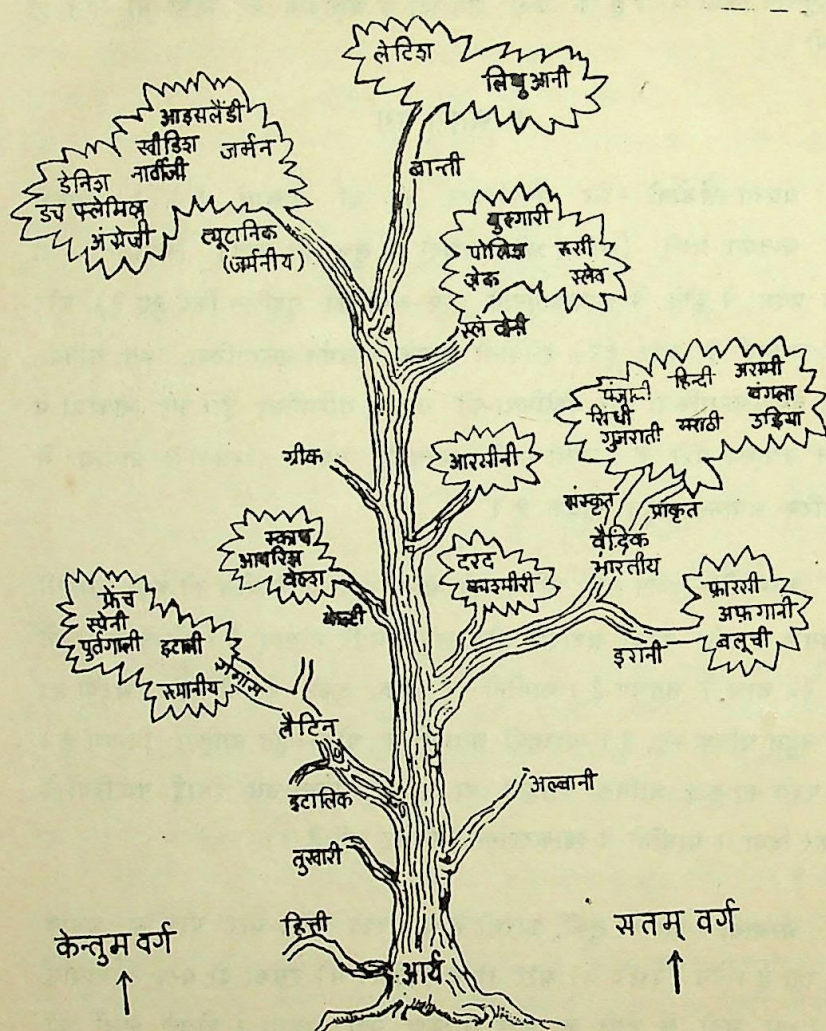
चित्र १

१.३. भारत-ईरानी उपपरिवार

भारतीय आर्यभाषा और ईरानी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इन दोनों को एक ही उपपरिवार में गिना गया है। पारसियों की प्राचीन पुस्तक अवेस्ता की भाषा और वैदिक आर्यों के ऋग्वेद की भाषा में इतना अधिक साम्य है कि एक की गाथाएँ दूसरी के मंत्रों में सहजतः रूपान्तरित की जा सकती है। उदाहरण—

अवेस्ता	वैदिक-संस्कृत	हिन्दी
१. नौ ते, जाइरे, मदम् अ्ये नी अमम, नी वरथृस्तम् ।	१ नी ते, हे हरे, मदं ब्रुये नी अमम्, नी वार्चस्नम् ।	१. मैं तुझसे, हे हरि, मद माँगता हू शक्ति (और) वर्चस् माँगता हू
२ इमम थ्वाम् ख्श्तम यानम् हओम् ।	२. इमं त्वां षष्ठम् यानं सोम ।	२. यह तेरे लिए छठा यान है, हे सोम !
३ आअत् अओत जरथुश्त्रो । नेमो हओमाइ ।	३ आत अवोक्त (अवोचत्) जरठोष्ट्रो । नमः सोमाय ।	३. (महात्मा) जरठोष्ट्र यों बोले । सोम देवता को नमस्कार हो !
४ हावनीम् आ रतूम आ हओमो उपाइत्	४. हविनम् (हविनम्) आ ऋतुम् आ सोमः उपैत	४. हवन की ऋतु में सोम पहुँचा
५ जरथुश्त्रम् आत्रम् पैरिन्यओज़दयन्तम् गाथास्च स्रावयन्तम् ।	५. जरठोष्ट्रम् अथर्वं परियजधातन्तम् गाथाश्च श्रावयन्तम् ।	५. जरठोष्ट्र के पास जो अग्नियज्ञ तैयार कर रहे थे और गाथाएँ सुना रहे थे ।
६. विस्प द्रुक्ष नशैति यथा हगोति एषाम वाचम्	६. विह्व दुरक्षो नश्यति यदा शृणोति एषां वाचम्	६ बुरी आत्मा का नाश हो जाता है, जब वह इस वाणी को सुनती है
७. अमाइच थ्वा वृथ्राग्राइच मादोय उपभ्रुये तनुये थ्रिमाइच यत् पेउरु बओख्श्नहे ।	७. अमाय च त्वा वृत्रघ्नाय च मह्यम् उपब्रुवे तन्वे त्रिमाय च यत् पुरुभोजसे ।	७. मैं तुझे शक्ति के लिए और शत्रुनाश के लिए अपने लिए बुलाता हूँ और उस रक्षा के लिए जो बहुतों के लिए है ।

अवेस्ता और संस्कृत की विभक्तियाँ एक-सी हैं। दोनों में तीन लिंग, तीन वचन और आठ कारक पाये जाते हैं। क्रिया आदि के रूप भी समान रीति से बनते हैं। ध्वनि-परिवर्तन के थोड़े से नियमों को समझ लिया जाय तो कुंजी मिल जाती है। संस्कृत [स] प्राचीन ईरानी में [ह] हो गया, जैसे सोम (होम), सप्त (हप्त), सेना (हेना), असुर (अहुर) या मास (माह) में। संस्कृत [ह] और [ज] प्राचीन ईरानी में [ज़] हो गये, जैसे हस्त (ज़स्त), हृदय (ज़रदय), होता (ज़ोता), बाहु (बाज़ु), जानु (ज़ानु), जातः (ज़ादः) में; संस्कृत (व) के स्थान पर [ब] और [त] के स्थान पर [थ] मिलता है, जैसे वशिष्ठ (बहिश्त), मन्त्र (मन्थ्र) या मित्र (मिथ्र, सूर्य) में। अन्य परिवर्तनों की जानकारी के लिए निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—

सं० एक (ईरानी यक), द्वौ (दो), पञ्च (पंज), षष् (शश्), अष्ट (हश्त), उष्ट्र (शुत्र), शक्त (सख़्त), पक्तः (पुख़्तः), खानि (कान), नीलोत्पल (नीलोफ़र), कृष्ट (काश्त), क्षपा (शब, पश्तो श्पा), क्षामा (शाम), गोधूम (गन्दुम), ताप (ताब), स्वप (ख़्वाब), स्वतः (ख़ुद), श्वसुर (ख़ुसर), अन्तर (अन्दर), द्वार (दर), अंकुर (अंगूर)।

ईरानी में टवर्ग ध्वनियाँ नहीं हैं। स्वरों की, विशेषतः संयुक्त स्वरों की, संख्या कुछ अधिक है। महाप्राण ध्वनियाँ प्राचीन ईरानी में तो दो-तीन हैं, किंतु आधुनिक ईरानी में बिलकुल नहीं हैं।

देव, नर, चर्म, तनु, दानव, अर्यमा नव, वायु, मम, मे, दातरि, इत्यादि बहुत से शब्द दोनों में सामान्य हैं।

इन समानताओं को देखकर जाना जा सकता है कि उस युग में भारतीय आर्यों और ईरानी आर्यों का घनिष्ठ सम्पर्क और सहज सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विनिमय रहा है। यह भी ध्यान रहे कि अवेस्ता में ज़रथुष्ट्र ऋषि की वाणी संगृहीत है और ज़रथुष्ट्र ई० पू० ८वीं-६वीं शताब्दी में हुए हैं। वैदिक भाषा इस से अधिक प्राचीन है। ध्वनि-विकास के क्रम से भी यह मत दृढ़ होता है कि प्राचीन ईरानी का विकास वैदिक भाषा से हुआ है।

१.३ क. ईरानी—पुरानी ईरानी की तीन स्थितियाँ हैं—पारसियों के वेद (अवेस्ता) की भाषा (इस भाषा को भी अवेस्ता कहा जाता है); अवेस्ता पर की गई टीका (ज़ेन्द) की भाषा; और हख़मानी राजाओं के शिलालेखों की भाषा। हख़मानी सम्राट् दारा (५२२-४८६ ई० पू०) का राज्य पंजाब तक फैला हुआ

था। उस युग में पुनः भारतीय और ईरानी भाषाओं का सम्पर्क हुआ। प्राचीन ईरानी का युग ४०० ई० पू० तक माना जाता है। इसके बाद लगभग २०० वर्ष तक ग्रीक भाषा ईरान की साहित्यिक और राजभाषा रही। इसके बाद के ३०० वर्षों का ईरानी का इतिहास अन्धकारमय है। पाँच सौ वर्ष तक उपेक्षित रहने के बाद यह भाषा सासानी बादशाहों के राज्य-काल (२२४-६५१ ई०) में पुनः शासन और साहित्य का माध्यम बनी। इस मध्यकालीन ईरानी का मुख्य रूप पहलवी है। पश्चिमी ईरान में हुज़्वारेश और पूर्वी ईरान में पाज़ंद भाषा का प्रचार था। दोनों का साहित्य उपलब्ध है। हुज़्वारेश सासानियों की भाषा थी। इस पर अरबी भाषा और लिपि का गहरा प्रभाव रहा। पाज़ंद पारसियों की भाषा थी जिसे प्राचीन ईरान का उत्तराधिकार प्राप्त था। इनके अतिरिक्त शक, हरदी, मीदी और सोग़दी आदि बोलियों के नाम मिलते हैं। इन चार को ईरानी की प्राकृतें कहा जा सकता है। इस्लाम के प्रचार के साथ ईरानी में एक नया मोड़ आया। फ़िरदौसी (९४०-१०२० ई०) के समय तक ईरानी अरबी के प्रभाव से बचने के लिए संघर्ष करती रही, किन्तु अन्त में उसे अरबी ही नहीं तुर्की के प्रभावों को भी ग्रहण करना पड़ा। यहीं से ईरानी के आधुनिक काल का आरम्भ होता है। इस युग में इस्लामी ईरानी (फ़ारसी) और भारतीय भाषाओं का फिर सम्पर्क हुआ। फ़ारसी राजभाषा बनी और ८०० वर्ष तक भारत की आधुनिक भाषाओं को प्रभावित करती रही। बीसवीं शती में फ़ारसी का नाम फिर से ईरानी रखा गया है और अनार्य प्रभाव को हटाने की चेष्टाएँ भी की गई हैं। आधुनिक ईरानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अब अयोगात्मक भाषा है।

केन्द्रीय ईरानी के अतिरिक्त गालचा, पामीरी, कुर्दी और ओसेती (काकेशस पर्वत के निकट), अफ़ग़ानी या पश्तो, बिलोची और देवारी ईरानी की प्रमुख प्रादेशिक बोलियाँ हैं।

१ ३ ख. दरद—दरद का अर्थ है 'पर्वत'। पंजाब के पश्चिमोत्तर में और पामीर के पूर्व-दक्षिण में जो पर्वतीय प्रदेश है, वह दरद भाषाओं का क्षेत्र माना जाता है। भारत में इसे पिशाच देश भी कहा जाता है और यहाँ की भाषा को पिशाची या भूत भाषा। दरद भाषाओं के तीन वर्ग बताये गये हैं—पश्चिम में काफ़िरी जिसका कोई साहित्य नहीं है। केन्द्र में खोवारी जिसका एक रूप चित्राली अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है; उत्तर पूर्व में शीना, कश्मीरी और कोहिस्तानी। शीना प्राचीन दरद की उत्तराधिकारिणी भाषा है। कोहिस्तानी वास्तव में अनेक छोटी-छोटी बोलियों के समूह का एक कल्पित नाम है। अब इस पर पश्तो का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। कश्मीरी का क्षेत्र इन सबसे बड़ा है। इस भाषा पर

संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव है कि बहुत से विद्वान् इसकी गिनती भी भारत की आर्यभाषाओं में करते रहे हैं। अब यह धारणा बदल गयी है। कश्मीरी में १४वीं शती से साहित्य मिलता है। इस्लाम के प्रचार के बाद से इस पर अरबी-फ़ारसी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन लिपि शारदा का प्रचलन कम हो गया है, और फ़ारसी लिपि सर्वत्र प्रयुक्त होती है। कश्मीरी में स्वरों के भेद-उपभेद बहुत सूक्ष्म हैं। सघोष महाप्राण ध्वनियों का अभाव है। पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी में अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति का कारण कश्मीरी का प्रभाव बताया जाता है।

१.३. ग **भारतीय आर्यभाषा**—भारत-ईरानी उपकुल की ही नहीं, बल्कि सारे भारत-यूरोपीय परिवार की सबसे गौरवशाली, दीर्घ परम्परायुक्त, विशाल और समृद्ध शाखा भारतीय आर्यभाषा है। धर्म, समाज, संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से इस शाखा की भाषाएँ—वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी आदि—संसार भर की भाषाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

इस शाखा का विकास अगले प्रकरण में दिखाया जायगा।

संक्षेप

संसार में लगभग २७४६ भाषाएँ हैं, जिन्हें बीसियों परिवारों में वर्गीकृत किया गया है, किन्तु उन सब का भाषावैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हो पाया है। केवल एशिया और यूरोप की भाषाओं का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन करके उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इन भाषाओं के सात प्रमुख परिवारों में आर्य-परिवार (जिसे भारोपीय या भारत-यूरोपीय परिवार भी कहा गया है) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और बड़ा है। इनके अंतर्गत भारत-ईरानी उपपरिवार का प्राचीनतम साहित्य है। ग्रीक और लैटिन का किसी युग में अपना विशिष्ट स्थान रहा है। वर्तमान समय में यूरोप की भाषाओं में जर्मनीय उपपरिवार की अँग्रेजी और जर्मन, रोमांस भाषाओं में स्पेनी और फ्रेंच, एवं स्लेवोनी शाखा की रूसी भाषा जनसंख्या, संस्कृति, साहित्य और राजनीति की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। एशिया की भाषाओं में ईरानी और संस्कृत का उच्च स्थान है।

२. भारतीय आर्यभाषा

विकास-क्रम की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है—

१. प्राचीन (वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत) २४०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक, यद्यपि संस्कृत का स्वर्ण-युग तो बाद में आता है;

२. मध्यकालीन (पालि-प्राकृत) ५०० ई० पू० (यद्यपि इससे पहले भी प्राकृतें थीं) से लेकर ११०० ई० तक;

३. आधुनिक (हिन्दी, और हिन्दीतर बँगला, गुजराती, मराठी, सिंधी, पंजाबी, आदि) ।

२.१. भूमिका

हिन्दी का इतिहास वस्तुत: वैदिक काल से आरम्भ होता है । उससे पहले इस आर्यभाषा का स्वरूप क्या था, यह सब कल्पना का विषय बन गया है । कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता । आर्य चाहे कहीं बाहर से आये हों, अथवा यहीं सप्त-सिन्धु प्रदेश के मूल निवासी हों, यह निश्चित और निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान हिन्दी प्रदेश में आने से पहले उनकी भाषा वही थी जिसका 'साहित्यिक' रूप ऋग्वेद में प्राप्त होता है । एक तरह से यह कहना ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही प्राचीनतम हिन्दी है । इस भाषा के इतिहास का यह दुर्भाग्य है कि युग-युग में इसका नाम परिवर्तित होता रहा है, कभी वैदिक, कभी संस्कृत, कभी प्राकृत, कभी अपभ्रंश और अब हिन्दी । तमिल, रूसी, चीनी, जर्मन, सभी परिवर्तित हो गयी हैं । लोगों ने उनके प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक रूपभेद तो बताये, किन्तु उनका नाम नहीं बदला । भारत में प्रत्येक युग की भाषा का नया नाम रखा जाता रहा है ।

एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि हिन्दी तो प्रादेशिक बोली मात्र है—एक समय में ब्रजभाषा थी, आजकल खड़ीबोली है,—और वैदिक, संस्कृत, पालि या प्राकृत साहित्यिक भाषायें हैं । तब बोली के क्रमिक विकास को समझने के लिए साहित्यिक भाषाओं के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? साहित्यिक भाषा तो देव-वाणी बनकर सुशिक्षित वर्ग में सीमित हो जाया करती है, जन-जन से उसका सम्पर्क नहीं रह जाता, तब बोली के विकास में उसका योग ही क्या हो सकता है ? इसमें

कोई सन्देह नहीं कि आर्य कई जातियों और 'जनों' में बटे हुए थे और प्रत्येक 'जनपद' की अपनी बोली थी। गांधार से लेकर कोसी तक के विशाल आर्यावर्त में एक ही बोली नहीं हो सकती थी। इसके प्रमाण वेद, बौद्ध त्रिपिटक, अशोक की धर्मलिपियों, संस्कृत नाटकों की प्राकृतों, प्रादेशिक प्राकृतों और अपभ्रंशों से मिल जाते हैं। किन्तु, साहित्यिक भाषा भी तो कोई-न-कोई बोली ही होती है, और जब वह बोली सामान्य एवं साहित्यिक भाषा की पदवी को प्राप्त होती है तो उसे आसपास की अनेक बोलियों से समझौता करना पड़ता है : उनके शब्द, रूप और ध्वनिग्राम तक अपनाने पड़ते हैं। भारत में किसी युग की भाषा की प्रतिमा की मिट्टी भले ही लोक से ली जाती रही हो, किन्तु उसकी प्राण-प्रतिष्ठा पूर्वकालीन आर्यों की साहित्यिक भाषा से होती रही है, बल्कि लोकभाषा भी उसकी साहित्यिक भाषा से अनुप्राणित होती आयी है। हमारा तात्पर्य यह है कि साहित्यिक भाषा बोलियों के योग से विकसित होती है और विकासमान होकर बोलियों को प्रभावित भी करती है। अतः हिन्दी के लिए संस्कृत आदि का महत्त्व मूलभूत बोली या जनभाषा के रूप में भी है और साहित्यिक भाषा या देवभाषा के रूप में भी। युग-युग की बोलियों का हमारे पास कोई प्रमाण भी तो नहीं है। कोई लिखित रूप ही नहीं है, इसलिए हमें तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं को ही अपना आधार बनाकर आधुनिक आर्यभाषाओं के इतिहास को समझना है। जो काल-कवलित हो गया, उसको पुनरुज्जीवित करना सम्भव नहीं जान पड़ता।

२.२. अनार्य जातियों का योगदान

उपर्युक्त कथन से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी अथवा प्राकृतों में जो कुछ है, वह आर्यों ही की भाषाओं से चला आ रहा है, अथवा आर्यों की सारी सम्पत्ति प्राकृतों और हिन्दी को प्राप्त हो गयी है। हम यह कह देना चाहते हैं कि युग-युग की भाषा में, यहाँ तक कि वैदिक और संस्कृत में भी, बहुत-सा अनार्य तत्त्व सम्मिलित है। आर्यों के आने से पहले इस देश में, अथवा यदि आर्य सप्तसिन्धु देश के निवासी थे तो भी भारत के अन्य प्रदेशों में, अनेक अनार्य जातियाँ रहती थीं जिनमें चार का प्रसार बहुत व्यापक था—अर्थात् निग्रोटु, किरात, ऑस्ट्रिक (आग्नेय) या निषाद, और द्रविड़ या दस्यु। निग्रोटु लोग अफ़्रीका से आये अवश्य, किन्तु लगता है कि वे समुद्री तटों के निकटवर्ती प्रदेश में ही छा सके थे और वहीं से वे दक्षिण-पूर्वी द्वीपों की ओर खिसक गये थे। मध्यदेश के लोगों से उनका सम्पर्क नहीं हो पाया था। इसका प्रमुख कारण यही जान पड़ता है कि आग्नेय जातियों और द्रविड़ों की उच्चतर संस्कृति के सामने उनकी दाल नहीं गली। उनकी वन्य संस्कृति की

समाई उन्नत भारत मे नहीं हो पायी। वैदिक साहित्य में तो इनका नाम तक नहीं मिलता। हो सकता है कि तटवर्ती जातियों में उनके किन्हीं वंशों के चिह्न हों और वहाँ की भाषाओं में कतिपय शब्द निग्रोटु बोलियों के ग्रहण कर लिये गये हों और कुछ-एक शब्द छन-छनकर मध्यदेश तक भी पहुँचे हों, किन्तु इसकी खोज करना दुस्साध्य, लगभग असंभव, कार्य है। किरात पहाड़ी लोग थे जिनके वंशज आज भी हिमालयी प्रदेश में पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए हैं। इन लोगों से आर्यों का सम्पर्क हुआ था और ये लोग सहज ही मित्र बन गये थे। ऐसी स्थिति में संस्कृतियों और भाषाओं का आदान-प्रदान भी अवश्य हुआ। यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध और किन्नर आदि पहाड़ी जातियों की संस्कृति परवर्ती आर्य साहित्य में भरपूर मिलती है। पौराणिक साहित्य में तो इनकी विशिष्ट महत्ता जान पड़ती है—इन्हीं के देवताओं, इन्हीं की पूजाविधि, इन्हीं के विश्वासों और अन्धविश्वासों को सर्वप्रधान मान्यता दी गयी है। इनका प्रदेश स्वर्ग और इन्द्रलोक कहलाने लगा। न जाने कितनी मणियों, पर्वतीय फलों-फूलों और अन्य उपजों के नाम इन जातियों से ग्रहण किये गये हैं। आर्यभाषा में अनार्य तत्त्व की खोज करने वालों के लिए यह क्षेत्र अछूता पड़ा है। आग्नेय या निषाद जातियाँ पंजाब से पूर्व में बसी थीं। ये लोग कृषिकर्मी थे और इनकी संस्कृति ग्रामीण थी। इन्होंने नदियों की घाटियों में अपनी छोटी-छोटी बस्तियाँ बनायीं। जौ, ज्वार, चावल, नारियल, केला, ताम्बूल, गुवाक, और संभवतः हरिद्रा, शृंगवेर (अदरख), बैंगन, लौकी तथा काशीफल इन्हीं की कृषिप्रधान संस्कृति के फल हैं। आर्यों ने इन्हीं से कृषिकर्म सीखा या कम-से-कम उस कर्म में प्रगति की, क्योंकि अधिकांश आर्य जातियाँ मध्य एशिया के पहाड़ी प्रदेशों में रहती आ रही थीं। निषाद लोग हाथी पालने और सिधाने में निपुण थे। भारतीय इतिहास में आर्य 'अश्व' की अपेक्षा आग्नेय 'हाथी' का जो इतना अधिक महत्त्व रहा है, उसका कारण स्पष्ट है। नावें चलाना और मछली पकड़ना भी इन निषाद जातियों का प्रमुख व्यवसाय था। इन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति और भाषा के विकास में इनका विशेष योगदान रहा है। आगे हम यथास्थान इनसे गृहीत शब्दावली पर प्रकाश डालेंगे। किन्तु, जब तक इनकी मूल भाषा का पुनर्निर्माण नहीं किया जाता,तब तक विश्वस्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि आर्यभाषा की ध्वनि-पद्धति और उसके व्याकरण पर क्या प्रभाव पड़ा है। वर्तमान समय में भी राजस्थान, मध्य-प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, असम और उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाक़ों में मुंडा (मुंडारी भी), संथाल, कोल, हो, शबर, खासी, मानख्मेर, कुर्कू, भूमिज आदि अनेक आदिम जातियाँ फैली हुई हैं जिनकी बोलियों का तत्तद्देश की बोली से सीधा सम्पर्क है। इनके अध्ययन से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हो सकते हैं।

द्रविड़ कुल की जातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे अधिक उन्नत रही हैं। मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि की खुदाइयों से, और बिलोचिस्तान में प्राप्त ब्राहुई नाम की द्रविड़ भाषा के अवशेषों से, अनुमान लगाया गया है (और प्रायः इतिहासकारों का यह निश्चित मत है) कि सिन्धु, सौवीर आदि प्रदेशों में द्रविड़ जातियों का प्राबल्य था, जिनसे आर्यों को कठिन संघर्ष करना पड़ा था। पंजाब से बाहर अपना प्रसार करते हुए पहले तो आर्यों ने इस संघर्ष से बचने की चेष्टा की और इसीलिए राजस्थान, सिन्ध अथवा गुजरात की ओर रुख करने के बजाय गंगा-यमुना के दुआबों को जीता। यहाँ की निषाद जातियाँ उतनी संगठित और हठीली नहीं थीं जितनी उत्तरी प्रदेशों में द्रविड़ जातियाँ थीं। भारत के पश्चिम और दक्षिण में द्रविड़, दमिड़ या तमिल जातियाँ थीं जिन्हें हमारे इतिहासकारों ने दस्यु, असुर, राक्षस और दानव कहा और जिन्हें आर्य साहित्य में बड़ी घृणा और अवज्ञा से स्मरण किया जाता रहा। उत्तरी भारत को विजित कर लेने के बाद आर्यों ने द्रविड़ों से लोहा लिया और इन जातियों को उत्तर-पश्चिमी भारत से बाहर ढकेल दिया। रामायण-काल तक आर्य उनसे बराबर लड़ते रहे। दक्षिण में आज भी इनकी संस्कृति और भाषा का अस्तित्व बना है। मद्रास, केरल, मैसूर और आन्ध्र में क्रमशः तमिल, मलयालम, कन्नड और तेलगू बड़ी-बड़ी और साहित्यिक भाषाएँ हैं जिनके बोलने वालों की संख्या आठ करोड़ से अधिक है। इन सब का अपना-अपना साहित्य है। तमिल भाषा का व्याकरण, तोलकाप्पियम्, चौथी शती ई० पू० का बताया जाता है। व्याकरण और साहित्यिक स्रोतों से द्रविड़ भाषाओं और आर्यभाषाओं का प्रामाणिक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। कठिनाई यह है कि द्रविड़ में संस्कृत तत्त्व इतना अधिक है कि किसी शब्द अथवा रूप के बारे में प्रमाणपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह संस्कृत का है या द्रविड़ का, जैसे पट्ट, चोल, वेतस्, शंख, कुन्तल, वेणी, तुण्ड, दण्ड, पिण्ड, कुठार, कोट, मुकुट, मञ्च इत्यादि। कहने वाले कहते हैं कि जिन शब्दों के समानधर्मी रूप भारत-यूरोपीय भाषाओं में नहीं हैं, अथवा जिन्हें धातुओं से सिद्ध नहीं किया जा सकता, वे द्रविड़ से व्युत्पन्न हो सकते हैं। मोटे तौर पर कहा गया है कि भारतीय आर्यभाषा में टवर्गीय ध्वनियाँ, अनुकरणात्मक शब्दावली, प्रत्ययों और समासों की योजना, संयुक्त क्रिया, भविष्यत् काल, दो वचन, दो लिंग (तीन के बजाय), विभक्ति के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग, कर्मवाच्य में अतिरिक्त क्रिया, वाक्य-योजना के कुछ तत्त्व द्रविड़ से आये हैं। आगे हम कुछ अधिक विस्तार से इसकी चर्चा करेंगे।

इन जातियों के अतिरिक्त न जाने कितनी और छोटी-बड़ी जनजातियाँ थीं जो या तो मूलतः नष्ट हो गयीं, या आर्यों अथवा दूसरी बड़ी अनार्य जातियों के घेरे

में पड़कर विलीन हो गयीं। भला उनकी भाषाओं के तत्त्व कभी काल के मुख से बाहर लाये जा सकेंगे ? यह भी याद रहे कि कालान्तर में हूण, मंगोल, चीनी, तुर्क, अरब, शान (बर्मा से) आदि अनेक जातियाँ यहाँ आयीं और घुलमिल गयीं। इन सब ने भारतीय भाषाओं के निर्माण में अपना-अपना योग दिया था।

२.३. प्राचीन आर्यभाषा

उक्त विषयान्तर के बाद हम प्राचीन आर्यभाषा के विकास की स्थितियों पर ठीक-ठीक विचार कर सकेंगे।

ऋग्वेद पंजाब के साहित्यकारों की कृतियों का संग्रह है। दसवें मण्डल में कुछ बाद की भाषा है। तब तक आर्य कुरु-पांचाल प्रदेश की ओर बढ़ गये थे और मध्यप्रदेश की अनार्य जातियों का प्रभाव पड़ने लग गया था। सामवेद और यजुर्वेद की भाषा में बढ़ते हुए अनार्य तत्त्व का समीक्षण किया जा सकता है। तैत्तिरीय और मंत्रायणी संहिताओं को पढ़कर कौन कहेगा कि दोनों की भाषा समकालीन है ? अथर्ववेद की संस्कृति और भाषा में यह तत्त्व और भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों की भाषा पूरे तौर पर तत्कालीन मध्यदेश की आर्यभाषा का प्रतिनिधित्व करती है। ऋग्वेदोत्तर साहित्य से वैदिक भाषा की दूसरी स्थिति का परिचय मिलता है। इसका काल-देश भाषाशास्त्रीय साक्ष्य के आधार पर १००० और ८०० ई० पू० का उत्तर-पश्चिमी मध्यदेश निश्चित किया जा सकता है। इस समय तक आर्य सत्ता और भाषा पूर्व में गंगा-यमुना के दुआबे तक व्याप्त हो गयी थी। इसके बाद आर्यों का प्रसार दक्षिण और पूर्व दोनों दिशाओं में होता है। पूर्व और दक्षिण में रहते हुए भी शिष्ट और ब्राह्मण समाज अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपनी भाषा के लिए पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त करता था, किन्तु वह अनार्य प्रभावों से भी अपने को बचा नहीं पा रहा था। कौशीतकि ब्राह्मण में आता है कि पौर्वात्य लोग उदीच्यों के पास भाषा सीखने जाते थे; जो लोग उत्तर-पश्चिम से भाषा सीख कर लौटते थे, उनसे उसे सुनने की लोग इच्छा करते थे। पूर्व में व्रात्यों की अपनी भाषा थी, किन्तु वे लोग पश्चिम की आर्यभाषा बोलना गर्व की बात मानते थे—अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति। उनकी अपनी कठिनाइयाँ थीं—आर्यों के संयुक्त वर्ण, ळ, ऋ, ष, ण, और कुछ अन्य ध्वनियाँ उन्हें क्लिष्ट जान पड़ती थीं। इसके अतिरिक्त अटनशील आर्य, जो पूर्व और दक्षिण को जाते थे, वहाँ के लोगों की ध्वनियों का अनुकरण कर अपनी बात को सुबोध बनाने की चेष्टा करते थे। तात्पर्य यह कि पूर्व और पश्चिम के सान्निध्य से प्राचीन आर्यभाषा में परिवर्तन हो रहे थे और भाषा में तरह-तरह के सम्मिश्रणों का समावेश हो रहा

था। स्थिति कुछ ऐसी ही थी, जैसी आज खड़ीबोली हिन्दी में अनेक पूर्वी प्रयोगों के आ जाने से हो रही है और हिन्दी की व्यापकता और ग्राह्यता के नाते माँग यहाँ तक बढ़ गई है कि 'ने' का भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ प्रयोग क्यों न हटा दिया जाय, अथवा क्रिया में लिंगभेद करने की क्या आवश्यकता है ? उदीच्यों की आर्य भाषा जब प्राच्यों में पहुँची तो उसमें अनेक परिवर्तन होना स्वाभाविक और आवश्यक हो गया।

पूर्वी व्रात्यों की भाषा पर उदीच्यों के व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृत का उद्गम हुआ एवं उदीच्यों की भाषा पर प्राच्यों के प्रभाव की परिणति पालि आदि प्राकृतों में हुई, अर्थात् संस्कृत ने वैदिक परम्परा को अपनाते हुए थोड़ा-बहुत समझौता व्रात्यों की सुविधा के लिए प्राच्य भाषा से किया, और पालि आदि प्राकृतों ने जनभाषा के अनुकूल आर्यभाषा को ढाला, किन्तु व्रात्य तत्त्वों की अधिक चिन्ता की। इस प्रकार आर्यभाषा का विकास भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में दो समानान्तर कोटियों में हुआ—शिक्षित शिष्ट साहित्यिक ब्राह्मण समाज में उच्च भाषा, जिसके संरक्षक पाणिनि और अन्य आचार्य माने गये हैं; और जनसाधारण में व्याप्त ग्राम्य भाषा, जिसे बाद में गौतम बुद्ध और महावीर जैन ने प्रचार के लिए अपना माध्यम स्वीकार किया।

पाणिनि-काल तक वैदिक साहित्यिक भाषा थी, किन्तु जैसा कि ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा से विदित होता है, वेदभाषा देवभाषा हो गयी थी और कुरु-पांचाल की जनभाषा साहित्यिक स्तर की ओर उठ रही थी। आरम्भ में इसका रूप अस्थिर था, इसमें अनेक जनपदीय प्रयोग चल रहे थे और एक प्रकार की ऐसी ही अराजकता फैली थी, जैसी आज हिन्दी में व्याप्त है। पाणिनि ने विषमता में एकता और विविधता में समरूपता ला कर उस भाषा को स्थिर और संस्कृत किया। पाणिनि ने वैदिक को देववाणी और इस को 'भाषा' कहा है। इस से स्पष्ट होता है कि उस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। किन्तु, भाषा तो 'बहता नीर' है, स्थिरीकृत होकर वह 'कूपजल' हो गयी। और यह 'कूपजल' धीरे-धीरे अधिक निर्मल, स्वादु और गहरा होता गया। इसके परम विकास की अवस्था तब जान पड़ी जब यह बोलचाल की भाषा नहीं रह गयी। बौद्ध साहित्य और अशोक के शिलालेखों से प्रमाणित है कि तब तक कई बोलियाँ सिर उठा रही थीं। विद्वानों ने संस्कृत-काल ५वीं शती ईस्वी पूर्व तक माना है, किन्तु संस्कृत की वास्तविक उन्नति मौर्य-काल के अन्त से प्रारम्भ करके ९वीं-१०वीं शती तक बराबर होती रही है। तब वह संस्कृत शिक्षा और शासन का माध्यम बनी। जितना उपयोगी, धार्मिक, दार्शनिक, लौकिक एवं ललित साहित्य संस्कृत में तब लिखा गया, उतना कई शताब्दियों आगे-पीछे संसार की किसी भाषा

में नहीं लिखा गया। संस्कृत सारे देश की समन्वय-शक्ति बनकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सर्वत्र छा गयी। दक्षिण में द्रविड़ प्रदेश पर भी इस का प्रभाव स्वीकृत था, बल्कि संस्कृत के बहुत बड़े-बड़े आचार्य—शंकर, सायण, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि—दक्षिण ही में हुए। जिन बौद्धों और जैनों ने संस्कृत की विचारधारा से विद्रोह करते हुए जनभाषाओं को प्रश्रय दिया, उन्हें आगे चलकर संस्कृत को अपनाना पड़ा। एक बहुत बड़े बौद्ध साहित्यकार अश्वघोष ने प्राकृत का व्यवहार दुष्टों और गणिकाओं के मुख से कराया है और संस्कृत का भद्र, शिष्ट एवं उच्च वर्ग से। संस्कृत की यह स्थिति राजपूत-काल तक के साहित्य और समाज में पायी जाती है। धर्म और राज्य-शासन में संस्कृत की सत्ता युग-युग तक बनी रही है। ईस्वी सन् की पहली १०-१२ शताब्दियों के राज्यादेशों और शिलालेखों में बहुत कम ऐसे होंगे जो संस्कृत में नहीं हैं। परम्परागत राज्यों, जैसे राजस्थान या रीवाँ, में तो मुग़ल-काल में भी शासन-कार्यों के लिए संस्कृत का प्रयोग होता रहा है, भले ही वह संस्कृत शुद्ध और समर्थ नहीं रह गई थी। इसी प्रकार धर्मकार्यों में भी संस्कृत को मान्यता प्राप्त रही है, और इसके बिना कोई संस्कार, कोई उत्सव, पर्व, व्रत या त्यौहार ठीक रीति से सम्पन्न नहीं माना गया है।

संसार की भाषाओं में कोई भी भाषा इतनी पूर्ण और उन्नत नहीं है जितनी कि संस्कृत भाषा।—(जर्मन विद्वान् श्लेगल)

अतः, पालि-प्राकृत और आधुनिक भाषाओं को यदि बार-बार संस्कृत का आश्रय लेना पड़ा है, विशेषतः ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, तो इस में आश्चर्य की बात ही क्या है?

२.३.१. प्राचीन भा० आ० भा० के लक्षण

मूल भारत-यूरोपीय (आर्यभाषा) की तुलना में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में स्वरों की संख्या कम हो गयी। समान स्वरों में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ और सन्ध्यक्षरों में ए ऐ ओ औ पाये जाते हैं। विसर्ग, चवर्ग, टवर्ग, श और ष आदि कुछ नयी ध्वनियाँ आ गयीं।

हिन्दी के विद्यार्थी को जिस वर्णमाला से परिचित कराया जाता है, वह वास्तव में प्राचीन आर्यभाषा की है, हिन्दी की नहीं। संस्कृत में ऐ-औ का अइ-अउ उच्चारण होता है, वैदिक में आइ-आउ था। उत्क्षिप्त-प्रतिवेष्ठित ळ और ळ्ह वैदिक भाषा की विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जो किन्हीं जनभाषाओं में आज तक चल रही हैं, किन्तु संस्कृत में नहीं रहीं। वास्तव में ऋ ॠ लृ लॄ भी वैदिक ध्वनियाँ हैं। वैदिक में अघोष ख़ (ᳵकं) और फ़ (ᳶप) क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ध्वनियाँ कहलाती थीं, संस्कृत में लुप्त हो गयीं। वैदिक में गीतात्मक स्वराघात और

बलात्मक स्वराघात दोनों थे, किन्तु संस्कृत में केवल बलाघात रह गया। सुराघात भोजपुरी आदि बोलियों में शेष है। सन्धि और समास वैदिक में तो प्रायः दो शब्दा के होते थे और वे भी इच्छाधीन थे, परन्तु संस्कृत में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि १०-१०, १५-१५ और इससे भी अधिक पंक्तियों का एक सन्धि-समास-युक्त पद बनने लगा।

प्राचीन आर्यभाषा में संज्ञा और विशेषण के तीन लिंग, तीन वचन, आठ कारक और लिंगभेद के साथ शब्द के अन्त्य अक्षर के अनुसार रूप भेद होते थे, एवं उनमें भी नाना अपवाद और अनियम थे। वैदिक में रूपों की विविधता अधिक थी (छंदसि बहुलम्), जैसे द्विवचन में 'द्वा सुपर्णा' भी और 'द्वौ सुपर्णौ' भी; कर्ता बहुवचन में 'देवाः' और 'देवासः' दोनों चलते थे। करण एकवचन में 'देव्या' के अतिरिक्त 'देवी' भी था और करण बहुवचन में 'देनैः' के अतिरिक्त 'देवेभिः' भी। अधिकरण एकवचन में 'मधौ' के साथ 'मधवि', 'तन्वि' के साथ 'तनू' वैदिक ही में मिलते हैं। चर्मन्, धन्वन्, व्योमन् आदि मूल शब्द अधिकरण एकवचन में भी प्रयुक्त होते थे। नपुंसक लिंग के रूप कर्ता-कर्म में भी पुल्लिग की तरह विकल्प से हो जाते थे—विश्वानि दुरितानि, विश्वानि अदभुता, विश्वा अद्भुता सब ठीक माने जाते थे। धौती, मती आदि ऐसे शब्द भी थे जा बिना कारक-चिह्न के किसी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हो सकते थे। संस्कृत में नियमों के द्वारा व्याकरणगत एकरूपता स्थापित की गयी। अपवाद तथा भेद कम हो गये।

प्राचीन आर्यभाषा में सर्वनामों के रूप अधिक जटिल थे। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में लिंगभेद नहीं था, किन्तु अन्य पुरुष से सम्बद्ध संकेतवाची, प्रश्नवाची, सम्बन्धवाची सभी सर्वनामों में लिंगभेद था। वैदिक और संस्कृत में अग्रलिखित अन्तर उल्लेखनीय हैं—

		वैदिक	संस्कृत
उत्तम पुरुष	द्विवचन	वाम्	आवाम्
उत्तम पुरुष कर्म	एकव०	मा	माम्
" " सम्प्रदान	एकव०	मह्य	मह्यम्
उत्तम पुरुष सम्बन्ध		मामक	मामक
		अस्माक	अस्माकम्
उत्तम पुरुष अधिकरण बहुव०		अस्मे	अस्मासु
मध्यम पुरुष द्विवचन कर्त्ता-कर्म		युवम्	युवाम्
" " "	करण	युवभ्यम्	युवाभ्याम्
" " "	सम्बन्ध	युवोः	युवयोः
" " एकव० करण		त्वा	त्वया

मध्यम पुरुष	अपादान एकव०	युवत्	युष्मत्
,, ,,	सम्बन्ध	युष्माक	युष्माकम्
अन्य पु०	अधि० एकव०	सस्मिन्, तस्मिन्	तस्मिन्
,, ,,	कर्ता एकव०	ता	सः

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की धातुएँ दस गणों में विभक्त थीं और प्रत्येक में काल-रचना में लगने वाले विकरण अलग-अलग थे, अर्थात् ति तः अन्ति आदि से पहले निम्नलिखित ध्वनियाँ जोड़ ली जाती थीं—

भ्वादि	अदादि	जुहोत्यादि	दिवादि	स्वादि
अ	०	द्वित्व	य	नु
तुदादि	रुधादि	तनादि	क्रयादि	चुरादि
अ'	न	उ	ना	अय

प्रत्येक गण की धातुओं का रूपान्तर या तो परस्मैपद में होता था, या आत्मनेपद में। कुछ एक धातुएँ उभयपद थीं। तीन वाच्य थे (कर्तृ, कर्म और भाव)। दस क्रियाभेद थे जिन्हें लकार कहते हैं। इन में लट् (वर्तमान), लिट् (परोक्ष या सम्पन्न), लङ् (अनद्यतन या असम्पन्न), लुङ् (सामान्य भूत) और लुट् (असम्पन्न भविष्यत्) एवं लृट् (सामान्य भविष्यत्) ये छः काल और लोट् (आज्ञा), विधिलिङ् (सम्भावनार्थ, optative), आशीर्लिङ्, लृङ् (हेतुहेतुमद्भव, निर्देश), लेट् (अभिप्राय), और लेङ् (निर्बंध) ये छः भाव थे। वैदिक में भविष्यत् काल प्रायः नहीं था; उसकी जगह लङ् (असम्पन्न) का प्रयोग चलता था, और संस्कृत में अभिप्राय और निर्बंध भाव नहीं थे—अर्थात् वैदिक में चार काल और छः भाव थे तो संस्कृत में छः काल और चार भाव। लकारों की कुल संख्या दस ही थी। इनके अतिरिक्त सन्नन्त (इच्छार्थक), यङ् लुगन्त (अतिशयार्थक), णिजन्त (प्रेरणार्थक) और नामधातु प्रत्ययान्त धातुएँ बनायी जाती थीं।

वैदिक में आज्ञार्थक रूप धि, हि, आन्, तात्, आम्, तम्, ताम्, त, अथाम् आदि कई विभक्ति-चिह्नों से बनते थे, संस्कृत में इनकी छँटाई हो गई। तुमुनन्त रूप भी वैदिक में बहुत अधिक थे, संस्कृत में एक-दो रह गये।

वैदिक में असमापिका (पूर्वकालिक) क्रिया तथा क्रियाविशेषण के भी विविध रूप हैं।

प्राचीन आर्यभाषा में धातुओं में लगने वाले कृत् प्रत्ययों और धातुओं से भिन्न शब्दों, अर्थात् संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम में लगने वाले तद्धित प्रत्ययों की संख्या कई सौ थी। शब्द-निर्माण की इतनी भारी सामर्थ्य के कारण ही संस्कृत बहुत समृद्ध और उन्नत भाषा बन गयी थी और उसकी इस सामर्थ्य से आज तक नाना भाषाओं को लाभ हो रहा है। वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रिया से अलग स्वतन्त्र शब्दों के रूप में भी प्रयुक्त होते थे, जैसे 'परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः' में 'परि'। वैदिक में सन्धि कम है।

संस्कृत का बहुत सारी शब्दावली से हिन्दी के विद्यार्थी भली भाँति परिचित हैं। वेद के निम्नलिखित विशिष्ट शब्द और उनके तत्कालीन अर्थ उल्लेखनीय हैं—

अच्छ (की ओर), अद्रि (मेघ, सं० पर्वत), अमात् (पास से), अवस् (नीचे), अश्मा (मेघ, सं० पत्थर), अहि (मेघ, सं० साँप), अहिल्या (रात्रि), आत् (अब), आ दिवा (प्रतिदिन), आयु (धन), आरे (दूर), आसात् (पास से), इदा (अब, सं० इदानीम्), इन्द्र (सूर्य), उच्चा (सं० उच्चैः), उदर (कोष, सं० पेट), इत्था (ऐसे), इध (सं० इह), कुप् (काँपना, सं० =गुस्से होना), कोस (सं० कोष), गौतम (चन्द्रमा), घृणा (दया), घृताची (रात्रि, सं० =वेश्या), जन्तु (बच्चे), जमदग्नि (आँख), तात् (ऐसे), द्विता (दोहरा), धारा (वाणी), नकीम् (बिलकुल नहीं), नकिः (कोई नहीं), नः (हम को), नक्त (रात), नेदीय (निकट), पश्चा पश्चातात् (सं० पश्चात्), पर्वत (मेघ), पुरुधा (अनेक प्रकार से), यन्त्र (रस्सी), यात् (ज्यों) रक्षस् (जादूगर), रायस् (सं० धन), वनस्पति (बड़ा पेड़), वराह (मेघ), व्रत (नियम), विप्र (बुद्धिमान्), वीर्य (वीरता), वृष/वृषभ (सं० बलिवर्द), वेस (सं० वेष), शश्वधा (बार-बार), समिध (आहुति), सनात् (पुराने समय से), सधा (साथ-साथ)।

२.४. मध्यकालीन आर्यभाषा

पीछे संकेत किया गया है कि भगवान् बुद्ध और महावीर जैन ने ब्राह्मण संस्कृति और सत्ता के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया और यह विद्रोही भावना भाषा के क्षेत्र में भी व्यक्त हुई। उन्होंने जनभाषा या प्राकृत के माध्यम से अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। तब से (५वीं शती ई० पू० से) आर्यभाषा का मध्य-काल शुरू होता है और १०-११वीं शती ईस्वी तक चलता है। इस काल की प्राकृतों की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं। तीसरी स्थिति के सम्बन्ध में हम अपना मतभेद आगे स्पष्ट करेंगे।

१. ५०० ई० से प्रथम शती तक······पालि
२. प्रथम शती से छठी शती तक······साहित्यिक प्राकृतें
३. छठी शती से ११वीं शती तक······अपभ्रंशें

२.४.१. पालि—'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति 'पंक्ति' (बुद्धवचन की पंक्तियाँ), अथवा 'पल्लि' (ग्राम, ग्रामीण भाषा होने के नाते), अथवा 'पाटलि' (पुत्र) (मगध की भाषा होने के कारण), अथवा पर्याय या परियाय (प्रवचन), अथवा प्राकृत > पाइल से सिद्ध की जाती है। 'अभिधानप्पदीपिका' के आधार पर 'पा' धातु में 'लि' प्रत्यय जोड़कर 'पालि' बनता है, 'अर्थात् पालयति रक्षतीति तस्मात् पालि'—यह बुद्धवचन के अर्थों (तत्त्वों) की रक्षा करती है। पाठ के अर्थ में

इसका प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में मिलता है, किन्तु इस भाषा के संदर्भ में सर्वप्रथम आचार्य बुद्धघोष (५वीं शती) ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया था। इस से यह नहीं जाना जा सकता कि वह किसी प्रदेश की भाषा थी। मगध-सम्राट् अशोक के पुत्र महाराजकुमार महेन्द्र ने पालि साहित्य ले जाकर सिंहल में थेरवाद का प्रचार किया था, अतः वहाँ के बौद्धों की यह धारणा है कि पालि मगध की भाषा है। 'पाटलि' शब्द से पालि की व्युत्पत्ति बताने वाले मैक्समूलर आदि विद्वान् भी यही कहते हैं। किन्तु, मागधी के जो लक्षण प्राकृत वैयाकरणों ने बताये हैं और अशोक के पूर्वीय अभिलेखों में मागधी का जो रूप मिलता है, वह पालि से भिन्न है। यह भाषा अशोक के गिरनार शिलालेख की भाषा से मिलती है, अतः यह पूर्व की भाषा नहीं है। विद्वानों ने मथुरा और उज्जैन के बीच के प्रदेश को इसका क्षेत्र माना है, तब यह बुद्धवचन की भाषा नहीं रह जाती। अशोक के भाब्रू अभिलेख से स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य का मूल प्राच्य रूप भिन्न था। जिन जनभाषाओं में उस साहित्य का अनुवाद हुआ था, उनमें पालि इसलिए सुरक्षित रह सकी कि महाराजकुमार महेन्द्र 'त्रिपिटक' को ले जाकर लंका में छोड़ आये थे। अनुवाद के कारण पालि में कुछ मागधी रूप भले ही मिल जाते हों, कितु भाषा मध्यदेश ही की है। साहित्यिक भाषा होने के नाते भी जहाँ इस पर संस्कृत और पैशाची का प्रभाव है, वहाँ पूर्वीपन भी पाया जाता है। यह भी याद रहे कि महेन्द्र का जन्म और लालन-पालन उज्जैन में हुआ था। स्वभावतः लंका जाते समय वह उसी भाषा की कृतियों को साथ में ले गया, जिसे वह अच्छी तरह समझता-बोलता था और जिसके माध्यम से वह बुद्धवचन का प्रचार सहज में कर सकता था। यह भी सम्भव है कि महेन्द्र के समय तक बुद्ध के उपदेशों का पूर्वी रूप लुप्त हो गया हो।

वैदिक काल में जो जनभाषाएँ थीं, उन्हीं में से एक ने, वैदिक भाषा के देवभाषा हो जाने के कारण, साहित्य में स्थान प्राप्त किया। इसमें तत्कालीन जनभाषाओं (प्राकृतों) का सामान्य रूप भी है और वैदिक का सरलीकृत उत्तराधिकार भी। भारत की आर्य जनभाषाओं का इतिहास लिखा जाय तो उस में पालि का महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। देश के बाहर भी यदि संस्कृत के अतिरिक्त किसी भारतीय भाषा का प्रभाव पड़ा है तो वह पालि है। सारा बौद्ध जगत्—बर्मा, लंका, तिब्बत, चीन—पालि भाषा और साहित्य से अनुप्राणित रहा है।

प्राचीन आर्यभाषा और नव्य आर्यभाषा (हिन्दी आदि) के बीच की स्थितियों को समझने के लिए पालि का महत्त्व बहुत अधिक है। संस्कृत ध्वनियों का जनसाधारण में कैसे उच्चारण होता था, उसकी व्याकरणिक जटिलताओं

को सुलझाने का लोक में क्या प्रयत्न हो रहा था और गत्यात्मक बोली में स्थित्यात्मक साहित्य-भाषा से अलग क्या-क्या परिवर्तन हो रहे थे, इन सब बातों की जानकारी पहले-पहल पालि के अध्ययन से प्राप्त होती है। संस्कृत से हिन्दी तक पहुँचने के लिए पालि पहली सीढ़ी है।

पालि भाषा के अध्ययन के प्रमुख आधार हैं—त्रिपिटक (बुद्धवचन), टीका (अट्ठकथा) साहित्य, बंस (ऐतिहासिक) साहित्य। पालि साहित्य बुद्ध के समय से लेकर ११वीं शती तक बराबर लिखा जाता रहा है।

पालि ने प्राचीन आर्यभाषा के ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ, विसर्ग, श, ष, और संयुक्त व्यंजनों को छोड़ दिया। वैदिक ळ पालि में बहुलता से पाया जाता है। ऋ की जगह कहीं अ, कहीं इ, और कहीं उ मिलता है, जैसे नच्च (नृत्य से), तिण (तृण से), बुड्ढो (वृद्धः से)। कभी-कभी ऋ का रि उच्चारण भी मिलता है जैसे रिच्छ (ऋक्ष से)। ॠ, ऌ, ॡ, लुप्त ही हो गये। ऐ की जगह ए और औ की जगह ओ हो गया है, जैसे सेल (शैल से), केवट्टो (कैवर्तः से), चोरो (चौरः से), मोन (मौन से)। अय को ए और अव को औ की तरह परिवर्तित किया गया, जैसे पालेति (सं० पालयति), लोण (सं० लवण)। प्राचीन आर्यभाषा के ए ओ का क्रमशः ह्रस्व ए ओ हो गया। अ के साथ का विसर्ग ओ हो गया और अन्य स्वरों के साथ लुप्त हो गया, जैसे देवो (देवः), अग्गि (अग्निः), धेनु (सं० धेनुः)। श ष दोनों का स हो गया, जैसे नासेति (सं० नाशयति), सकुण (सं० शकुन), तेसु (सं० तेषु) कोस (सं० कोष) में।

शब्द के अन्त में आने वाले हलन्त व्यंजन का लोप हो गया, जैसे भगवा (सं० भगवान्), याव (सं० यावत्); अर्थात् पालि में व्यंजनांत शब्द हैं ही नहीं।

शब्द के आदि में पड़े संयुक्त व्यंजन का निर्बल अंग लुप्त हो गया। अन्तस्थ व्यंजन (य र ल व) ऊष्म व्यंजनों (श ष स ह) की अपेक्षा और ऊष्म व्यंजन स्पृष्ट व्यंजनों (क से म तक) की अपेक्षा अधिक निर्बल होते हैं। उदाहरण—गाम (सं० ग्राम), थूल (सं० स्थूल), जेट्ठ (ज्येष्ठ), सेट्ठ (श्रेष्ठ), तिपिटक (त्रिपिटक), भमरो (भ्रमरः)।

शब्द के मध्य में संयुक्त व्यंजन के स्थान पर द्वित्व हो जाता है, अर्थात् एक व्यंजन की सत्ता तो लुप्त हो जाती है, किन्तु दूसरे की सत्ता दीर्घ हो जाती है, जैसे पुत्तो (पुत्रः), पक्को (पक्कः) में। इस प्रक्रिया के कई भेद हैं—

१. अन्तस्थ य र ल व अत्यन्त निर्बल होने के कारण दूसरे व्यंजन में समा जाते हैं, जैसे मग्ग (सं० मार्ग), गोत्त (सं० गोत्र), कम्म (सं० कर्म्म) वाक्क (वाक्य), जप्प (जल्प) में।

२. यदि दोनों अन्तस्थ हों तो र व लुप्त होते हैं, जैसे दुल्लभ (दुर्लभ), बिल्ल (सं० बिल्व)। र और व का संयोग हो तो र नहीं रहता, जैसे सब्ब (सं० सर्व) में।

३. यदि संयुक्त व्यंजन में पहला अनुनासिक हो तो संयुक्त व्यंजन बना रहता है, जैसे गन्ध, दन्त, सन्धि, अङ्ग, मञ्च इत्यादि।

[याद रहे कि किसी भी संयुक्त व्यंजन से पहले का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है, जैसे सन्त (सं० शान्त), सुत्त (सूत्र), मग्ग (मार्ग) इत्यादि।]

४. ज्ञ, न्य, ण्य के स्थान पर ञ्ञ होता है, जैसे ञ्ञान (सं० ज्ञान), अञ्ञे (सं० अन्ये) अरञ्ञं (अरण्यं)।

५. यदि दोनों व्यंजन स्पृष्ट हों तो आधे व्यंजन का लोप होता है; किन्तु कवर्गीय ध्वनि नासिक्य ध्वनि से अधिक सबल होने के कारण बच जाती है। उदाहरण सद्द (सं० शब्द), सुत्त (सं० सूक्त), अलद्धो (अलब्धः), तित्त (सं० तिक्त), तित्ति (सं० तृप्तिः), अग्गि (अग्निः), नग्ग (सं० नग्न)।

६. यदि संयुक्त व्यंजन में ऊष्म (श ष स ह) पड़ा हो तो वह अपने स्थान पर ह् को दूसरे व्यंजन में समाविष्ट कर जाता है। उदाहरण दिट्ठो (सं० दृष्टः), भिक्खु (सं० भिक्षु), फन्दन (सं० स्पन्दन), विनिच्छय (विनिश्चय)।

७. त्य, थ्य, द्य, ध्य, का क्रमशः च्च, च्छ, ज्ज, ज्झ हो जाता है, जैसे सच्च (सं० सत्य), मिच्छा (सं० मिथ्या), अज्ज (सं० अद्य), बुज्झइ (बुध्यते)।

८. कभी-कभी संयुक्त व्यंजन के बीच में स्वर-भक्ति ला कर उसे सरल बनाया जाता है, जैसे गरहा (सं० गर्हा), सुरियो (सं० सूर्यः), वजिर (सं० वज्र), अरियो (सं० आर्यः) आदि।

प्राचीन संस्कृत से पालि में जो परिवर्तन हुए हैं, उन में हिन्दी के विद्यार्थी के लिए देखने की विशेष बात यह है कि आर्यभाषा किस तरह हिन्दी की ओर बढ़ रही है। कुछ और विविध, किन्तु महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नीचे दिये जा रहे हैं—

दन्त्य ध्वनियों का मूर्धन्यीकरण, जैसे डाह (सं० दाह), ठान (सं० स्थान), अट्ठि (सं० अस्थि), डसति (सं० दशति), बुड्ढो (सं० वृद्धः), ठपेत्वा (सं० स्थापयित्वा)। नियमपूर्वक तो नहीं, किन्तु यत्र-तत्र न के स्थान पर ण हो गया है, जैसे झाण (सं० ध्यान), जुण्हा (सं० ज्योत्स्ना), सकुण (सं० शकुन)। वर्ण-विपर्यय के उदाहरण—मकस (सं० मशक, मच्छर), विम्हय (सं० विस्मय, होना चाहिये विह्मय), जुण्हा (सं० ज्योत्स्ना)। महाप्राणीकरण के उदाहरण—फरसु (परशु), खील (सं० कील), खुज्ज (सं० कुब्ज)। घोषीकरण के उदाहरण—सागल, (सं० शाकल), उदाहो (सं० उताहो)।

स्वरों का समानीकरण लें, जैसे सं० इषु से उशु, शिशु से सुसु, कुरंग स कुरुंग, इक्षु से उक्खु, उच्छु।

स्वरों का विषमीकरण देखें, जैसे सं० परम, चरम से परिम, चरिम।

अन्य परिवर्तन—देहनी (सं० देहली), एकारस (सं० एकादश), उवंग (उपाङ्ग), बहिनी (सं० भगिनी), लहु (सं० लघु), बहिर (सं० वधिर), होति (सं० भवति), पोक्खर (सं० पुष्कर), कुसिनअर (सं० कुशीनगर), सुखुमाल (सं० सुकुमार), तिब्ब (सं० तीव्र), सुव (सं० शुक), नअर (नगर)।

व्याकरण में बहुत अन्तर तो नहीं है, किन्तु रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। एक ओर तो वैदिक के देवेभिः के समान देवेहि, कण्णेभि, कण्णेहि (कर्णेभिः से); नपुंसकलिंग बहुवचन विश्वा की तरह चित्ता, रूपा; तुमुनन्त रूपों में बाहुल्य, पालि की विशेषता बनी रही है; दूसरी ओर तीन वचनों के स्थान पर दो ही वचन (एकवचन और बहुवचन), आठ कारकों के स्थान पर छः, १० गणों की जगह ७, १० लकार की जगह ८ लकार, और दो पदों (उपग्रहों) के स्थान पर केवल एक परस्पमैद रह गया। संज्ञाओं में जो लिंग और अन्त्य अक्षर के भेद से विविधता थी, उसके स्थान पर बहुत कुछ एकरूपता आ गयी; जैसे तुलना कीजिए—

पालि	संस्कृत
कर्ता बहु०—सारमतिनो असारदस्सिनो	सारमतयः असारदर्शिनः
कर्म—देवं, पजं, मं	देवं, प्रजां, मां
सम्बन्ध—रामस्स, तस्स, सुचिकम्मस्स	रामस्य, तस्य, शुचिकर्मणः
—हरिणो, मच्चुनो	हरिणः, मृत्योः
अधिकरण—तम्हि, भोजनम्हि	तस्मिन्, भोजने

इस सादृश्यीकरण के नियम से शब्दों के रूप निश्चित करने में बड़ी सुविधा हो गयी।

'धम्मपद' (जिसे बौद्धों की गीता कहा गया है) में से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं। संस्कृत से तुलना करके देखिए और हिन्दी बोलियों के संदर्भ में समझने का प्रयत्न कीजिए—

सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति (सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति), सब दिशाओं में सत्पुरुष (सुगंध) बहाते हैं। न भजे पापके मित्ते (न भजेत् पापानि मित्राणि), न सेवन करे पापी मित्रों को। न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं (न पुत्रमिच्छेत् न धनं न राष्ट्रम्), न पूत की इच्छा करे, न धन की न राठ (राष्ट्र, जायदाद) की।

सन्तं तस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च (शान्तं तस्य मनो भवति

शान्ता वाचा च कर्म च), उसका मन शान्त होता है, वाणी भी शान्त, कर्म भी शान्त।

हिन्दी तक पहुंचने में अभी कई पड़ाव शेष हैं।

२.४.२. **अशोककालीन पालि**—ब्राह्मणों की देववाणी और 'विद्रोहियों' की जनवाणी में शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा—कभी संस्कृत का और कभी प्राकृत का पक्ष सबल होकर देश में व्याप्त रहा। उत्तर-पश्चिमी भारत में संस्कृत को संस्कृति, साहित्य और राजनीति के अनेक केन्द्रों में प्रतिष्ठित किया गया और मध्यदेश की इस भाषा का दबदबा सारे भारत में ही नहीं, बल्कि बाहरी देशों में भी माना जाता था। किन्तु, जनभाषा तो अमर हुआ करती है। पूर्व में जनभाषा को उठाने का जो पराक्रम भगवान् बुद्ध और महावीर जैन ने किया, वह जारी रहा। पाटलिपुत्र एक बहुत बड़े राज्य की राजधानी बना, और चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमी सत्ताओं को दबा कर मगध की सत्ता को प्रसारित किया। चन्द्रगुप्त की विजयों के बाद उनके पौत्र सम्राट् अशोक ने देश के निर्माण का कार्य किया। जिस भाषानीति को धर्म सफलता-पूर्वक अग्रसर नहीं कर सका, उसे अशोक ने राजसत्ता द्वारा आगे बढ़ाया। उसने धर्म और शासन सम्बन्धी अपने आदेश साम्राज्य के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिए शिलाओं, स्तम्भों और भित्तियों पर खुदवाये। ये अभिलेख कलिंग (आधुनिक उड़ीसा), नेपाल की तराई, ज़िला चम्पारन (बिहार), सहसराम (बिहार), आन्ध्र, मैसूर, कौशाम्बी, कालसी (देहरादून), दिल्ली, ज़िला अम्बाला, मेरठ, इलाहाबाद, सारनाथ, साँची (भोपाल), जबलपुर, जयपुर, रावलपिंडी, पेशावर आदि स्थानों के निकट पाये गये हैं। यद्यपि इनसे तत्कालीन तीन आर्य बोलियों का परिचय मिलता है—उत्तर-पश्चिमी, मध्यदेशीय और प्राच्य; किन्तु वास्तव में सर्वत्र पाटलिपुत्र की राजभाषा का रूप छाया हुआ है। मौर्यकाल के अंत तक पूर्वी भाषा का दबदबा रहा है, फिर भी उसे उतनी व्यापकता अथवा मान्यता कभी प्राप्त नहीं हुई, जितनी मध्यदेशीय आर्यभाषा को।

हिन्दी के उद्गम की स्थितियों में अशोक के अभिलेखों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है; और दूसरी बात यह है कि पूर्व का जो प्रभाव अभिलेखीय भाषा में लक्षित होता है, वह पश्चिम की जनभाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर नहीं पड़ा। इस काल की भाषा को देखकर एक-दो बातें अवश्य सामने आती हैं—प्रथम तो यह कि उत्तर-पश्चिम में ल की अपेक्षा र का और न की अपेक्षा ण का अधिक प्रयोग होता था और दूसरे यह कि व-ब तथा स-श बराबर चलते थे। ऐसा लगता है कि व्या-

हाथीगुम्फा वाला और दूसरा यवन राजदूत हेलियोदोरस का बेसनगर वाला। इन दोनों की भाषा भी पालि से मिलती-जुलती है जिस पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। परवर्ती प्राकृत के कुछ लक्षण भी मिल जाते हैं। कुछ यूनानी और ईरानी शब्द भी प्राप्त होते हैं। ये दोनों अभिलेख ब्राह्मी लिपि मे हैं।

इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तरी प्राकृत के नमूने शहबाज़गढ़ी, मनसेहरा और शिकोट के अभिलेखों में, जो खरोष्ठी लिपि में हैं; दक्षिण-पश्चिमी प्राकृत के गिरनार (गुजरात) के बहुत पुराने अभिलेखों में; मध्यपूर्वी प्राकृत के कालसी (देहरादून), टोपरा (दिल्ली), एवं जोगीमारा गुफा के अभिलेखों में; तथा पूर्वी प्राकृत के धौली और जौगढ़ के शिलालेखों में पाये जाते हैं।

सन् १०० ई० के आसपास अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त तीन प्राकृतों के नमूने प्राप्त होते हैं—पूर्वी या प्राचीन मागधी, पश्चिमी या प्राचीन शौरसेनी, और मध्यपूर्वी या प्राचीन अर्धमागधी।

खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ पश्चिमोत्तरी प्राकृत का एक 'धम्मपद' प्राप्त हुआ जिसका रचना-काल २०० ई० बताया गया है। निय प्राकृत के लेख भी (दे० पृ० ३४) पश्चिमोत्तरी प्राकृत में हैं। हिन्दी के विकास में इस प्राकृत का कोई सीधा योगदान नहीं हो सकता; किन्तु परवर्ती साहित्यिक प्राकृतों के विकास को समझने के लिए सभी लेखों, अभिलेखों, शिलालेखों, और ताम्रपत्रों का अध्ययन आवश्यक और लाभदायक होगा।

२.४.३. **प्राकृतें**—मध्यकालीन भारतीय आर्यभा के विकास की दूसरी स्थिति में जो जनभाषाएँ साहित्य में प्रतिष्ठित हुईं, उन्हें 'प्राकृत' कहते हैं। किन्तु, यह शब्द स्पष्टार्थ नहीं है। 'प्राकृत' के दो अर्थ हैं—एक तो जनभाषा (प्राकृत जनानां भाषा प्राकृतम्), और दूसरा प्रकृति या मूल से उत्पन्न, अर्थात् संस्कृत की पुत्री। पहले अर्थ के अनुसार वेद से पहले भी प्राकृतें थीं जिनमें से एक ने उठकर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया। वैदिक काल में भी प्राकृतें थीं और जिस प्रकार वे साहित्यिक भाषा से प्रभावित होती थीं उसी प्रकार साहित्यिक भाषा को प्रभावित करती भी थीं। वेद में रूपों का वैविध्य (दे० पृ० २३) और ध्वनिद्वैध जन-भाषाओं के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। वेद में अनेक प्रादेशिक तथा प्राकृत शब्द और प्रयोग मिलते हैं। 'उच्चा', 'नीचा', 'पश्चा', 'भोतु' (सं० भवतु), 'शिथिर' (सं० शिथिल), जर्भरी, तुर्फरी, फरफरिका, तैमात, ताबुवम्, वञ्च, वेस (सं० वेष), 'दूलभ' (सं० दुर्लभ), दूडम (दुर्दम), सुवर्ग (सं० स्वर्ग), इन्दर (इंद्र), इत्यादि वेद के शब्द प्राकृत के हैं, संस्कृत के नहीं। बाद में एक जनभाषा उठी और पालि नाम से प्रसिद्ध हुई। पालि और संस्कृत समानान्तर चलती रहीं। पालि साहित्य १८वीं शती तक लिखा जाता रहा, जैसे संस्कृत का। किन्तु, धार्मिक क्षेत्र

में अधिक दखल देने के कारण पालि का पहली शती ई० से पहले ही ह्रास हो गया—संस्कृत की साहित्यिक व्यापकता और श्रेष्ठता अधिकाधिक बढ़ती रही। तब तत्कालीन जनभाषाओं ने पुनः संघर्ष किया। अब की बार भी बौद्धों और जैनों ने नेतृत्व किया, किन्तु पालि की तरह ये धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहीं। इनमें भरपूर लौकिक साहित्य भी लिखा गया। 'सेतुबन्ध', 'गौडवहो' आदि प्रबन्ध और 'गाथासप्तशती', 'वज्जालग्ग' आदि मुक्तक काव्य-ग्रंथ संस्कृत-काव्यों से उत्कृष्ट माने जाने लगे जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्यिक प्रतिष्ठा से अपदस्थ होने लगी। जयवल्लभ ने 'वज्जालग्ग' में घोषित किया कि जब ललित युवतियों का शृंगाररसपूर्ण प्राकृत काव्य उपलब्ध है तो संस्कृत कौन पढ़े? राजशेखर ने यहाँ तक कह दिया कि संस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार है। पुरुष और स्त्री में जो अंतर होता है, वही इन दो भाषाओं में है।

इस प्राकृत का नाम वास्तव में साहित्यिक प्राकृत अथवा मध्यकालीन प्राकृत होना चाहिये। साहित्य का माध्यम बनने के उपरान्त इस भाषा को भी अधिकाधिक संस्कृत-शब्दावली अपनानी पड़ी, बल्कि एक सामान्य और अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त करने के लिए इसने संस्कृत का अनुकरण किया। इस दृष्टि से ठीक ही कहा गया है कि संस्कृत प्राकृत की जननी है। दूसरा अर्थ इस संदर्भ में उचित है। साहित्यिक प्राकृत संस्कृत की पुत्री ही नहीं, परिचारिका बनकर चली है।

२.४.३.१ प्राकृतों के सामान्य लक्षण—प्राकृतों ने पालि के ध्वनिगत नियमों को दृढ़ता से आगे बढ़ाया, अर्थात् संस्कृत के ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ, श, ष, और संयुक्त व्यंजन उसी तरह परिवर्तित होते रहे। यहाँ कुछ और उदाहरण प्राकृत से उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—

घिणा (सं० घृणा), कीइस (सं० कीदृश), माइ (सं० मातृ), गिद्ध (स० गृध्र), जम्भा (जृम्भा), पाउस (सं० प्रावृष, वर्षा); एरण्ड (ऐरण्ड), कोसल्ला (कौशल्या), चेत्त (चैत्र), तेल्ल (तैल), दोहित्त (दौहित्र); रासि (सं० राशि), संख (शंख), संड (षण्ड), सीस (सं० शीर्ष); अक्खि (सं० अक्षि); पयाण (प्रयाण), धंस (ध्वंस), चक्क (सं० चक्र) कण्ह (कृष्ण), घंट (सं० घण्ट), दुद्ध (दुग्ध), नच्च/णच्च (सं० नृत्य), पोत्तिआ (पौत्रिका), उग्गाल (उद्गार), काट्ठ (काष्ठ), तन्ती (तन्त्री) ण्हाण (सं० स्नान), फोड (स्फोट), पच्छा (पश्चात्)।

विविध परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

मूर्धन्यीकरण—टसर (सं० त्रसर), ठिय (स्थित), पडिअ (पतित), गंठिय (ग्रंथित), डोला (दोला), आदि। न की जगह प्रायेण ण हो गया, जैसे णंद

(नन्द), णाम (नाम), जिणेसर (जिनेश्वर), ठाण (स्थान), जाण (ज्ञान)। पालि ञ्ञ के स्थान पर भी 'ण' मिलता है।

स्वरभक्ति—वरिस (वर्ष)।

वर्ण-विपर्यय—हलु (लघु), वाणारसी (वाराणसी)।

पृष्ठ २९ पर दिये गये 'अन्य परिवर्तन' के अन्तर्गत सं० शुक से सुव, नगर से नअर पर ध्यान दीजिए। इस प्रवृत्ति को प्राकृत ने अपना नियम बना लिया। शब्द के मध्य में आने वाले क, ग, च, ज, त, द, के स्थान पर अ या य-अर्धस्वर हो गया, जैसे कोइल (सं० कोकिल), णयर (नगर), वयण (वचन), राय (राजन्), माइ (मातृ), कीइस (कीदृश) में। इस प्रक्रिया का एक परिणाम तो यह हुआ कि प्राकृत में स्वर-संयोगों की संख्या बढ़ गयी और दूसरा यह कि सैकड़ों ऐसे शब्द अशक्त और प्रयोगहीन हो गये, जैसे उउ (सं० ऋतु), अइ (सं० अति), इइ (इति), आइ (सं० आदि), उअअ (सं० उदक), उइअ (उदित, उचित)। संस्कृत में व्यंजन-संयोग और प्राकृतों में स्वर-संयोग बहुत अधिक हैं।

ट का ड और ठ का ढ हो गया, जैसे घड (घट), जडिअ (जटित), पढ (सं० पठ), मढिआ (मठिका) में। प का व पालि के शब्द उवंग (सं० उपांग) में बताया गया था। प्राकृत में इसके उदाहरण बहुत अधिक मिलते हैं, जैसे अवर (सं० अपर), ताव (सं० ताप), लेव (लेप) आदि। म का कभी-कभी वँ हो गया, जैसे कवँल (कमल) में। ड, न, र, ल सुरक्षित रहे हैं।

मध्यवर्ती ख, घ, थ, ध और भ के स्थान पर ह रह गया, जैसे मुह (सं० मुख), सलाहा (सं० श्लाघा), कहण (कथन), साहु (साधु), गहिर (गभीर) में। यह प्रवृत्ति पालि में लहु (सं० लघु) और बहिर (वधिर) आदि में उल्लिखित की जा चुकी है।

शब्द के आदि में (श ष को छोड़) प्रायः सभी व्यंजन सुरक्षित रहे हैं। य का कभी ज और व का कभी ब हो गया है, जैसे जव (सं० यव), जइ (यदि), जवास (यवास), जस (यश), बप्फ (वाष्प), बुड्ढ (वृद्ध), बिट्ठ (विष्ट)।

स्वर प्रायः सुरक्षित रहे, किन्तु संयुक्त व्यंजन से पूर्व अथवा बलाघातहीनता के कारण कभी-कभी विचित्र परिवर्तन हो गये, जैसे पोम (सं० पद्म), सेज्जा (सं० शय्या), तोंड (सं० तुण्ड), गेन्दुअ (कन्दुक), णेउर (सं० नूपुर)।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्राकृतों में पालि के ध्वनिगत नियम सुव्यवस्थित ढंग से चलते रहे और पालि की प्रवृत्तियाँ नियम बन गयीं।

प्राकृत भाषा में व्याकरण में थोड़ी और सरलता आयी। संस्कृत के सन्धि के नियम शिथिल हो गये और धीरे-धीरे अनावश्यक माने जाने लगे। होइ इह, समणा

एगे, भोदु अङ्ग मद्द में स्वर-सन्धि नहीं हुई। व्यंजन-सन्धि का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि व्यंजनान्त शब्द पालि में ही नहीं रहे थे। हलन्त संज्ञाएँ न रहने से उनकी कारकावली सरल हो गयी। नपुंसकलिंग संज्ञाओं को क्रमशः पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग बना दिया गया और लिंग भी दो रह गये। कारकों में करण-अपादान के और सम्प्रादान-सम्बन्ध के रूपों में समानता पालि में ही आ गयी थी, अब कर्ता और कर्म को भी समरूप किया जाने लगा। इस तरह प्रायः चार विभक्तियाँ रह गयीं। रूपों में सामान्यीकरण की प्रवृत्ति जारी रही। कारकीय प्रत्ययों की जगह स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। सर्वनामों में विविधता अवश्य बनी रही, किन्तु इनमें भी रूपान्तर की एकरूपता देखी जा सकती है।

क्रिया में सबसे बड़ी घटना यह हुई कि संस्कृत के दस और पालि के ८ लकारों के स्थान पर चार ही लकार रह गये। भूतकाल के तीन भेद छँट कर एक हो गये। भावों में संभाव्य बना रहा। आज्ञार्थ में केवल मध्यम पुरुष के रूप मान्य रहे। आख्यात की जगह कृदन्त का प्रयोग अधिक होने लगा. जैसा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में होता है। इससे रूपों की विविधता कम हो गयी, किन्तु क्रियागत लिंगभेद आवश्यक हो गया।

२.४.३.२. प्राकृतों के भेद

भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में सात प्राकृतों का उल्लेख किया है—शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, दाक्षिणात्या, बाह्लीकी, आवन्ती तथा प्राच्या। प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने 'प्राकृत-लक्षण' में माहाराष्ट्री के अतिरिक्त गौण रूप से शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश का वर्णन किया है। वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' के नौ परिच्छेदों में माहाराष्ट्री भाषा का व्याकरण लिखा है, दशम परिच्छेद में पैशाची, ११वें में मागधी और १२वें में शौरसेनी के स्वरूप की व्याख्या की है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी माहाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत मान कर उसका विस्तृत वर्णन किया है और शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश की विशेषताएँ बतायी हैं। 'साहित्य-दर्पण' में बारह प्राकृतों के नाम गिनाये गये हैं जिनमें शाकरी, द्राविड़ी, आभीरी और चांडाली नये हैं। 'प्राकृत-लंकेश्वर' में सोलह और 'प्राकृत-चन्द्रिका' में सत्ताईस भेद बताये गये हैं। समय के साथ-साथ बोलियों की संख्या और जानकारी बढ़ती रही है। किन्तु, इन सब में साहित्य नहीं था। साहित्यिक महत्ता की दृष्टि से माहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची और अपभ्रंश मुख्य हैं।

पैशाची पिशाचों की भाषा थी। पिशाच पश्चिमोत्तर प्रदेश के उन अनार्यों को कहा जाता था, जिन्होंने आर्य संस्कृति को पूरी तरह नहीं अपनाया था। इसके

अवशेष चीनी तुर्किस्तान, काफ़िरस्तान, गांधार आदि में पाये गये शिलालेखों में मिल सकते हैं। पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान और काश्मीर की भाषाओं में पैशाची का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' के कारण इसकी विशेष ख्याति है, परन्तु मूल कृति काल-कवलित हो गयी है। उसके संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध हैं। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन (या सातवाहन, सन् ७८ ई० के आसपास) के राजदरबार में रहते थे। राजा द्वारा निर्वासित होकर वे पिशाच देश में जा बसे थे। वहीं उन्होंने लोककथाओं का यह अपूर्व संग्रह सम्पादित किया था। ऐसा जान पड़ता है कि १२वीं शती तक मूल बृहत्कथा प्राप्य थी। अब इसके कुछ उद्धरण अवशिष्ट हैं। पैशाची का हिन्दी प्रदेश से कोई विशेष सम्पर्क नहीं था।

वैदिक ळ प्राप्त होता है, जैसे जळ, कुळ में। न ण का विपर्यय पाया जाता है, जैसे गुन (सं० गुण), अहुणा (सं० अधुना)। र ल का भी विपर्यय हो जाता है, जैसे रुधिर<लुधिर, फल<फर, शैल<सैर। सघोष का अघोष हो जाता है, जैसे गकन (सं० गगन), राचा (सं० राजा)। ष का कहीं श और कहीं स मिलता है, जैसे विषम से विशम, विसम।

प्रसगवश हमें यह कहना है कि पिशाच देश के पश्चिम में एक प्राकृत थी जिसे निय प्राकृत कहा गया है। निय नामक स्थान से प्राप्त खरोष्ठी लिपि में जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनसे जाना गया है कि इस पर ईरानी, मंगोली आदि भाषाओं का प्रभाव रहा है। दरद भाषाओं से इसकी निकटता स्पष्ट है। तीसरी शती तक यह भाषा पश्चिमोत्तरी प्रदेश में व्याप्त थी। सघोष से अघोष करने की प्रवृत्ति इसमें भी है, जैसे पलि (सं० बलि), यकछेम (सं० योगक्षेम) में। श, ष, स तीनों विद्यमान हैं, जैसे तिषु (सं० तेषु), एश्वरि (ऐश्वर्य), श्कर (सं० शर्करा), दितेसि (सं० दत्तोऽसि) में। स का ज़ और श का ज़, अर्थात् सघोष करने की प्रवृत्ति भी है, जैसे दिवज़ (सं० दिवस): अवगज़ (सं० अवकाश) में। लिंग और वचन दो-दो हैं। कारक साहित्यिक प्राकृत की अपेक्षा कम हैं। क्रियारूप प्रायः प्राकृत के समान हैं।

शौरसेनी मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश (शूरसेन) की भाषा थी और इस तरह यह पश्चिमी हिन्दी बोलियों की जननी कही जा सकती है। एक समय में यह उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा थी। दिगम्बर जैन मत का सिद्धान्त-साहित्य इसी में है। संस्कृत नाटकों में यह गद्य की भाषा है। शौरसेनी संस्कृत के अधिक निकट है, अन्य प्राकृतों की अपेक्षा इसमें तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का प्राचुर्य है। ध्वनि-विकास और व्याकरण की दृष्टि से शौरसेनी माहाराष्ट्री से अधिक पुरानी है और इसमें मध्यवर्ती एकल व्यंजन अभी पूरी तरह लुप्त नहीं हुए। त का द और थ का ध हो जाता है, जैसे रअद (सं० रजत, माहा० रअअ), कधोहि (सं० कथहि), इदि (सं० इति, माहा० इइ) में। मध्यग द ध प्रायः सुरक्षित हैं, जैसे जलदो (सं० जलदः) में।

संस्कृत का संयुक्त व्यंजन जो पालि में द्वित्व हो गया था, अब सरल व्यंजन बनने लगा था। यह नियमपूर्वक तो नहीं हुआ, किन्तु इसकी प्रवृत्ति अवश्य देखी जा सकती है। इस सरलीकरण के साथ स्वर का क्षतिपूरक दीर्घीकरण भी दर्शनीय है -- जैसे, ऊसव (पालि उस्सव, सं० उत्सव)।

व्याकरणिक रूपों की दृष्टि से शौरसेनी संस्कृत का अनुसरण करती पायी जाता है। वास्तव में संस्कृत की उत्तराधिकारिणी शौरसेनी ही है।

मागधी मगध और उसके पूर्वीय प्रदेश की भाषा थी। बिहारी हिन्दी की बोलियों के विकास में इसका योग रहा है, किन्तु साहित्यिक स्तर शौरसेनी के निकट है। /र/ की जगह /ल/, /श/ /ष/ /स/ की जगह /श/, और /ज/ /य/ की जगह /य/, विसर्ग के स्थान पर /ए/ इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं। मागधी प्राकृत का साहित्य बहुत थोड़ा-सा है। उदाहरण--पुलिशे (सं० पुरुषः), याणादि (सं० जानाति), यायदे (सं० जायते), शे (सं० सः), देवे (सं० देवः), लाजा (सं० राजा)।

अर्धमागधी अवध और काशी जनपदों की तत्कालीन भाषा थी और महावीर जैन की वाणी का माध्यम मानी जाती है। इसका झुकाव शौरसेनी की ओर अधिक है, मागधी की ओर कम। गद्य में मागधी और पद्य मे शौरसेनी का प्रभाव देखा जाता है। इसकी विशेषताओं में स्वर-मध्यग व्यंजन के स्थान पर /य/ (जैसे सागर>सायर) और दन्त्य ध्वनियों का मूर्धन्यीकरण उल्लेखनीय है, जैसे—ठिय (सं० स्थित), कट्टु (सं० कृत्वा)। एक से एग में क का ग हो गया है। इस प्राकृत में लगभग ४५ ग्रन्थ प्राप्य हैं जो तीसरी और छठी शती ई० के बीच में लिखे गये।

माहाराष्ट्री महाराष्ट्र की प्राकृत बतायी जाती है—महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः—(दण्डी)। वैयाकरणों ने इसी को प्रमुख और आदर्श मानकर प्राकृत के सामान्य लक्षण निर्धारित किये हैं। डॉ० मनोमोहन घोष का मत है कि माहाराष्ट्री शौरसेनी की ही उत्तरकालीन शाखा है। भरत मुनि तथा प्राचीन प्राकृताचार्यों के ग्रन्थों में माहाराष्ट्री का नामोल्लेख नहीं मिलता। हार्नले का मत है कि 'महाराष्ट्र' का अर्थ है 'महान् राष्ट्र' और 'राष्ट्र' का अर्थ जनपद है। माहाराष्ट्री जनपदीय या प्रादेशिक बोली न होकर सारे उत्तरी भारत (एक बड़े राष्ट्र) की भाषा थी। बाद में तो माहाराष्ट्री और प्राकृत पर्याय हो गये थे। ८० प्रतिशत प्राकृत साहित्य माहाराष्ट्री में लिखा गया है। जिन काव्य-ग्रंथों का नामोल्लेख (पृ० ३१ पर) किया गया है, वे सब माहाराष्ट्री में ही हैं। कई जैन ग्रन्थों और नाटकों के गद्य भाग शौरसेनी में हैं तो पद्य भाग माहाराष्ट्री में। इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दी के विकास में मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी के अतिरिक्त अन्य जनपदीय प्राकृतों का भी हाथ रहा है,

किन्तु कालक्रम से माहाराष्ट्री का विकास और व्यापक व्यवहार एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है।

२.५. अपभ्रंशें

संस्कृत वैयाकरणों ने संस्कृत से भिन्न समस्त भाषाओं को अपभ्रष्ट कहा है। किन्तु, भारतीय भाषाओं के इतिहास में अपभ्रंश का रूढ़ार्थ 'आभीरों' आदि की भाषा माना गया है। 'काव्यादर्श' में आचार्य दण्डी लिखते हैं कि काव्य में आभीरों आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। आरम्भ में जब आभीर भारतीय संस्कृति में दीक्षित नहीं हुए थे, तो उन्हें और उनकी भाषा को अपभ्रष्ट कहा जाता था। उनके राजस्थान, सिन्ध और गुजरात में फैल जाने पर आभीरी और शौरसेनी प्राकृत के मेल से अपभ्रंश ग्रामीण भाषा के रूप में विकसित होने लगी। राजस्थान और गुजरात का इतिहास साक्षी है कि गुर्जरों और आभीरों के अतिरिक्त कई जातियाँ बाहर से आ कर पश्चिमी भारत में बस गयी थीं और धीरे-धीरे राजसत्ता पाने पर अपने को 'राजपुत्र' कहलाने लगीं। वस्तुतः इन्हीं की भाषा को अपभ्रंश कहा गया है। आभीर के साथ 'आदि' जोड़ने का अभिप्राय उनके साथ इन नाना जातियों को भी सम्मिलित करना है, जिन्होंने आगे चल कर उत्तर-पश्चिमी भारत के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। राजसत्ता के विस्तार के साथ अपभ्रंश का विस्तार भी हुआ और वह पश्चिम की ग्रामीण भाषा के पद से उठकर राजभाषा और देशभाषा बन गयी; एवं क्रमशः उसका प्रयोग साहित्य में भी होने लगा। दण्डी (७वीं शती) के बाद अपभ्रंश साहित्य की विशेष उन्नति हुई। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में अपभ्रंश भाषा के कवियों का उल्लेख किया है और बताया है कि राजसभा में उनके बैठने का स्थान पश्चिम में था। अपभ्रंश का पश्चिमी भाषा होना इससे द्योतित होता है। राजशेखर के अनुसार समस्त मरुभूमि (मारवाड़), टक्क (पूर्वी पंजाब) और भादानक में शुद्ध अपभ्रंश काव्य का प्रचार था और सुराष्ट्र तथा त्रवण में अप-भ्रंश-मिश्रित संस्कृत का। इस प्रसंग में यह भी ध्यान रहे कि राजस्थानी को अपभ्रंश की जेठी नेटी कहा गया है।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और बहुत से अन्य भाषाविदों ने अपभ्रंश को भारतीय आर्यभाषा के विकास की एक 'स्थिति' समझ लिया है। उनका कहना है कि ६ठी से ११वीं शती तक प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश रूप रहा होगा—जैसे मागधी प्राकृत के बाद मागधी अपभ्रंश, अर्धमागधी प्राकृत के बाद अर्धमागधी अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकत के बाद शौरसेनी अपभ्रंश, एवं माहाराष्ट्री प्राकृत के बाद माहाराष्ट्री अपभ्रंश, इत्यादि। यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या ज्ञात होती है। भरत, चण्ड,

हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने अपभ्रंश को प्राकृतों में गिना है। इसका अर्थ यह है
कि शौरसेनी, मागधी आदि की तरह अपभ्रंश भी एक प्रदेश विशेष की बोली थी—यह
अलग बात है कि उसका साहित्य कुछ बाद में विकसित हुआ, बिलकुल ऐसे जैसे
खड़ीबोली का साहित्य वस्तुतः ब्रजभाषा साहित्य के बाद विस्तृत रूप में आता है
और इसी भ्रान्ति से लोग खड़ीबोली को ब्रजभाषा से उत्पन्न मान लेते हैं। दूसरी
बात यह भी है कि मार्कण्डेय और इतर आचार्यों के अनुसार अपभ्रंश के तीन रूप
थे—नागर, उपनागर और व्राचड। नागर गुजरात की, उपनागर राजस्थान की और
व्राचड सिंध की बोली थी। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपभ्रंश वास्तव में
आभीर, गुर्जर, आदि जातियों के देश की भाषा थी। साहित्यिक भाषा बनने के बाद
इसी ने देश के एक बहुत बड़े भाग में मान्यता प्राप्त की और इस नाते इतर प्रदेशों
की प्राकृतों को प्रभावित किया, सबसे अधिक शौरसेनी को। अतः हम अपभ्रंशों को
हिन्दी और प्राकृत के बीच की स्थिति नहीं मान सकते।

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश के योग की अतिरंजना की जाती रही है।
वास्तव में अपभ्रंश के जो लक्षण बताये जाते हैं, वे सब अपभ्रंश के अपने नहीं हैं,
उनमें अधिकतम शौरसेनी और माहाराष्ट्री के हैं। मूल्य से मोल्ल, मुद्गर से मोग्गर,
पुस्तक से पोत्थय, मुकुट से मउड, क्रीडा से खेड्डुअ, हरीतिकी से हरडइ, वल्लि से
वेल्लि—ये सब प्राकृतों में ही हो गये थे। हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश की कोई देन ही नहीं है। अपभ्रंश उकारबहुला भाषा
थी; ब्रजभाषा, अवधी आदि में जो मनु (मन), चलु (चल), चलतु (चलत) आदि
रूप मिलते हैं, वे अपभ्रंश से गृहीत जान पड़ते हैं। कहा गया है कि अपभ्रंश वियोगा-
त्मक हो रही थी, कारक-चिह्न छूट रहे थे और परसर्ग प्रयुक्त होने लगे थे। किन्तु,
उल्लेख कुछ ही परसर्गों का मिलता है—सम्बन्ध कारक में केर, करण में सहुँ, तण;
और अधिकरण में महँ और माझ। ये परसर्ग हैं तो महत्वपूर्ण, क्योंकि इन्हीं से आगे
चलकर हिन्दी बोलियों में के, माँझ (माँह, माँह, में) का विकास हुआ, किन्तु मूलतः
ये भी गुजराती-राजस्थानी में चलते रहे। 'तण' तो शुद्ध रूप से राजस्थानी परसर्ग
रहा है जो अब लुप्तप्राय है। किन्तु, न तो अपभ्रंश वियोगात्मक दिखाई देती है और
न ही प्राकृत में ऐसे परसर्गीय शब्दों का अभाव है। कारकीय रूप केवल तीन रह गये
थे—(१) कर्ता-कर्म; (२) करण-अधिकरण; (३) सम्प्रदान-अपादान-संबंध। इस
प्रकार जहाँ एक शब्द के संस्कृत में २४ और प्राकृत में १२ रूप थे, वहाँ अपभ्रंश में
६ रूप रह गये। सर्वनामों के रूपों में भी कमी आ गयी। अपभ्रंश के हौं,
मइं, अम्हे, तुं, तुज्झ, तुम्हे, ओइ और एइ, जो, सो, को, कोउ, अपाण, मोर, अम्हार, तोर
आदि उल्लेखनीय हैं। इनको आगे चलकर हिन्दी क्षेत्र में व्यापक मान्यता प्राप्त हुई।

पूर्वकालिक-इ (जैसे करि, होइ) भी हिन्दी बोलियों में चल रहा है—यह ब्रजभाषा के माध्यम से गृहीत हुआ है। अपभ्रंश में जाउँ गउ, मग्गा एन्तु, रडन्तउ जाइ, कहि न सक्कउ, आदि संयुक्त क्रियारूपों का विकास भी उल्लेखनीय है। काल-रचना की जटिलता कम हो गयी, क्योंकि कृदन्तीय रूपों का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा था। बस, अपभ्रंश में इससे अधिक बहुत कुछ नया नहीं है। सब कुछ का बीज पालि और प्राकृत में है। प्राकृत के विकास का एक उत्तर काल भी है जिसमें विभक्तियाँ छँट गयी थीं, सर्वनामों के रूपों में कमी हो गयी थी, क्रिया के गणों में केवल भ्वादि गण शेष रह गया था और तिङन्त रूपों की अल्पता के कारण कृदन्तीय कालभेदों का स्वरूप विकसित हो रहा था। इन सब विकास-स्थितियों के कारण भाषा व्यवहित या अयोगात्मक अवस्था की ओर चलने लगी थी। जिस प्रकार वैदिक और संस्कृत के बीच की संक्रमण-अवस्था उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में पायी जाती है, अथवा जिस प्रकार पालि और प्राकृतों के बीच की संक्रमण-अवस्था अशोक आदि के अभिलेखों की भाषा थी, उसी प्रकार प्राकृत के उत्तरवर्ती रूप में ही हिन्दी की संक्रमण-स्थिति विद्यमान है। उस स्थिति का नामकरण करने की आवश्यकता नहीं है।

अस्तु, अपभ्रंश पश्चिम की ही एक प्राकृत थी, और उसका योग 'आभीरादि' बोलियों के विकास में ही सम्भव है। आगे चलकर अपभ्रंश के दो रूप विकसित हुए—डिंगल और पिंगल। डिंगल को डॉ० एल० पी० तेस्सीतोरी ने अनियमित, असंस्कृत और गँवारू भाषा कहा है। राजस्थान के चारणों ने इसकी परम्परा को सुरक्षित रखना चाहा, किन्तु तब तक यह बोलचाल की भाषा से दूर, मात्र कृत्रिम भाषा बनकर रह गयी। अतः राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) अथवा विशुद्ध ब्रजभाषा को साहित्य में स्थान मिलने लगा। अर्थात्, अपभ्रंश को ब्रजभाषा और राजस्थानी की पूर्वस्थिति तो माना जा सकता है, किन्तु उसे सारे हिन्दी प्रदेश की बोलियों की जननी नहीं माना जा सकता। बल्कि, हमें तो लगता है कि खड़ीबोली पर भी इस का प्रभाव नहीं के बराबर है।

पश्चिम में जैसे डिंगल-पिंगल विकसित हो रही थीं, वैसे ही पूर्व में अवहट्ट। 'कीर्तिलता' की भाषा को विद्यापति ने अवहट्ट कहा है। इसे हम पूर्वी हिन्दी की पूर्व-स्थिति कह सकते हैं। कुछ विद्वानों ने इसके दो रूप बताये हैं पूर्वी और पश्चिमी। संनेहयरासक और उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण की भाषा को पश्चिमी अवहट्ट कहा गया है। उस युग के कवियों ने इसे 'देसिल बयना' या देशी बोली कहा है। लेखन में ऋ, श, ष, मिलते हैं। न्ह, म्ह, र्‌ह और ल्ह ध्वनियों के उदाहरण भी मिलते हैं। क्षतिपूरक दीर्घीकरण के उदाहरणों में काम (सं० कर्म, प्रा० कम्म), मीत (सं० मित्र, प्रा० मित्त), ऊसास (सं० उच्छ्वास, प्रा० उस्सास) उल्लेखनीय हैं। शब्द के अंत में ह्रस्व इ उ 'परु', 'खणि' आदि में पाया जाता है। बहुत से पुंल्लिग शब्दों के अंत में उ और स्त्रीलिंग

शब्दों के अन्त में इ मिलता है। व्याकरण में संयुक्त क्रिया का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है. शब्दावली में तद्भव तत्त्व अधिक है। देशज शब्द भी बहुत हैं। कुछ अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्द भी मिल जाते हैं

२. ६. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ

जिस प्रकार हिन्दी प्रदेश में प्राकृतों के भेद-उपभेद हुए, उसी प्रकार अन्य प्रदेशों की प्राकृतें क्रमशः टूटती रहीं। इससे भारतीय आर्यभाषाओं के आधुनिक काल का प्रारम्भ होता है। मध्यकाल की प्राकृतें और अपभ्रंश, अवहट्ट आदि साहित्यिक भाषाएँ बन गयीं, अथवा जहाँ पर कोई स्थानीय साहित्यिक भाषा नहीं थी वहाँ भी, क्रमशः जनता की भाषाओं को उठने के अवसर मिल रहे थे। प्रदेशानुसार इस विकास की प्रक्रिया को अग्रलिखित विवरण से समझा जा सकेगा—

पूर्वमध्यकालीन प्राकृत भाषा	उत्तरमध्यकालीन प्राकृत भाषा	निर्माण-काल में प्रभावकारी भाषा	आधुनिक आर्यभाषा
कैकेय	कैकेय	व्राचड, पैशाची, टक्क	लहँदी
टक्क	टक्क	कैकेय, शौरसेनी	पंजाबा
[अज्ञात]	व्राचड अपभ्रंश	कैकेय, पैशाची	सिंधी
लाटी	नागर अपभ्रंश (गुर्जरी)	शौरसेनी	गुजराती
शौरसेनी	उपनागर अपभ्रंश (आभीरी)	गुर्जरी	राजस्थानी हिन्दी
शौरसेनी	शौरसेनी	आभीरी, टक्क, पैशाची; आधे भाग पर टक्क और पैशाची	पश्चिमी हिन्दी
अर्धमागधी	अर्धमागधी	शौरसेनी	पूर्वी हिन्दी
मागधी	अवहट्ट	शौरसेनी	बिहारी हिन्दी
मागधी — उत्तरी	गौड़ी	ढक्की	बँगला
मागधी — दक्षिणी	[अज्ञात]	गौड़ी	असमिया
मागधी — (उत्कली)	ओड्र	गौड़ी	उड़िया
माहाराष्ट्री	[अज्ञात]	वैदर्भी, गुर्जरी	मराठी
दरद	खस	आभीरी, राजस्थानी; शौरसेनी	पहाड़ी (नेपाली आदि)

सामान्य रूप से नव्य भा० आ० के निम्नलिखित लक्षण उल्लेखनीय हैं

इन भाषाओं में ध्वनि-व्यवस्था एक-सी है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, इन समान स्वरों के अतिरिक्त आई, आऊ, इआ आदि संयुक्त स्वर भी मिलते हैं। ऋ तत्सम शब्दों में लिखा तो जाता है, किन्तु इसका उच्चारण रि, रु होता है। मूर्धन्य व्यंजनों को छोड़ शेष व्यंजन सामान्य हैं। पश्चिम में ड और पूर्व

में ड़, या र का प्राधान्य, पूर्व में ण का लोप, पश्चिम में ल-ळ का भेद विचारणीय है। संस्कृत के विसर्ग का लोप, य > ज, ब > व, ष > स प्रायः सब में है। यदि मागधी भाषाओं के अतिरिक्त मराठी, गुजराती और सिंधी में श किन्हीं स्थितियों में सुरक्षित रह गया है तो शेष में संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण इसका पुनर्भाव हुआ है। संस्कृत शब्दों में ष का उच्चारण प्रायः श की तरह होता है। ज्ञ का शुद्ध उच्चारण कहीं नहीं रहा, उसके स्थान पर ज्यँ, ग्यँ और द्यँ आदि उच्चारण प्रचलित हैं। सभी भाषाओं में विदेशी ध्वनियाँ क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ऑ आदि अनिश्चित स्थिति में हैं।

नव्य भारतीय आर्यभाषाएं बहुत कुछ अयोगात्मक अवस्था को प्राप्त करती रही हैं। किन्तु, सब में थोड़े-बहुत योगात्मक तत्त्व विद्यमान हैं। सभी भाषाओं में विभक्तियों के स्थान पर परसर्ग, दो वचन, क्रिया के कृदन्तीय रूप अधिक व्यापक हैं। गुजराती और मराठी में तीन लिंग हैं, किन्तु शेष में दो ही है। पूर्वी भाषाओं के संज्ञारूप और पश्चिमी भाषाओं के क्रियारूप अपेक्षाकृत सरल हैं।

प्रायः सभी भाषाओं—अरबी-फ़ारसी और अंग्रेज़ी आदि—का बहुत अच्छा अनुपात है। संस्कृत शब्दों की प्रचुरता भी सब में क्रमशः बढ़ती रही है। इधर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो नये शब्द गढ़े गये हैं, उनका आधार भी सब ने संस्कृत को स्वीकार किया है। इन तत्त्वों के कारण नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में शब्दावली की सामान्यता बढ़ गयी है।

सभी भाषाओं में वाक्य के अन्तर्गत पदक्रम निश्चित है—अर्थात् पहले कर्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया। संरचना की दृष्टि से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बहुत कुछ समानता है।

इन सब भाषाओं की लिपियों का विकास ब्राह्मी से हुआ है। हिन्दी (राजस्थानी और बिहारी समेत), मराठी और नेपाली की लिपि देवनागरी है। गुजराती १७वीं शताब्दी तक तो देवनागरी में लिखी जाती थी, किन्तु अब उसकी अपनी लिपि है जो हिन्दी प्रदेश की कैथी लिपि से मिलती-जुलती है। बँगला और असमिया की लिपि एक ही है। उड़िया लिपि में अक्षरों की गोलाई विचित्र-सी जान पड़ती है, किन्तु वर्णों का मूल रूप देवनागरी और बँगला लिपि से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

संक्षेप

भारतीय आर्यभाषा का प्राचीन रूप ऋग्वेद में सुरक्षित है। वैदिक संस्कृत विशुद्ध आर्यभाषा थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें अनार्य भाषाओं—द्रविड़, संथाली, मुण्डा आदि भाषाओं—का बढ़ता हुआ प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। लौकिक संस्कृत ने उच्चारण और व्याकरण में एकरूपता लाने की चेष्टा तो की, किन्तु भाषा बहता नीर है और उसमें परिवर्तन आना

अनिवार्य है। मध्यकालीन आर्यभाषा की तीन स्थितियाँ बतायी जाती हैं—पालि, साहित्यिक प्राकृतें (शौरसेनी, माहराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी आदि) और अपभ्रंशें; किंतु वास्तव में अपभ्रंश एक पश्चिमी प्राकृत ही थी। इन स्थितियों के बीच की कड़ियाँ या संक्रमण-स्थितियाँ भी अवश्य रही हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति को नयी भाषा मान लेना उचित नहीं है।

भिन्न-भिन्न कालों की भाषाओं का विकास सीधे साहित्यिक भाषाओं से नहीं होता रहा, बल्कि जब कभी कोई जनभाषा या बोली शिक्षा, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठापित हुई, उसने उच्चाभिव्यक्ति के लिए संस्कृत का आश्रय अवश्य लिया। न तो प्राकृतों का विकास सीधे संस्कृत से हुआ और न ही आधुनिक भाषाओं का सीधे साहित्यिक प्राकृतों से।
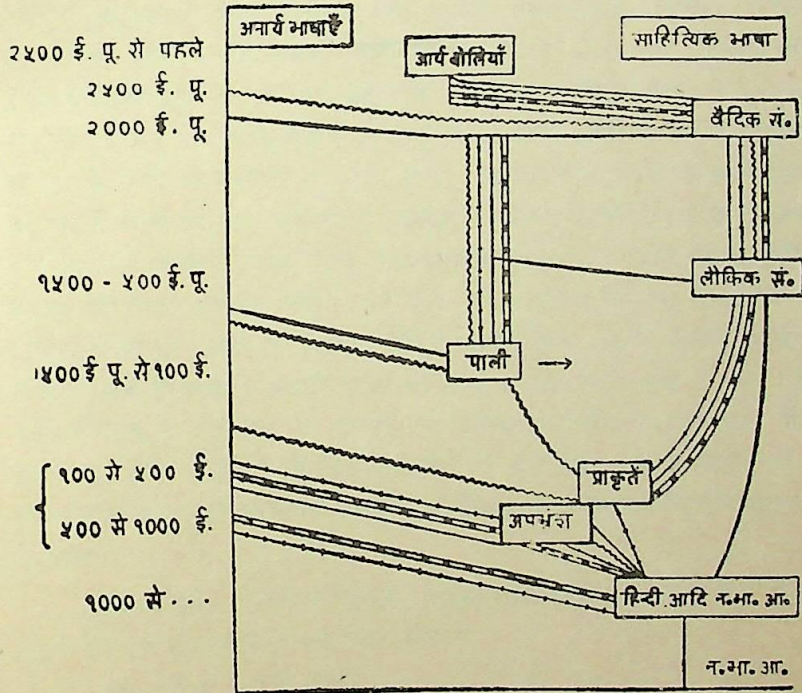
भारतीय आर्यभाषा के विकास की दो प्रमुख दिशाएँ हैं—ध्वनियाँ और व्याकरण। संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण, दीर्घ स्वरों का प्रचुर प्रयोग, प्राचीन अन्त्य स्वरों की छँटाई, संयुक्त स्वरों का विकास, टवर्गीय ध्वनियों की अपेक्षाकृत अधिकता, संधि और समास का कम-से-कम उपयोग, कारकों में कमी और उनकी क्रमशः लुप्ति, दो वचनों और दो लिंगों की निश्चिति, व्याकरणगत रूपों में सामान्यीकरण और सरलीकरण, क्रिया के गणों और लकारों में संकोच आदि—इतनी प्रवृत्तियाँ आर्यभाषा के आधुनिक (न० भा० आ०) रूप ग्रहण करने तक चलती रही हैं।

---

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ

३. १. वर्गीकरण

आर्यों का मूल स्थान कहाँ था, इस विषय में विद्वानों ने मध्य यूरोप, दक्षिणी रूस, उत्तरी ध्रुव, काकेशस पर्वत, पामीर, मध्य एशिया, कश्मीर, सप्तसिंधु या सारस्वत प्रदेश इत्यादि अनेक भूभागों की कल्पना की है। प्रायः विद्वान् मानते हैं कि भारत में आर्यों का आगमन बाहर से हुआ—एक शाखा ईरान और क़ाबुल से होती हुई सिंधु पार करके पंजाब में आ बसी; और दूसरी शाखा ने गिलगित-कश्मीर से उतर कर मध्यदेश में प्रवेश किया। इन दो के आने में न जाने कितनी शताब्दियों का अन्तर था। एक शाखा मध्यदेश में फैल गयी और दूसरी उसके बाहर-बाहर वर्तमान पश्चिमी पंजाब, सिंध, फिर गुजरात, महाराष्ट्र, और वहाँ से उड़ीसा, बंगाल और असम तक फैल गयी। यह मत डॉ॰ हार्नली ने भाषा के आधार पर निश्चित किया था। उसने मध्यदेश या भीतरी आर्य प्रदेश की भाषाओं को एक वर्ग में और उसके आसपास के बाहरी प्रदेशों की भाषाओं को दूसरे वर्ग में रखा। डॉ॰ जार्ज ग्रियर्सन ने इस मत के समर्थन में अनेक तर्क और प्रमाण देकर भीतरी (अन्तरंग) और बाहरी (बहिरंग) भाषावर्गों के अतिरिक्त एक मध्यवर्ती वर्ग को भी स्वीकार किया, एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया—

बहिरंग वर्ग—(उत्तर-पश्चिम में) लहँदा और सिंधी; (दक्षिण में) मराठी; (पूर्व में) उड़िया, बँगला, असमी और बिहारी।

मध्यवर्ती वर्ग—पूर्वी हिन्दी।

अन्तरंग वर्ग—(केन्द्रीय) पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, भीली और खानदेशी; (उत्तरी) पहाड़ी (पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी या नेपाली)।

भौगोलिक दृष्टि से गुजराती को बहिरंग में सम्मिलित होना चाहिये था, किन्तु शताब्दियों तक इस पर मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि यह अन्तरंग वर्ग की भाषा हो गयी है।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के मन्तव्य का खण्डन करते हुए उक्त वर्गीकरण को अवैज्ञानिक ठहराया। नीचे हम ग्रियर्सन की स्थापनाओं और चटर्जी द्वारा प्रस्तुत खण्डन का संक्षेप देना चाहेंगे।

ग्रियर्सन	चटर्जी
(१) बाहरी वर्ग में अन्त्य -इ, -उ हैं, जैसे आँखि, चलु में।	(१) ऐसा ब्रजभाषा और कन्नौजी (अर्थात् भीतरी वर्ग) में भी तो है।
(२) बाहरी वर्ग में सं० -इ- से ए और सं० -उ- से ओ हो जाने के उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे बिल्व से बेल और पुष्कर से पोखर में।	(२) ये शब्द और इस तरह के अनेक शब्द प्रायः सभी अन्तरंग भाषाओं में भी मिल जाते हैं।
(३) बहिरंग वर्ग में सं० उ का इ हो गया है।	(३) भीतरी भाषाओं में खिलना-खुलना दोनों मिल जाते हैं; बल्कि हिन्दी पंजाबी में 'गिन' है, तो बँगला में 'गुन'।
(४) बाहरी वर्ग में द और ड परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं।	(४) ब्रज में डीठि, ड्योढ़ी, डोला, डसना आदि उदाहरण मिलते ही हैं।
(५) बाहरी वर्ग में -र- का लोप हो गया है।	(५) अन्तरंग भाषाओं में औ< और, पै <पर में भी यही बात देखी जा सकती है।
(६) बाहरी वर्ग में ल का र और ड का ड़ मिलता है।	(६) ब्रज और बुन्देली में भी ऐसा है।
(७) बाहरी वर्ग में -म्ब- का म हो गया है।	(७) किन्तु जम्बु से जामन, और निम्ब से नीम पश्चिमी हिन्दी में भी पाये जाते हैं।
(८) बाहरी वर्ग में सं० स का ह हो गया है	(८) ब्रजभाषा आदि में 'केहरी', 'करहिं' आदि रूप चलते हैं।
(९) बाहरी वर्ग की भाषाएँ अभी भी संयोगात्मक अवस्था में हैं और उन में विभक्ति-रूप शेष हैं, जैसे बं० रामेर।	(९) कुछ इन-गिने मुहावरों को छोड़ सामान्यतः सब भाषाएँ परसर्गों का प्रयोग करती हैं। विभक्ति-रूपों के अवशिष्ट थोड़े-बहुत सब में हैं।
(१०) बाहरी वर्ग में -ई स्त्री प्रत्यय है।	(१०) भारत भर की आर्यभाषाओं में ऐसा ही है।

इसी प्रकार के अन्य तर्कों द्वारा ग्रियर्सन ने सिद्ध करना चाहा कि जो बहिरंग वर्ग की भाषाओं में है, वह अन्तरंग वर्ग की भाषा में नहीं है। इसके उत्तर में चटर्जी ने उदाहरण देकर निश्चित किया कि वे तत्त्व अन्तरंग वर्ग की भाषाओं में भी पाये जाते हैं; अतः ग्रियर्सन का वर्गीकरण युक्तियुक्त नहीं है। चटर्जी ने निम्नलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत किया जो कि अधिक सरल, स्वाभाविक और वैज्ञानिक कहा गया है; किन्तु थोड़े से हेर-फेर के अतिरिक्त इसमें हमें कोई मौलिक विशेषता दिखायी नहीं देती—

उदीच्य (उत्तरी) भाषाएँ......सिंधी, लहँदी, (पूर्वी) पंजाबी;
प्रतीच्य (पश्चिमी) भाषाएँ... गुजराती, राजस्थानी;
मध्यदेशीय.... पश्चिमी हिन्दी;
प्राच्य (पूर्वी) भाषाएँ......पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बँगला, असमी;
दाक्षिणात्य......मराठी।

चटर्जी ने पहाड़ी को दरदी और राजस्थानी की सम्मिलित भाषा माना है। भीली और खानदेशी को भी स्वतंत्र भाषाएँ नहीं माना।

· बोलनेवालों की संख्या १९६१ के आँकड़ों के अनुसार

बँगला	३,४८ लाख भारत में २,६२ लाख पाकिस्तान में	
मराठी	३,९२ लाख	
गुजराती	२,०६ लाख	
उड़िया	१,७५ लाख	
पंजाबी	२,०३ लाख भारत में	
लहँदी (पाकिस्तान)	१,२२ लाख	
असमी	६८ लाख	
हिन्दी	२२,५२ लाख	
पूर्वी-पश्चिमी		१५,८३ लाख
बिहारी हिन्दी		१,९८ लाख
राजस्थानी हिन्दी		१,३९ लाख
पहाड़ी हिन्दी		२५ लाख
उर्दू हिन्दी		३,०७ लाख
		२२,५२ लाख
दूसरी भाषा के रूप में		२ करोड़

इस वर्गीकरण में राजस्थानी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी को पश्चिमी हिन्दी से अलग वर्ग में रखने पर हमें आपत्ति है। भारतीय संविधान, लोकमत, साहित्यिक परम्परा एवं शिक्षा और शासन में भाषाओं की स्थिति को ठीक-ठीक समझा जाय तो राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी और (पहाड़ी में से) मध्य पहाड़ी अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं, वे एक ही भाषा की पाँच उपभाषाएँ हैं। ये सब हिन्दी के अन्तर्गत हैं जो समूचे मध्यदेश की भाषा है। मध्यदेश के बाहर की भाषाओं का एक दूसरा वर्ग है जिसे हिन्दीतर (अ-हिन्दी) वर्ग भी कह सकते हैं। इस वर्ग में पश्चिम की गुजराती, सिंधी और पंजाबी (जिसकी दो उपभाषाएँ हैं—पूर्वी पंजाबी और पश्चिमी पंजाबी या लहँदी), पूर्व की असमिया, बँगला और उड़िया; उत्तर की नेपाली; तथा दक्षिण की मराठी और सिंहली। ग्रियर्सन और चटर्जी दोनों ने सिंहली का नाम तक नहीं लिया। यदि यह विचार किया जाय कि सिंहल (लंका) भारत में नहीं है, तो पाकिस्तान भी तो अब भारत में नहीं है; फिर भी इन दोनों देशों की भाषाएँ भाषाविज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा उपकुल की ही हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण चित्र ३ के अनुसार होना चाहिए।

३.२. संक्षिप्त परिचय

पहले हिन्दीतर भाषाओं का परिचय दिया जा रहा है—

३.२.१. **पंजाबी**—पंजाबी के दो भाग हैं, भारतीय पंजाब और पाकिस्तानी पंजाब।

चित्र
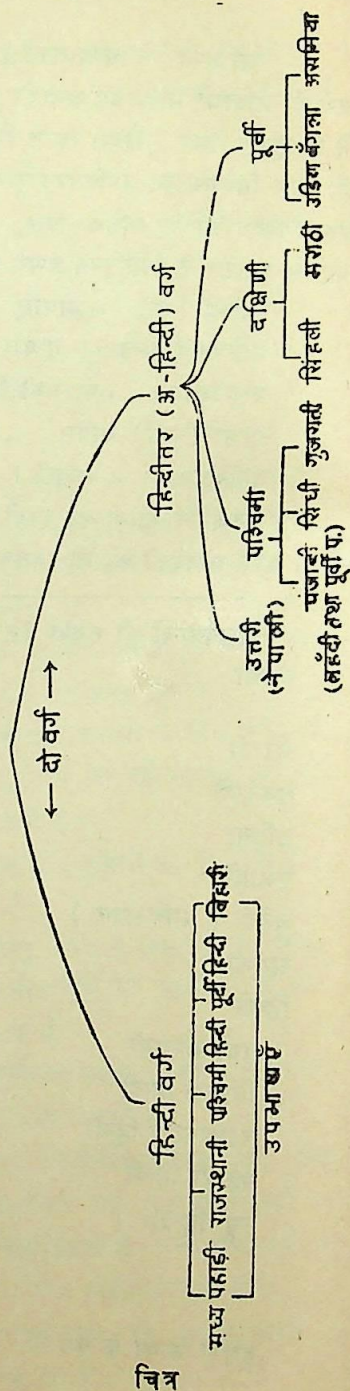
लाहौर और स्यालकोट के ज़िलों को छोड़ शेष पश्चिमी पंजाब में जो पंजाबी बोली जाती है, उसे 'लहँदे दी बोली' (सूर्यास्त दिशा की भाषा) कहते हैं। ग्रियर्सन ने उसे लहँदा' कहा है। वास्तव में वह पंजाबी ही की उपभाषा है। मुलतानी, डेरावाली, पोठोवारी, अवाणकारी आदि इसकी कई बोलियाँ हैं जिनमें मुलतानी का साहित्य १४वीं शताब्दी से मिलने लगता है। फ़रीद, नानक, वारिसशाह, अह-मदयार, कादरयार, आदि अनेक कवि हुए हैं। महाराजा रणजीतसिंह के बाद लाहौर और अमृतसर का प्रभाव इतना बढ़ा कि पश्चिमी पंजाबी की परम्परा धीरे-धीरे क्षीण हो गयी। लहँदी के चारों ओर पश्तो, सिन्धी, राजस्थानी, पूर्वी पंजाबी और कश्मीरी भाषाएँ बोली जाती हैं। पंजाबी की अपेक्षा लहँदी कर्कश एव बलयुक्त भाषा है। उच्चारण में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ हिन्दी की तरह शुद्ध होती हैं, पंजाबी की तरह सुरयुक्त नहीं। लहँदी की कुछ बोलियों में ल मिलता है। य-व सुरक्षित रहे हैं, जैसे यद्धा <यब्धः (मुक्तः), वेल (हिं० बेल), वंड (हिं० बाँट) में। लहँदी की प्रमुख विशेषता है इसका स्पष्ट बलात्मक स्वराघात एवं उच्चावरोही सुर, जो विसर्ग के उच्चारण के समान है, अथवा हलन्त ह् की तरह। संज्ञाओं का लिंग-वचन-भेद प्रायः हिन्दी के समान है। परसर्ग पंजाबी से मिलते-जुलते हैं, किन्तु लहँदी में कर्तृ कारक 'ने' नहीं होता। कर्म में नूँ के अतिरिक्त मुलतानी कूँ उल्लेखनीय है। सर्वनाम भी प्रायः पंजाबी के ही हैं। संज्ञा के साथ विशेषण की अनुरूपता भी पंजाबी और हिन्दी के समान होती है। क्रिया के वर्तमान और भूत काल के रूप पंजाबी की तरह और भविष्यत् का -स- रूप राजस्थानी के समान होता है। क्रिया के साथ सार्वनामिक प्रत्ययों का योग लहँदी और सिंधी की अपनी विशेषता है, जैसे गेयुम (मैं गया), गेयाई (वह तेरे लिए गया), गेआस (वह उसके लिए गया), आदि। लहँदी की शब्दावली में अरबी-फ़ारसी से आगत शब्दों की अधिकता है। गुरमुखी और फ़ारसी लिपियाँ प्रचलित हैं। व्यापारियों की लिपि का नाम लण्डा या टाकरे है जिसमें स्वर-मात्राओं के चिह्न नहीं होते।

नमूना—हिक्क जणे दे दो पुत्तर आहे।···उस वेले उसदा वड्डा पुत्तर जिम्मीं चे आहा। मैं उठ के अपणे पिउ कोल वँदाँ ते उस नूँ आखसाँ। (एक आदमी के दो पुत्र थे। उस समय उसका बड़ा बेटा खेत में था।···मैं उठकर अपने बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा···।)

भारतीय पंजाब की बोली को ही पंजाबी कहा जाता है। इसका क्षेत्र अम्बाला से लाहौर तक और जम्मू-चम्बा-शिमला से भटिंडा तक फैला हुआ है, अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक मध्य पंजाब में, और उत्तर में हिमांचल और जम्मू से लेकर दक्षिण में सिंधी और राजस्थानी की सीमा तक। इसकी बोलियों में जम्मू-काँगड़ा की डोगरी,

पटियाला और उसके आसपास की मालवई, लुधियाना या पंजाब के पूर्वी क्षेत्र की पोवाधी और लाहौर-अमृतसर की माझी महत्वपूर्ण हैं। माझी आधुनिक पंजाबी साहित्य की आदर्श भाषा है। थोड़ा-बहुत साहित्य पहले का भी मिलता तो है, किन्तु पिछले एक सौ वर्ष में भरपूर साहित्य लिखा गया है। भाई वीरसिंह, धनीराम चात्रिक, मोहनसिंह, पूरनसिंह, अमृता प्रीतम, गार्गी, सेखों, नानकसिंह और दुग्गल बड़े-बड़े साहित्यकारों में गिने जाते हैं। पंजाबी में हिन्दी की सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण क्रमशः क्ह, च्ह, ट्ह, त्ह, प्ह करके होता है और इस ह् में निम्नारोही तान होती है। संयुक्त व्यंजनों को स्वरभक्तिसहित बोलने की प्रवृत्ति व्यापक है, जैसे क्रोध, मित्र, धर्म, स्टेट, ब्लाक की जगह करोध, मित्तर, धरम, सटेट और बुलाक। संस्कृत के संयुक्त व्यंजन अथवा प्राकृत के द्वित्त व्यंजन अम्बाला से पूर्व के प्रदेशों की भाषा में ह्रस्व हो गये हैं और आदि अक्षर का स्वर दीर्घ हो गया है, किन्तु पंजाबी और लहँदी में वह स्वर ह्रस्व ही रहा, जैसे अक्ख/अख < अक्षि (हिं० आँख), रिछ < ऋक्ष (हिं० रीछ), पुछ < पृच्छ (हिं० पूछ), अज < अद्य (हिं० आज), पंज < पंच (हिं० पाँच) इत्यादि में।

व्याकरण की दृष्टि से, हिन्दी की तुलना में, निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

संज्ञा में लिंगभेद और स्त्री-प्रत्ययों की व्यवस्था वैसी ही है, जैसी हिन्दी में—अन्तर इतना भर है कि -इन प्रत्यय के स्थान पर -अन होता है, जैसे, धोबन, कहारन, मालन/मालण में। बहुवचन स्त्रीलिंग में सभी संज्ञाओं में अन्त के -आँ लगता है, जैसे राणियाँ, बाताँ, जूँआँ। तिर्यक् बहुवचन दोनों लिंगों में हिं० -ओं के स्थान पर पं० -आँ होता है, जैसे जूँआँ, घराँ, लड़कियाँ, लड़केआँ, आदि। परसर्गों में हिं० को के लिए नूँ, से के लिए थों, का के की के लिए दा दे दी, में के लिए विच प्रयुक्त होता है। विशेषण के प्रयोग में प्रमुख बात यह है कि स्त्रीलिंग के बहुवचन में रूप-परिवर्तन होता है, जैसे हिं० अच्छी लड़की, अच्छी लड़कियाँ, किन्तु पं० अच्छी लड़की, अच्छियाँ लड़कियाँ। सर्वनामों में अस्सी (हम), तुस्सी (तुम, आप), असाडा (हमारा), तुसाडा, (तुम्हारा, आपका) विशिष्ट हैं। क्रिया में वर्तमान कृदन्त का रूप ता, ते, ती से सम्पन्न न होकर दा, दे, दी, से होता है, जैसे करदा, करदे, करदी (हिं० करता, करते, करती)। पंजाबी में स्त्रीलिंग बहुवचन में भी कृदन्तीय रूप बदलते हैं, जैसे करदियाँ हैंन (हिं० करती हैं), करदियाँ सन (करती थीं), करदियाँ होनगियाँ (करती होंगी)। संज्ञा, विशेषण और क्रिया के स्त्रीलिंग बहुवचन की संगति देखिए—

पं० चंगियाँ तीवियाँ अपणियाँ-अपणियाँ गठड़ियाँ लैके जांदियाँ रहँदियाँ हैं(न)।

हिं० अच्छी स्त्रियाँ अपनी-अपनी गठरियाँ लेकर जाती रहती है।

पंजाबी अधिकतर गुरमुखी लिपि में लिखी जाती है जिसका विकास सिखों के दूसरे गुरु अंगद ने लण्डा का सुधार करके और उसमें देवनागरी मात्राओं को जोड़कर किया था। मुसलमान फ़ारसी लिपि का और कुछ हिन्दू नागरी का प्रयोग करते हैं। पंजाब में भाषा और लिपि को साम्प्रदायिक स्तर पर उठाया जाता रहा है।

नमूना—इक मनुक्ख दे दो पुत्त से।···तदों ओहदा बड्डा पुत्त पैली विच सी।···मैं उठके अपणे बापू कोल जांदाँ ते ओहनूं आखाँगा···।

(एक आदमी के दो बेटे थे।···तब उसका बड़ा बेटा खेत में था।··· मैं उठकर अपने बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा···।)

३.२.२. **सिंधी**—सिंधी का एक ओर गुजराती से और दूसरी ओर लहँदी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात उल्लेखनीय है कि आठवीं शताब्दी से ही सिंध और मुलतान (लहँदी भाषी) एक प्रान्त रहा है और १८४३ से १९३६ ई० तक सिंध बम्बई प्रान्त का एक भाग रहा है। सिंध के तीन भाग माने जाते हैं—सिरो (शिरो-भाग) जिसकी बोली सिराकी कही जाती है, विचोलो (बीच का) जिसकी बोली को विचोली कहते हैं, और लाड़ (लाट या नीचे का प्रदेश) जहाँ लाड़ी बोली बोली जाती है। विचोली सिन्ध की साहित्यिक और सामान्य भाषा है। कच्छ प्रायद्वीप की बोली (कच्छी) सिंधी और गुजराती का सम्मिश्रित रूप है। सिंधी साहित्य बहुत समृद्ध तो नहीं है, किन्तु है अवश्य—गद्य भी और पद्य भी। सिंधी सूफ़ियों के दोहे प्रसिद्ध हैं। शाह लतीफ़ का 'रिसालो' लोकप्रिय काव्य है। अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिंधी साहित्य का स्वर्ण-युग कहलाता है। उस समय अनायत शाह, मखदूम मुहम्मद ज़मान आदि बड़े-बड़े कवि हुए हैं। बाद में सचल कवि का नाम विख्यात हुआ। अँग्रेज़ी काल से गद्य साहित्य का विकास भी हुआ है। सिंधी की अपनी लिपि १८५३ से प्रचलित है। यह अरबी लिपि के आधार पर बनी है। इससे पहले देवनागरी और गुरमुखी लिपि का प्रयोग अधिक होता था।

सिंधी के सब शब्द स्वरांत होते हैं। व्यंजन ध्वनियों में ग॒, ज॒, ड॒, ब॒ अतिरिक्त और विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण कण्ठपिटक बन्द करके द्वित्व रूप होता है। महाप्राण ध्वनियों को संयत करने की प्रवृत्ति लहँदी और सिंधी में सामान्य है। कहा गया है कि यह दरद भाषा के प्रभाव के फलस्वरूप है। सिंधी की पुल्लिग संज्ञाएँ प्रायः उकारान्त एवं ओकारान्त और स्त्रीलिंग संज्ञाएँ अकारान्त एवं आकारान्त होती हैं। लिंग दो हैं, वचन भी दो हैं। कर्म में 'के' और अधिकरण कारक में 'माँ' का अवधी से आश्चर्यजनक साम्य है। सर्वनाम प्रायः सब हिन्दी से भिन्न

हैं। संज्ञार्थक क्रिया -णुकारान्त होती है, जैसे हलणु (चलना), बधणु (बाँधना), पिटणु (पीटना)। भूतकालिक -ल- मराठी और पूर्वी भाषाओं से और वर्तमानकालिक -द- पंजाबी से मिलता है। सिंधी की एक बहुत बड़ी विशेषता है उसकी संज्ञाओं और क्रियाओं में सार्वनामिक प्रत्ययों का योग, जैसे पुट्रऊँ (हमारा बेटा), भासि (उसका भाई), मारिग्राई (उसने उसको मारा), मारिग्राइमि (उसने मुझको मारा)।

सिंधी के शब्द-भण्डार में अरबी-फ़ारसी शब्दों की अधिकता है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सिंध में ९९% मुसलमान हैं और शताब्दियों इस्लामी राज्य रहा है। किन्तु, आश्चर्य की बात है कि जो सिंधी शब्दकोश पाकिस्तान में चार भागों में प्रकाशित हुआ है, उसमें ७५% शब्द तद्भव हैं। उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो केवल सिंधी में सुरक्षित हैं; अन्य भाषाओं में उनका स्थान देशी-विदेशी कई प्रकार के शब्दों ने ले लिया है।

नमूना—हेकिड माण्हु खे ब़ पुट हुआ।···तड्हण उन्हें-जो वड्डो पुट भनि में हो।···आऊँ उठी पँहाँ-जे पिउ ड़े हली (पियु-वट) वेन्दाँ, अँ चवन्दो-साँस/थो-चवाँस। (एक आदमी के दो बेटे थे।···तब उसका बड़ा बेटा खेत में था।···मैं उठकर अपने बाप के पास जाता हूँ, और उसे कहूँगा··· ।)

३.२.३. **गुजराती**—गुजरात प्रदेश और बम्बई नगर की बहुत बड़ी जनसंख्या की भाषा गुजराती है। इसके उत्तर-पूर्व में सिंधी और राजस्थानी, एवं दक्षिण में मराठी है। इसकी क्षेत्रीय बोलियाँ नहीं के बराबर हैं। पश्चिम में एक, काठियावाड़ी, उल्लेखनीय है। अहमदाबाद और उसके आसपास की बोली साहित्यिक और सामान्य भाषा है जो सारे प्रदेश में एकरूप से बोली और समझी जाती है। नागरिक और ग्रामीण गुजराती में अन्तर है। गुजराती साहित्य को तीन भागों में बाँटा गया है। प्राचीन काल (१२००-१५०० ई०) के फुटकर पद्य आचार्य हेमचन्द्र की कृतियों में उद्धृत हुए हैं। मध्यकालीन (१५००-१८०० ई०) साहित्य के अन्तर्गत जूनागढ़ के नरसिंह (नरसी) महता का वैष्णव काव्य सारे गुजरात में लोकप्रिय है। इन्हीं की परम्परा में प्रेमानन्द भट्ट, वल्लभ, कालिदास, प्रीतम, रेवाशंकर, सामल भट्ट आदि अनेक कवि हुए हैं। आधुनिक काल में साहित्य की विधाओं में बहुत उन्नति हुई है। गोवर्धनराम त्रिपाठी, डॉ० ध्रुव, नानालाल, कन्हैयालाल मा० मुंशी, रमणलाल देसाई, काका कालेलकर आदि कई साहित्यकार प्रसिद्ध हैं।

सत्रहवीं शती तक गुजराती देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी। तब से गुजराती की अपनी लिपि है जो पूर्वी लिपि, कैथी, से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

गुजराती में हिन्दी की तरह संस्कृत-प्राकृत के संयुक्त अथवा द्वित्त व्यंजन का ह्रस्व व्यंजन होकर उस से पूर्व स्वर का क्षतिपूरक दीर्घीकरण होता है, जैसे पीठुँ<पृष्ठ, माखरण<मृक्षरण, धीठ< धृष्ट, चाक <चक्र, मूठी<मुष्टिका में। हमने देखा कि पंजाबी, लहँदी और सिंधी में यह स्वर ह्रस्व बना रहता है। बोलचाल की गुजराती में क ख ग का च छ ज (जैसे लाग्यो के स्थान पर लाज्यो), च छ का स (जैसे पाँच का पाँस, ऊँचो का ऊँसो), स का ह (जैसे सूरज का हूरज, सो का हो), और ह का अ हो जाता है (जैसे हू का ऊ, हुतो का ऊतो, हिं० था)। दन्त्य और मूर्धन्य व्यंजन परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे थोरो/थोडो, दीढो/डीढो/दीथो/दीधो (हिं० दिया) में। गुजराती में ळ, ण, ओष्ठ्य व (जैसे विना, वाणिओ में) और श सुरक्षित हैं।

वचन दो और लिंग तीन हैं। वास्तव में नपुंसकलिंग का -ऊँ रूप उभयलिंगी है, जैसे छोकरो (लड़का), छोकरी (लड़की), जोकरूँ (बच्चा, लड़का-लड़की दोनों)। संज्ञा के तिर्यक् रूप राजस्थानी और बुंदेली की तरह होते हैं। परसर्गों में नो ना नी (का के की) और माटे (लिए) उल्लेखनीय हैं। सर्वनाम हूँ (मैं), आम/अमें (हम), तूँ (तू), तम/तमे (तुम), ते (वह), ए (यह) जो, सो आदि हिन्दी बोलियों में भी पाये पाते हैं। विशेषणों का व्यवहार सामान्यतः हिन्दी की तरह होता है। कर्मवाच्य, संयुक्त क्रिया तथा प्रेरणार्थक क्रिया की बनावट बहुत कुछ हिन्दी के समान है, और सहायक क्रिया छुँ, छे और (भूत०) हतो, हती राजस्थानी हिन्दी से मिलती-जुलती है। संज्ञार्थक क्रिया -वुं रूप (जैसे मारवु, करवुं) और पूर्वकालिक क्रिया मारी, मारीने (मारकर); और क्रिया का भविष्यत् काल -श- रूप होता है, जैसे करीश (मैं करूँगा), करशो (वह करेगा)।

उदाहरण—एक माणस-ने बे दीकरा हता।···अने तेनो बडो दीकरो खेतरमां हतो। हूँ उठीने मारा बापनी पासे जाऊँ अने तेणे कहीश···।

(एक आदमी के दो बेटे थे।···और उसका बड़ा बेटा खेत में था।··· मैं उठकर मेरे (अपने) बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा···।

३.२.४. मराठी—महाराष्ट्र प्रदेश (बम्बई, पूना, बरार, नागपुर आदि) की आधुनिक आर्यभाषा की तीन प्रमुख बोलियाँ हैं—खड़ीबोली मराठी, बरारी (वैदर्भी) और कोंकणी। कोंकणी पर द्रविड़ प्रभाव बहुत अधिक है। पूना की खड़ीबोली ही साहित्यिक भाषा है। पहले उत्तर की मराठी आदर्श मानी जाती थी। बस्तर में एक बोली हल्बी नाम से है; उस में पूर्वी हिन्दी और मराठी के सम्मिश्रण पाये जाते हैं। मराठी के शिलालेख और ताम्रपत्र ९८३ ई० से मिलने लगते हैं। बारहवीं-तेरहवीं शती में रचे गये महानुभाव सम्प्रदाय के लगभग ५००० ग्रंथ प्राप्त हुए हैं।

यादव-काल (१२५०-१३५० ई०) में अभंगों के रचयिता नामदेव, और मराठी के सबसे बड़े कवि ज्ञानदेव हुए हैं। इसी समय में 'विवेक सिंधु' के लेखक मुकुन्दराम भी रहे हैं। पन्द्रहवीं शती से मराठी पर उत्तर भारत की भाषाओं का प्रभाव पड़ता रहा है। मध्यकाल में दासो पंत, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, श्रीधर, महीपति, मोरो पन्त, राम जोशी और शीघ्रकवि अमृतराय आदि हुए हैं। इन्होंने हिन्दी में भी कविताएँ लिखी हैं। आधुनिक काल में नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, सब का व्यापक विकास हुआ है। इस काल के साहित्यकारों में अत्रे, खांडेकर, फडके, साने गुरु, हरिनारायण आपटे, मर्ढेकर और बापट उल्लेखनीय हैं। मराठी की अपनी लिपि देवनागरी है जिसे 'बालबोध' कहा जाता है; किन्तु नित्य के व्यवहार में एक और लिपि चलती है जिसका नाम मोड़ी है।

मराठी की ध्वनिगत विशेषताओं में ळ, ऋ का रु, पदान्त न का ण, स का श, र का ल, और च, ज, झ का शुद्ध तालव्य एवं दन्त-तालव्य त्स, द्ज, द्झ उच्चारण उल्लेखनीय है। ड-ड़ और व-ब में स्पष्ट अन्तर है। लिंग तीन हैं और वचन दो। लिंगभेद बड़ा जटिल है। प्रायः आकारान्त संज्ञाएँ पुंल्लिंग, ईकारान्त स्त्रीलिंग और सानुनासिक एकारान्त संज्ञाएँ नपुंसकलिंग होती हैं। संज्ञा के अनेक विभक्ति-रूप अब भी अवशिष्ट हैं, विशेषतः कर्म में, जैसे बापास (बाप को)। परसर्गों में करण नें, शीं; सम्प्रदान ला, तें; अपादान ऊन/हून, और सम्बन्ध चा उल्लेखनीय हैं। क्रिया में वर्तमान काल के -त- रूप हिन्दी से, भूतकालिक -ल- रूप पूर्वी भाषाओं से, और भविष्यत् ल-रूप राजस्थानी से मेल खाते हैं। क्रियार्थक संज्ञा के अर्थ में -णें होता है, जैसे करणें (हिं० करना)। पूर्वकालिक क्रिया उठून, करून आदि होती है—तुलना कीजिए गुजराती करीने। कर्मवाच्य प्राकृत रूप में—पाहिजे (चाहिये), म्हणजे (कहा जाता है), आदि—बहुत रोचक है। सर्वनामों को हिन्दी का प्रत्येक विद्यार्थी सुगमता से पहचान सकता है—मी (मैं), अम्हि (हम), मज (मुझ), तूं, तुम्ही, तुज, तो (वह), पुं० हा (यह), स्त्री० ही, नपुं० हें, जो, कोण, आपण। मराठी के अनेक अव्यय और परसर्गीय शब्द बड़े विचित्र हैं।

मराठी के शब्दभण्डार में तत्सम, तद्भव, फ़ारसी और द्रविड़ शब्दों की अधिकता है।

नमूना—कोणे एका मनुष्यास दोन पुत्र होते।···तेव्हाँ त्याचा वडील पुत्र शेतांत होता।···मी उठून आपल्या वापा कडे जातों आणि त्याला म्हणेन···।

(किसी एक आदमी के दो बेटे थे।···तब उसका बड़ा बेटा खेत में था···। मैं उठकर अपने बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा···।)

३.२.५. **बँगला**—पंजाबी की तरह बँगला के भी दो भाग हो गये हैं। पूर्वी बँगला पूर्वी पाकिस्तान में और पश्चिमी बँगला भारतीय बंगाल में बोली जाती है। प्रमुखतः यही दो इसकी विभाषाएँ हैं। पूर्वी बँगला का केन्द्र ढाका है और पश्चिमी बँगला का कलकत्ता। कलकत्ता की बोली टकसाली मानी गई है। बँगला साहित्य बहुत प्राचीन नहीं है, किन्तु आधुनिक काल का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। मुसलमानी काल में कृष्णलीला-सम्बन्धी रीतिकाव्य प्राप्त होता है। बाउल गीत प्रसिद्ध हैं। चण्डीदास और चैतन्य प्रसिद्ध भक्त कवि हुए हैं। बँगला साहित्य पर संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है जिसके कारण साहित्य की नाना विधाओं के विकास में बँगला ने अन्य भारतीय साहित्यों का पथप्रदर्शन किया है। हिन्दी बँगला से विशेषतया प्रभावित रही है। आधुनिक काल के साहित्यकारों में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, वंकिमचन्द्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रमेन्द्र सुन्दर, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, द्विजेन्द्रलाल राय, विभूति वन्द्योपाध्याय, विभूति मुखोपाध्याय, ताराशंकर, वनफूल और नजरुस्सलाम के नाम सुविख्यात हैं। साहित्यिक दृष्टि से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बँगला का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है।

बँगला की अपनी लिपि है जो देवनागरी की सहोदरा है।

बँगला में -अ- का उच्चारण ह्रस्व ओ की तरह होता है, जैसे रवि, भला, कर्म आदि शब्द रोबि, भालो, कोर्म उच्चरित होते हैं। ऐ, औ का उच्चारण संयुक्त स्वर ओइ, आए करके होता है। अक्षर के अंतवाला स्वर उच्चरित होता है और प्रत्येक शब्द स्वरांत होता है। य का ज (जैसे जोग < योग), और व का ब बोला जाता है (जैसे बिबेक, रोबि, < रवि)। ण का न, और ष, स का श बोला जाता है। ये सब ध्वनियाँ लिखी जाती हैं शुद्ध तत्सम रूप में, किन्तु शिष्ट और शिक्षित वर्ग में भी इनका उच्चारण तद्भव रूप में ही होता है। संयुक्त व्यंजन भी लिखाई में तो आते हैं, किन्तु श और रेफायुक्त संयोगों (जैसे आश्चर्ज) को छोड़कर सब द्वित्व और तद्भव रूप में उच्चरित होते हैं। उदाहरण—लक्ष्मी = लक्खी; माहात्म्य = माहात्त; तत्त्व = तत्त; पद्य = पोद्द; परीक्षा = पोरीक्खा; वाद्य = बाद्द; ईश्वर = ईशर।

बँगला की सबसे बड़ी व्याकरणगत विशेषता यह है कि इस में विशेषण और क्रियाएँ लिंगानुसार बदलती नहीं हैं, जैसे आमार घड़ी कोथय, आमार कापड़ कोथय; मा चलिते छे; बाबा चलिते छे; आमि चलिबो (मैं चलूंगा/चलूंगी)। निर्जीव पदार्थों में व्याकरणिक लिंगभेद नहीं होता। वचन दो ही हैं। बहुवचन के लिए -रा,

दिग, गुलि (लोग), सब, गण आदि जुड़ते हैं। कर्म-सम्प्रदान में के, जन्य; अपादान में थेके, हइते; करण में ते, दिया आदि परसर्ग लगते हैं। अंशों में बँगला अभी तक योगात्मक भाषा है। सम्बन्ध कारक में राजस्थानी की तरह -रा/एर विभक्ति होती है और अधिकरण में संस्कृत का -ए, जैसे आमरा (हमारा), घरेर (घर का), एवं घरे (घर में)। सर्वनामों में आमि (हम), की (क्या), और केह/केउ (कोई) हिन्दी से भिन्न हैं, शेष सर्वनाम सरल हैं। विशेषण प्रायः आकारान्त नहीं होते, जैसे छोट, खोट, घन, भाल; इसीलिए लिंग-वचन-परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं होती। बँगला क्रिया में -ल- भूतकालिक (जैसे चलिलाम, मैं चला; चलिलेन, वे चले), और -ब- भविष्यत् रूप होता है (जैसे चलिबे, तू/वह चलेगा, चलिबेन, आप/वे चलेंगे); वर्तमान कृदन्त चलित, भूत कृदन्त चलिया, आज्ञार्थ चलि, चल, चलुन। प्रेरणार्थक क्रिया, कर्मवाच्य और संयुक्त क्रिया हिन्दी की तरह होती है। वाक्य-योजन में प्रायः क्रिया-विशेषण तथा विधेयक विशेषण अन्त में आते हैं। संस्कृत की तरह 'है' का प्रायः लोप रहता है। उदाहरण—कथाटा बूझिते पारि न (मैं बात नहीं समझ सकता), आपनार काछे आमि बिशेष बाधित (आपके प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूँ), आपनि कोथाय जाछेन कि (क्या आप कहीं जा रहे हैं) ?, बड़ माछ नेइ (बड़ी मछलियाँ नहीं हैं)।

नमूना—कोन एक व्यक्तिर दुटि पुत्र छिल।···तखने ताँहार ज्येष्ठ पुत्र खेत्रे छिल।····आमि उठिया-इ आमार पितार निकट जाइचि एवं ताँहिके बलिब···!

(किसी एक आदमी को दो बेटे थे।...तब उसका बड़ा बेटा खेत में था। ·· मैं उठकर मेरे (अपने) पिता के निकट जाता हूँ और उसको कहूँगा···।)

३.२.६. असमी—जिसे अँग्रेज़ी की कृपा से 'आसाम' कहते हैं, उस देश के नाम का ठीक उच्चारण 'असम' है। इसका पुराना नाम रामायण-काल में प्राग्ज्यौतिष मिलता है। इस के दक्षिणी भाग का नाम कामरूप था। तेरहवीं शताब्दी में थाइ या शान जाति के 'अहोम' लोग वहाँ आ बसे थे, जिनके नाम पर इस प्रदेश का नाम अहम या असम पड़ा। आर्यभाषा असमी सारे असम की भाषा नहीं है—केवल दक्षिणी असम, लखीमपुर से गोलपारा तक के प्रदेश की, जिसकी कुल जन-संख्या दस लाख के लगभग है। क्षेत्र बहुत छोटा है, अतः बोलियाँ प्रायः नहीं हैं और भाषा का रूप सर्वत्र एक ही सा है।

असमी में लोकगीतों की सुन्दर परम्परा रही है। बँगला से अभिभूत रहने के कारण असमी साहित्य का अविकल विकास नहीं हो सका। १३वीं-१४वीं शताब्दी का संस्कृत-असमी-मिश्रित तान्त्रिक (शैव-शाक्त) साहित्य प्राप्त है। १४५०-१६५० ई० का वैष्णव काव्य अत्यन्त प्रौढ़ है। पुराने कवियों में हेम, माधव कंदली, शंकरदेव,

दामोदरदेव, अनन्त कंदली (उपनाम रामस्वामी) आदि बहुत से हुए हैं। मध्यकालीन (१६५०-१८६४ ई०) के असमी साहित्य में इतिहास-ग्रंथ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस विषय में असम भारत के सभी प्रदेशों से आगे-आगे है। रसायन और वैद्यक के भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। असम में इतिहास और विज्ञान का ज्ञान भद्र समाज का आवश्यक गुण समझा जाता रहा है। इस काल का कृष्णभक्ति-साहित्य और रीतिकाव्य भी प्राप्त हुआ है। आधुनिक युग (१८६४ ई० से) के प्रसिद्ध साहित्यकारों में लक्ष्मीनाथ बरुवा, चन्द्रकुमार अगरवाला, रघुनाथ चौधरी, देवकान्त बरुवा, हेम बरुवा, नीलमणि, रजनीकान्त बरदलोइ, अतुलचन्द्र, ज्योति प्रसाद, महेश्वर आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

पहले कई लिपियाँ प्रचलित थीं। श्रीरामपुर में छापाखाना खुलने के बाद बँगला लिपि, थोड़ा संशोधन करके, अपनायी गई है। केवल दो-तीन अक्षर बँगला लिपि से भिन्न हैं। देवनागरी का प्रयोग भी होता है।

बँगला और असमी का घनिष्ठ सम्बन्ध है, बल्कि एक विद्वान् का कहना है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक दोनों भाषाओं का एक ही स्वरूप था। बँगला की तुलना में असमी में च छ का स, और स का ह् या ख होता है। संयुक्त व्यंजनों में स स्पष्ट है, जैसे स्वार्थ=सार्थ। संयुक्त व्यंजनों का द्वित्व; अ का ओ; य व का ज ब; ण का न बँगला की तरह होता है। मूर्धन्य ध्वनियों की मूर्धन्यता निर्बल होती है, फलतः ट ड का उच्चारण त द की तरह सुनाई देता है। ड़ ढ़ का र् र्ह और ज का ज़ बोला जाता है। असमी में केवल ह्रस्व ए है, ओ नहीं। ह्रस्व अ, इ, उ एवं दीर्घ आ, ई, ऊ का उच्चारण अनिश्चित है।

संज्ञा और सर्वनाम के परसर्ग—कर्म में -क; करण में -ए, -एरे; सम्प्रदान में -लै, लैके; सम्बन्ध में -अर, -अरे; और अधिकरण में -अत, -अते रूप होते हैं। असमी बँगला से कुछ अधिक विभक्त्यात्मक है। विशेष अन्तर क्रियाओं में है; न लिंग का भेद है न वचन का, जैसे मइ खा इशो (मैं खाता/खाती हूँ), आमि खा इशो (हम खाते/खाती हैं), तुमि या तोमालोके खा इशा (तू या तुम खाता/खाते/खाती हो), इत्यादि। भूतकाल -ल- रूप; भविष्यत् -ब- रूप (किन्तु मैं खाऊँगा के लिए 'खाम'); वर्तमान खाउँ, खोवा, खाय होता है। नकारात्मक क्रिया का रूप नि/न पहले जोड़ देने से बन जाता है। संज्ञार्थक क्रिया के अनेक रूप हैं, जैसे बोला, बोलिबा, बोलोंता (हिं० बोलना)। कर्मवाच्य 'है' से बनता है (हिन्दी की तरह जा के संयोग से नहीं), जैसे दिया हैशे (हिं० दिया गया)।

नमूना—कोनो मानुहर दु-टा पुतेक आशिल।···हेइ हमयत तेओंर बड़ पुतेक पथारत आशील।···मोइ उठि बोपाइर तलै जाओं आरु तेओं-क कम ··।

(किसी आदमी के दो बेटे थे।...उस समय उसका बड़ा बेटा खेत में था।... मैं उठकर बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा...।)

३.१.७. **उड़िया**—ओड़ीसा नाम ओड (तमिल ओद, कृषि करना) जाति के नाम पर पड़ा है। इसका प्राचीन नाम कलिंग और बाद का उत्कल मिलता है। इस से भाषा को उड़िया, ओडी, या उत्कली कहते हैं। यह बँगला से इतनी अधिक मिलती है कि बहुत दिनों तक असमी की तरह इसको भी लोग बँगला की बोली मात्र समझते रहे हैं। किन्तु, वास्तव में ये तीनों आपस में बहनें हैं। उड़िया की एक बोली है भत्री जो उड़िया, मराठी और तेलगू का सम्मिश्रित रूप है। बहुत दिनों तक उड़ीसा पर तैलंगों और मराठों का राज्य रहा है, इसलिए सामान्य भाषा में भी तेलगू और मराठी शब्द तथा प्रयोग बिखरे पड़े हैं। ११वीं-१२वीं शती से शिलालेख मिलने लगते हैं। प्राचीन काल से कृष्ण साहित्य प्राप्त होता है। उपेन्द्र भंज, सरल दास, जगन्नाथ, 'रसकल्लोल' के कवि दीनकृष्ण, और गोपालकृष्ण के गीत उड़ीसा भर में प्रसिद्ध हैं। लौकिक काव्य के अन्तर्गत ब्रजनाथ बदजेन का वीर-रसपूर्ण 'समर तरंग' उल्लेखनीय है। राधानाथ झा और मधुसूदन से आधुनिक काल का आरम्भ होता है। इस युग में फकीर मोहन, रघुनाथ राय, गंगाधर, गोपालचंद्र प्रहराज, नन्दकिशोर बल, गोपबन्धु दास, कुन्तल कुमारी देवी, नीलकंठ दास, गोदावरीश मिश्र, आर्त्तवल्लभ महन्ती आदि साहित्यकार प्रमुख हैं।

उड़िया लिपि देवनागरी से मिलती-जुलती है, किन्तु अभी थोड़े समय पूर्व तक ताड़ के पत्तों पर लिखी जाने के कारण इसके वर्णों में ऊपर और बायें गोलाई रहती है। द, ढ, और ह नागरी से भिन्न हैं।

उड़िया की उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताएँ बँगला से बहुत मिलती-जुलती हैं—अन्त्य अ का उच्चारण, अ की वृत्ताकारता, य व का क्रमशः ज ब, और बहुधा संयुक्त व्यंजनों का द्वित्व। बँगला से भिन्न ऋ का रु, श ष का स (दन्तमूलीय), ण, ळ, और क ट प में थोड़ी महाप्राणता उल्लेखनीय है। व्याकरणगत लिंग नहीं है, केवल स्वाभाविक लिंग है। बहुवचन बनाने के लिए मन, अथवा लोक, गण आदि शब्द जोड़े जाते हैं। कभी-कभी दोहरे बहुवचन रूप मिलते हैं, जैसे पिललोक मन (बच्चे लोग)। संज्ञा का साधारण रूप (माणुस, थाली) और लघु रूप (माणुसवा, थलिया) पूर्वी हिन्दी से मिलता है। करण, अपादान और अधिकरण में क्रमशः -ए, -उ और -ए विभक्ति-चिह्न प्रयुक्त होते हैं। परसर्गों में कर्म-सम्प्रदान का कु/कि; करण का रे; अपादान का रु/नु; संबंध का र/न; अधिकरण रे/ने हैं। इसी तरह की सरलता सर्वनामों में है—मुँ, तु, से (वह), हे/ए (यह), जे, के, आपण। सादृश्य के नियम से और स्वर-सामञ्जस्य द्वारा अधिकांश रूप सम्पन्न

हुए हैं। क्रियापदों में भूतकालिक -ल- (करिलि, करिलु, करिले), भविष्यत् -ब- (करिबि, करिबु, करिबे); और वर्तमान करइ और करु अछि आदि बनते हैं। पूर्व-कालिक कृदन्त करि, छड़ि; वर्तमान कृदन्त करंत है। आज्ञार्थ और णिजन्त रूप बँगला और हिन्दी से मिलते-जुलते हैं।

नमूना—जरण-क-र दुइ पुत्र थिला ।···तेतेवेळे/से पहरिया ताहार बड़ पुत्र पदारु थिला ।···मु उठि बाप-पाख कु जाउँ ओ ताँ कु कहिबि···।

(एक आदमी के दो बेटे थे।···उस समय उसका बड़ा बेटा खेत में था।··· मैं उठकर बाप के पास जाता हूँ और उसको कहूँगा···।)

३.२.८. नेपाली—सारे नेपाल की भाषा आर्यभाषा नहीं है। नेपाल की व्यापक भाषा का नाम है नेवारी जो तिब्बत-चीनी परिवार से सम्बद्ध है। यहाँ के मूल निवासी तिब्बती भोटी जातियों के लोग हैं। आर्य जातियों में सर्वप्रथम खशों ने अपनी सत्ता का विस्तार यहाँ तक किया। सोलहवीं शती में उदयपुर के गोरक्षक राजपूतों ने अपना राज्य स्थापित किया। इन शासक और आर्य वर्गों की यह भाषा है जिसे नेपाली कहा जाता है। यह नाम अधिक प्रसिद्ध है और राज्य द्वारा मान्य है। वस्तुतः इसे गोरखाली कहना चाहिये। खसकुरा और परबतिया नामों से भी ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। इसकी दो बोलियाँ हैं—थरूहरी और डोटाल। सन् १७०० ई० से पूर्व का कोई नमूना नहीं मिलता। इसके बाद कुछ सरकारी अभिलेख मिलने लगते हैं। भानुभट्ट (१९वीं शती) का 'रामायण' प्रथम नेपाली काव्य-ग्रन्थ माना जाता है। वर्तमान काल में कवि देवकोटा लक्ष्मीप्रसाद, लोकगीतकार धर्मराज थापा, उपन्यास-लेखक पाण्डेय रुद्रराज, और नाटककार बालकृष्ण तथा भीमनिधि तिवारी प्रसिद्ध साहित्यकार हैं।

नेपाली में ब्रजभाषा की सब ध्वनियाँ पाई जाती हैं। उच्चारण में अनुनासिकता कुछ अधिक है। हामि = हाँमि, छु छुँ (हूँ)। अक्षर के अन्त का अ उच्चरित होता है, जैसे भाग = भागऽ (भाग् नहीं)। इ ए के साथ य-श्रुति पाई जाती है, जैसे गरे = गर्ये (किया)। ए ओ ह्रस्व भी हैं, दीर्घ भी। नेपाली और कुमाऊनी (पहाड़ी हिन्दी) में घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु कुमाऊनी का ण नेपाली में नहीं है।

नेपाली में व्याकरणिक लिंगभेद नहीं है। सजीव स्त्रियों से सम्बद्ध शब्द स्त्रीलिंग हैं, शेष सब शब्द पुंल्लिग हैं, जैसे तिमरो संदेस, तिमरो आज्ञा। बहुवचन में प्रायः हरु शब्द जुड़ता है, जैसे चाकर-हरु, अथवा कोटा-हरु (लड़के)। प्रायः पुंल्लिग शब्द राजस्थानी या ब्रजभाषा की तरह ओकारान्त हैं, बहुवचन में ऐसे शब्द आकारान्त हो जाते हैं। ऐसे शब्दों का तिर्यक् रूप भी आकारान्त होता है। शेष शब्द प्रायः अपरिवर्तित रहते हैं। परसर्ग निम्नलिखित हैं—

भारतीय भाषाएँ
हिन्दी प्रदेश
कश्मीर
पश्चिमी पंजाब
पंजाब
दिल्ली
नेपाल
सिंध
राजस्थान
उत्तर प्रदेश
असम
गुजरात
बिहार
मध्य प्रदेश
पं० बंगाल
बंगला देश
महाराष्ट्र
उड़ीसा
आंध्र
मैसूर
तमिलनाडु
सीलोन
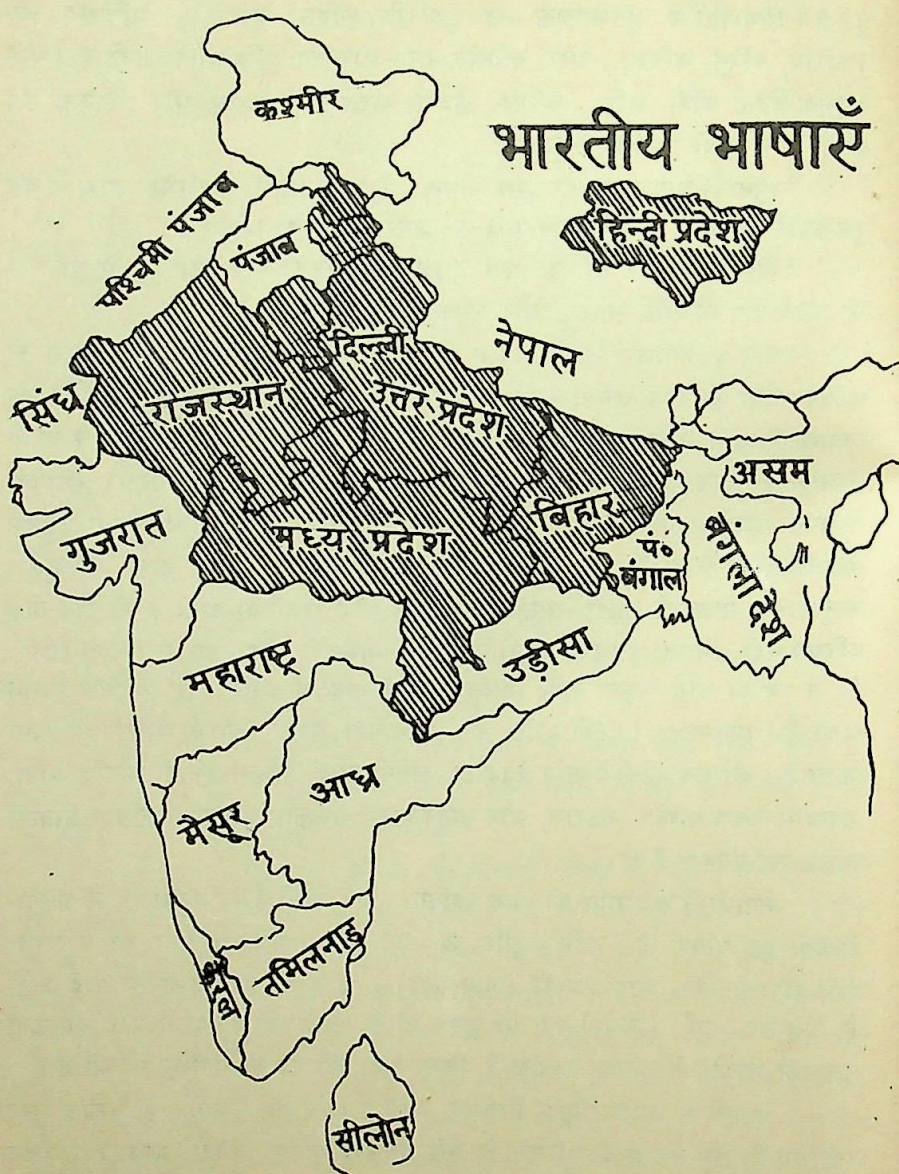
कर्त्ता०, ले (हिं० ने); कर्म-सम्प्रदान ताइ; करण-अपादान बाट; सम्बन्ध राजस्थानी को, का, की; और अधिकरण मा, माँ। 'चाहि' निश्चित अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है।

सर्वनाम सरल हैं—म (मैं), त (तू), हामि (हम), तिमि (तुम), मै ले (मैंने), तँ बाट (तुझ से), मेरो, तेरो, हामरो, तिमरो, तपाञि (आप), आफु (स्वयं), आपस्त मा (आपस में), यो (यह), उ (वह)।

क्रियापदों में संज्ञार्थक क्रिया गर्नु (करना), खांनु (खाना); वर्तमान कृदन्त गरदो (करता); भूत कृदन्त गर्‍यो (किया); पूर्वकालिक कृदन्त देखि, खाइ; भविष्यत् ल-रूप; सहायक क्रिया छ (है), थियो (था), गरथ्यो (करता था), जान छुँ (जाता हूँ)। प्रेरणार्थक क्रिया और संयुक्त क्रिया हिन्दी की तरह होती हैं।

नेपाली की लिपि देवनागरी ही है।

नमूना—एक जना मानिस का दुइ छोरा थिये।···तब तेस को जेठा चाहि छोरा खेत मा थियो।···म उठि आफनु बाबु थाँइ जान छुँ अनि उस लाइ भनुला।

(एक जन आदमी के दो लड़के थे।···तब उसका बड़ा बेटा खेत में था।···मैं उठकर अपने बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा···।)

३.२.९. **सिंहली**—सिंहली की प्रकृति से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध लाटी प्राकृत और गुर्जरी से है। ईसवी शती से पूर्व लाट देश या गुजरात और दक्षिण सिंध के लोगों ने लंका (सिंहल) में अपना उपनिवेश जा बसाया था। इस प्राचीन गुजराती के साथ वहाँ की आदि भाषा, मागधी, अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा लायी गयी। पालि, और तमिल से घुल-मिलकर जिस भाषा का विकास हुआ था, उसे सिंहली प्राकृत कहा जा सकता है। उसी से आधुनिक सिंहली, या (जैसा कि लोग कहते हैं) एळु भाषा विकसित हुई है। ८० लाख की जनसंख्या में ५७ लाख सिंहली बोलते हैं। इस समय यह सिंहल (सीलोन) की राजभाषा है। सिंहली में प्राप्त साहित्य दसवीं शती के आसपास से प्रारम्भ होता है।

ऋ का उच्चारण रु, च > स, स > ह, ह > अ, एवं अन्त्य वर्ण का लोप, जैसे पण्डि < सं० पण्डित, रा < सं० राग, महाप्राण ध्वनियों का अभाव—ये इस भाषा की ध्वनिगत विशेषताएँ हैं।

३.२.१०. हिन्दी और उसकी उपभाषाएँ

क. **हिन्दी**—'सिंध' से फ़ारसी में 'हिन्द' बनता है जैसे सप्त से हफ्त। बाद में 'सिंध' और 'हिन्द' की परिभाषा में भेद किया गया: सिन्धु नदी के दक्षिणी सिरे पर दाहिने-बायें बसा हुआ क्षेत्र तो सिन्ध कहलाया, और सारी सिन्धु नदी के

पार उत्तर और दक्षिण में अपनी प्राकृतिक सीमाओं तक और पूर्व में राजनीतिक सीमा तक के विशाल देश का नाम 'हिन्द' पड़ा। हिन्द की भाषा का नाम हिन्दी है। इसी अर्थ में फ़िरदौसी और अलबरूनी (११वीं शती), अमीर खुसरो (१४वीं शती) और अबुल फ़ज़ल (१६वीं शती), आदि ने हिन्दी शब्द को ग्रहण किया है। हिन्दी भाषाओं के निम्नलिखित नाम गिनाये गये हैं—देहलवी, बंगाली, मुलतानी, मारवाड़ी, गुजराती, तिलंगी, मरहट्टी, कर्नाटकी, सिन्धी, अफ़गानी, बिलोचिस्तानी और कश्मीरी (—अबुल फ़ज़ल)। अरबी साहित्य में हिन्दी का अर्थ 'हिन्द की भाषा' है। संस्कृत के पंचतन्त्र का जो अनुवाद अरबी में 'करिला दमना' नाम से (बरजवैह-कृत) है, उसकी भूमिका में आता है कि यह पुस्तक हिन्दी से अरबी में अनूदित हुई। 'तुज़ुक-इ-बाबरी' और 'तुज़ुक-इ-जहाँगीरी' में भी हिन्दी का अर्थ है 'हिन्द की कोई भाषा'। हिन्दी और हिन्दवी का अर्थ एक ही है। एक शब्द 'हिन्द' से व्युत्पन्न है, दूसरा 'हिन्दू' से। हिन्द के निवासी को ही हिन्दू कहा जाता था। हिन्दुस्तान का तो अर्थ ही है 'हिन्दुओं का देश'। हिन्द, हिन्दू, हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तानी—ये सब नाम मुसलमान आगन्तुकों द्वारा दिये गये। लगता है कि बाद में उन्हें जब अनुभव हुआ कि सारे हिन्द की 'भाषा' एक नहीं है तो विशिष्ट अर्थ में वे मध्यदेश की भाषा को हिन्दी कहने लगे। हो सकता है उन्हें लगा कि वास्तव में मध्यदेश की भाषा ही हिन्द भर की भाषा है, वरना कोई कारण नहीं है कि अर्थ का वैशिष्ट्य करते हुए पंजाबी, बँगला या गुजराती को हिन्द की भाषा (हिन्दी) नहीं कहा। बात भी ठीक है कि मध्ययुग के आरम्भ में सिन्धी, लाहौरी, बँगला, गुजराती आदि मात्र बोलियाँ थीं और इनको उन्होंने गिनाया ही है बोलियों में। किन्तु, हिन्दी सार्वदेशिक 'भाषा' थी। सिंधी, पंजाबी, बँगला, गुजराती आदि का जो साहित्य तब था, वह वस्तुतः लोक-साहित्य था। तभी तो महाराष्ट्र के नामदेव, तुकाराम आदि, गुजरात के नरसी महता और दूसरे भक्त कवि, पंजाब के नानक और अन्य सिख गुरु इसी सार्वदेशिक भाषा में लिखते थे—भले ही क्षेत्रीय जनता के लिए उन्होंने अपनी रचनाएँ लोकभाषाओं में भी कीं।

यह नहीं कहा जा सकता कि संकुचित अर्थ में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग कब से होने लगा। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी आदि तो इसको 'भाषा' या 'भाखा' कहते रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में मुसलमानों ने इसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का अनुपात बढ़ाना शुरू किया। इसे वे 'रेख़्ता हिन्दी' और फिर केवल 'रेख़्ता' (बनावटी) कहते थे। बहुत बाद में इसको उर्दू कहा जाने लगा। इस शब्द का और अपनी नयी शैली का उन्होंने इतना अधिक प्रचार किया कि बहुत से लोग हिन्दी को भी उर्दू कहने लगे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (स्थापित १८०० ई०)

के अधिकारियों ने हिन्दी को हिन्दुओं की, उर्दू को मुसलमानों की, और हिन्दुस्तानी को सामान्य जन की भाषा कहना अपनी साम्राज्यवादी नीति का अंग समझा। साम्प्रदायिकता को उभारने के लिए संस्कृति की और संस्कृति के माध्यम, भाषा, की दुहाई आवश्यक थी। इस चाल में वे बहुत-कुछ सफल हुए एवं शब्द के अर्थ में थोड़ा और संकोच आ गया। किन्तु, राष्ट्रीय जागृति के साथ पुनः अर्थविस्तार हुआ—कम से कम भाषा में साम्प्रदायिकता का भाव नहीं रहा। हिन्दी सारे हिन्द की भाषा तो है, किन्तु प्रान्तीयता के प्राधान्य और राष्ट्रीयता के ह्रास के कारण इसे अपना मौलिक अर्थ प्राप्त होने में अभी कठिनाई है।

ख. **हिन्दी प्रदेश**—यह हिन्दी ऐतिहासिक दृष्टि से युग-युग की मध्यदेशीय भाषाओं—संस्कृत, पालि, प्राकृत—की उत्तराधिकारिणी है। ये भाषाएँ मध्यदेशीय होते हुए भी देशव्यापी रही हैं। हिन्दी व्यवहार में राष्ट्रभाषा है ही, संविधान ने इसे राजभाषा बनाया है, किन्तु देश में केन्द्र से दूर के प्रदेशों के राजनीतिक लोगों के स्वार्थों के कारण राज्यों द्वारा इसे मान्यता प्राप्त नहीं हो पायी। इसलिए अभी यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी सारे हिन्द की भाषा है। वह मध्यदेश की भाषा है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, किन्तु हिन्दी का मध्यदेश आज बहुत बड़ा है। ग्रियर्सन के अनुसार पश्चिम में अम्बाला (पंजाब) से लेकर पूर्व में बनारस तक और उत्तर में नैनीताल की तलहटी से लेकर दक्षिण में बालाघाट (मध्यप्रदेश) तक हिन्दी की बोलियाँ बोली जाती हैं। इससे प्रकट है कि वे हिन्दी के साथ राजस्थानी और बिहारी बोलियों के सम्बन्ध को ठीक तरह से नहीं आँक पाये। इधर पचास वर्षों में यह सम्बन्ध अधिक स्पष्ट हो गया है, और आज यदि वे जीवित होते तो उन्हें स्वीकार करना पड़ता कि राजस्थानी और बिहारी बोलियाँ भी हिन्दी के अन्तर्गत हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने हिन्दी को एक बहुत बड़े क्षेत्र में फैलने का अवसर दिया है। इसका प्रमाण उन-उन क्षेत्रों के लोगों की निजी मान्यता है। वैसे तो पीढ़ियों से उनकी शिक्षा, उनके शासन, साहित्य, पत्र-व्यवहार आदि की भाषा हिन्दी रही है, किन्तु इस गणतन्त्रीय युग में लोकमत ने, विधान द्वारा और बिना किसी बाहरी दबाव के, अपनी मोहर लगा दी है। इन प्रान्तों में मारवाड़ी-जयपुरी आदि और मगही-मैथिली बोलियाँ तो हैं, किन्तु भाषाओं में उनका स्थान नहीं है—भाषा हिन्दी ही है। राजस्थानी या (विशेष रूप से) बिहारी भाषा जैसी कोई चीज़ नहीं—इनकी कोई अपनी लिपि नहीं, साहित्य की अपनी कोई परम्परा नहीं, शासन द्वारा कोई मान्यता प्राप्त नहीं, कोई एक स्वरूप नहीं, कोई सामान्य आदर्श नहीं। अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा' में डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने राजस्थानी को तो हिन्दी कह ही दिया है, किन्तु बिहारी के बारे में

वे कारणवश मौन हैं। कलकत्ता में लोग राजस्थानी को 'मारवाड़ी हिन्दी' कहते हैं, और बम्बई तथा पंजाब में बिहारी का नाम पूर्बिया हिन्दी प्रचलित है। पहाड़ी के बारे में ग्रियर्सन ने पहले ही क़बूल किया था कि पहाड़ी नाम की कोई भाषा नहीं है, केवल वर्गीकरण की सुविधा के लिए यह नाम कल्पित किया गया है। लोकमत और व्यवहार की दृष्टि से मध्य पहाड़ी—गढ़वाली और कुमाऊनी—हिन्दी ही है। हमने देखा है कि संविधान में राजस्थानी, बिहारी या पहाड़ी नाम की कोई 'भाषा' नहीं गिनाई गई।

इस कथन से हम ने हिन्दी-क्षेत्र की सीमाएँ निश्चित कर दी हैं, अर्थात् ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित सीमाओं के आगे पूर्व में बिहारी, पश्चिम में राजस्थानी, और उत्तर में मध्य पहाड़ी की सीमाएँ सम्मिलित कर लें; अर्थात् पश्चिम में अम्बाला से बीकानेर और जैसलमेर; दक्षिण में ताप्ती नदी, बालाघाट से दुर्ग; पूर्व में रायगढ़ से भागलपुर; एवं उत्तर में नेपाल की सीमा को छूते हुए गंगोत्री-जमनोत्री तक चले जाएँ—इस १०५० मील लम्बें और लगभग ६०० मील चौड़े भूभाग को हिन्दी प्रदेश कहते हैं। सन् १६२१ में इसकी जनसंख्या १३ करोड़ थी, वर्त्तमान समय में २२ करोड़ के लगभग है।

ग. हिन्दी की उपभाषाएँ—इस हिन्दी प्रदेश में ऐतिहासिक दृष्टि से पाँच प्राकृतें थीं—अपभ्रंश, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, मागधी और खस। जिसे हम हिन्दी कहते हैं, वह वास्तव में इन्हीं पाँच प्राकृतों की उत्तराधिकारिणी विभाषाओं का संघ है। अपभ्रंश से राजस्थानी हिन्दी, शौरसेनी से पश्चिमी हिन्दी, अर्द्धमागधी से पूर्वी हिन्दी, मागधी से बिहारी हिन्दी और खस से पहाड़ी हिन्दी का विकास हुआ है। ये हिन्दी की उपभाषाएँ हैं, इसलिए इनके साथ 'हिन्दी' शब्द जोड़ना उपयुक्त समझा गया है। उपभाषाएँ इसलिए कहा है कि एक तो इनके अन्तर्गत प्रत्येक की बोलियाँ और उपबोलियाँ हैं, और दूसरे, पहाड़ी हिन्दी को छोड़कर शेष सब की किसी-न-किसी बोली में साहित्य मिलता है—राजस्थानी की मारवाड़ी और जयपुरी बोलियों में, पश्चिमी हिन्दी की ब्रजभाषा और कौरवी (खड़ी) बोलियों में, पूर्वी हिन्दी की अवधी बोली में, एवं बिहारी की मैथिली बोली में। परम्परा सभी साहित्यों की विच्छिन्न हो जाती रही है, किन्तु चलती रही है हिन्दी की; क्योंकि इन सबका साहित्य हिन्दी साहित्य है। मध्यदेश की कोई बोली उठकर भाषा की पदवी प्राप्त करती है तो वह हिन्दी ही कहलायेगी। इंगलैंड में पहले कार्नवाली को आदर्श अंग्रेज़ी माना गया। बाद में लंदन की बोली मानक भाषा बनी। इसी प्रकार यहाँ पहले राजस्थानी (डिंगल) को, फिर ब्रजभाषा को और अब खड़ीबोली (कौरवी) को यह मान्यता

प्राप्त हुई है। बीच में अवधी की संभावनाएँ भी बहुत अधिक लगीं, किन्तु तुलसी की परम्परा को कोई अवधी साहित्यकार चला नहीं पाया। सूफ़ी साहित्य को हम अवधी का लोक-साहित्य ही मानते हैं, जिस प्रकार बुंदेली, भोजपुरी या मैथिली के साहित्य को लोक-साहित्य कहना पड़ेगा। ब्रजभाषा और खड़ीबोली को छोड़ किसी बोली को अपनी क्षेत्रीय सीमाओं के बाहर कहीं साहित्य का माध्यम नहीं बनाया गया। ब्रज-भाषा के साथ 'भाषा' नाम अब भी लगा हुआ है। लगभग ३०० वर्ष तक ब्रज की यह बोली सारे मध्यदेश की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही है। उस काल में भी खड़ी-बोली अस्तित्व में थी। संत कवियों की वाणी में और उससे पूर्व अमीर ख़ुसरो के लोकप्रिय चुटकुलों में इसका प्रयोग पाया जाता है। तब यह बोली मात्र थी। किन्तु, वर्तमान युग में इसकी-सी व्यापकता भारत की किसी भाषा को प्राप्त नहीं है। यह है ज़माने का फेर कि जो भाषा थी वह बोली बनकर रह गई, और जो बोली थी वह भाषा बन बैठी। जो लोग हिन्दी के इतिहास को खड़ीबोली के भाषापद पर आरूढ़ होने से आरम्भ करना चाहते हैं, वे भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं। डिंगल हिन्दी ही थी, ब्रजभाषा भी हिन्दी थी, खड़ीबोली हिन्दी है, और कल खड़ी-बोली का ह्रास हो जाने पर मध्यप्रदेश की कोई और बोली उठकर भाषा की पदवी पर प्रतिष्ठित की जायगी तो उसे भी हिन्दी ही कहा जायगा।

हिन्दी भाषा के पाँच वर्ग बनाने के प्रमुख आधार हैं इनमें के प्रत्येक वर्ग की बोलियों की सामान्य विशेषताएँ, जिनके सहारे इनका वैज्ञानिक अध्ययन करने में सुविधा होगी। नीचे प्रत्येक उपभाषा की सामान्य विशेषताएँ दी जा रही हैं। अगले प्रकरण में भिन्न-भिन्न बोलियों का कुछ अधिक विस्तृत विवरण दिया जायगा।

३.२.१० ग. १. पश्चिमी हिन्दी—पश्चिमी हिन्दी का क्षेत्र पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी की सीमा से लेकर पूर्व में अवधी और बघेली की सीमा तक, एवं उत्तर में पहाड़ी सीमा से दक्षिण में मराठी की सीमा तक चला गया है। इस क्षेत्र में हरियाणी या बाँगरू, कौरवी या खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बुंदेली या बुंदेलखण्डी और कन्नौजी—ये पाँच बोलियाँ बोली जाती हैं। इस क्षेत्र के बाहर दक्षिण में बम्बई, मद्रास और हैदराबाद के आसपास जो हिन्दी प्रायः मुसलमान घरों में बोली जाती है, उसका सम्बन्ध भी इसी वर्ग से है। उस बोली को दक्खिनी हिन्दी कहा जाता है। इन छः बोलियों को दो उपवर्गों मे बाँटा जा सकता है—१. हरियाणी, कौरवी और दक्खिनी आकारबहुला, और २. शेष तीन ओकारबहुला हैं। प्रथम उपवर्ग की बोलियों पर पंजाबी का प्रभाव अधिक है। इनमें कौरवी या खड़ीबोली प्रधान है। हमारा कहना तो यह है कि हरियाणी और दक्खिनी को कौरवी ही की उपबोलियाँ

मानना चाहिये। दूसरे उपवर्ग में ब्रजभाषा प्रमुख है। यदि स्थानीय भावुकता में न पड़कर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि बुंदेली और कन्नौजी सचमुच ब्रजभाषा ही की उपबोलियाँ हैं। हरियाणी में यदि पंजाबी के तत्व, दक्खिनी में तेलगू और मराठी के तत्व एवं कन्नौजी तथा बुंदेली में पूर्वी हिन्दी के तत्व कुछ अधिक आ गये हैं अवश्य, किन्तु इसी कारण से जो थोड़ा भेद आ गया है, वही इनको उपबोलियाँ बनाता है। इनमें सामान्यता इतनी अधिक है कि इन्हें अलग-अलग बोलियों की संज्ञा देना युक्तियुक्त न होगा।

इन बोलियों-उपबोलियों का परिचय अगले प्रकरण में दिया जा रहा है। यहाँ पर इस वर्ग के सामान्य लक्षण बताना अभीष्ट है।

पश्चिमी हिन्दी में उच्चारणगत खड़ापन है, अर्थात् तान में थोड़ा आरोह होता है। /**अ**/ विवृत है। /**ऐ**/ /**औ**/ मूल स्वर हैं, संयुक्त स्वर **अइ, अउ** इनसे भिन्न हैं। /**ण**/ और /**श**/ का उच्चारण स्पष्ट होता है, बल्कि /**ख़**/ /**ग़**/, /**ज़**/, /**फ़**/ भी प्रचलित हैं। आकारबहुला बोलियों में /**ड़**/ की अपेक्षा /**ड**/ और /**न**/ की अपेक्षा /**ण**/ अधिक बोला जाता है। ओकारबहुला बोलियों में /**ण**/ की जगह /**न**/, /**श**/ की जगह /**स**/, /**ड़**/ की जगह /**र**/ अधिक व्यापक है। /**य**/ और /**व**/ ध्वनियाँ सबमें पाई जाती हैं। महाप्राण ध्वनियों की महाप्राणता दब जाती है, जैसे **भी, नहीं, भूख, धंधा** के स्थान पर **नी, नईं**, भूक, धंदा आदि।

आ/ओकारान्त पुल्लिग संज्ञाओं का तिर्यक् एकवचन एकारान्त हो जाता है, शेष का मूल रूप तिर्यक् में अपरिवर्तित रहता है। तिर्यक् बहुवचन में आकार-बहुला बोलियों में **ओ** और ओकारबहुला उपवर्ग की बोलियों में **अन** होता है। कर्तृकारक **ने**, कर्म में **को**, और सम्बन्ध में **को/का, के, की**, विशिष्ट परसर्ग हैं। ओकारान्त या आकारान्त संज्ञा, विशेषण और क्रियापद लिंग और वचन के अनुसार बदलते हैं, जैसे पुं० **बड़ी छोरी गयो** या **बड़ा छोरा गया**, स्त्री० **बड़ी छोरी गयी**; बहुव० पुं० **बड़े छोरे गये**, स्त्री० **बड़ी छोरियाँ गईं**।

पश्चिमी हिन्दी बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग है।

ऊपर कहा जा चुका है कि साहित्य के क्षेत्र में पश्चिमी हिन्दी का प्राधान्य रहा है। हिन्दी का कोई ऐसा पाठक न होगा जो ब्रजभाषा अथवा खड़ीबोली के प्रमुख साहित्यकारों और उनकी रचनाओं से अपरिचित हो। अतः यहाँ पर अधिक विस्तार में कहने की आवश्यकता नहीं है।

३.२.१०. ग. २. राजस्थानी हिन्दी—ब्रजभाषा के साहित्य में प्रतिष्ठित होने से पूर्व हिन्दी प्रदेश में डिंगल (प्राचीन राजस्थानी) साहित्य का बोलबाला

था। इस प्रसंग में चंद बरदाई, दुरसाजी, बांकीदास, मुरारीदान, सूर्यमल्ल आदि बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों के नाम लिये जा सकते हैं। 'बीसलदेवरासो', 'ढोला मारूरा दूहा', और 'वेलि क्रिसन रुकमिणी री' आदि शृंगाररस के ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। मीरा, दादू, चरणदास, हरिदास आदि संत कवियों की वाणियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। गद्य साहित्य में वचनिकाओं, ख्यातों और वातों की अपनी विशाल परम्परा है। अधिकतर साहित्य मारवाड़ी में लिखा गया है। थोड़ा-बहुत जयपुरी में भी प्राप्त है। राजस्थानी सारे राजस्थान में और बाहर सिंध के कोने और मध्यप्रदेश के मालवा जनपद में बोली जाती है। इसकी बोलियों और उपबोलियों की कुल संख्या तीस के लगभग है; इनमें मारवाड़ी, जयपुरी (ढूँढाड़ी), मेवाती और मालवी चार प्रमुख बोलियाँ हैं। मेवाती का हरियाणी से, ढूँढाड़ी का ब्रजभाषा से, मालवी का बुंदेली से और मारवाड़ी का गुजराती से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भीली को डॉ० चटर्जी राजस्थानी की ही बोली मानते हैं। वास्तव में यह आदि भीली (अनार्य), गुजराती और राजस्थानी का सम्मिश्रित रूप है।

वर्त्तमान समय में राजस्थानी बोलने वालों की संख्या २ करोड़ १५ लाख है। भीली बोलने वालों की संख्या (२२ लाख) अलग है।

राजस्थानी सुनने वालों पर पहला प्रभाव यह पड़ता है कि यह उपभाषा टवर्ग-बहुला है—/ळ/, /ण/, /ड़/ अधिक प्रयुक्त होते हैं। मालवी में /ड़/ की अपेक्षा /ड/ अधिक प्रयुक्त होता है। अल्पप्राणीकरण के उदाहरण बहुत मिल जाते हैं। /य/ और /व/ का उच्चारण होता है। उत्तर-पश्चिमी और दक्षिणी बोलियों में /च/ का /स/, /ज/ का /ज़/, और /झ/ का /ज़्ह/ उच्चारण उल्लेखनीय है। इन्हीं बोलियों में /स/ का /ह/ हो जाता है, जैसे **हेट** (सेठ), **हौ** (सौ)। पश्चिमी हिन्दी की तुलना में राजस्थानी व्याकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—ओकारान्त पुंलिंग एकवचन का बहुवचन और तिर्यक् एकवचन आकारान्त होता है, शेष सब प्रकार के शब्द बहुवचन और तिर्यक् एकवचन में बदलते नहीं हैं; जैसे **तारो से तारा**; किन्तु **बादल, घोड़ी, रात** आदि का रूप वही बना रहता है। बहुवचन के अन्त में **-आँ** होता है—**ताराँ** (हिं० तारों), **बादलाँ** (हिं० बादलों), **राताँ** (हिं० रातों) इत्यादि।

कर्म-सम्प्रदान के **नै, नइं, रै**; करण-अपादान का **सूं**; सम्बन्ध **रो, रा, री** (मारवाड़ी में), **को, का, की** (शेष बोलियों में) व्यापक परसर्ग हैं। सर्वनामों और क्रियाओं के रूप ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं—अन्तर यही है कि बहुवचन में -ए, -एँ या -ऐं नहीं बल्कि -आँ होता है, जैसे **म्हे हाँ** (हम हैं), **इणाँ** (इन्हें)। **था थे थी** के लिए **हो हा ही** तो बिलकुल ब्रजभाषा की तरह हैं। भविष्यत् काल **-स-** रूप होता है, जैसे **चलसूं** (चलूंगा), **चलसी** (वह/तू चलेगा)। संज्ञार्थक क्रिया,

आज्ञार्थ भाव, प्रेरणार्थक क्रिया, कृदन्त आदि ब्रजभाषा के समान हैं; अन्तर केवल उच्चारण का है।

३.२.१०ग.३. **पूर्वी हिन्दी**—पूर्वी हिन्दी का वही क्षेत्र है जो प्राचीन काल में उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल था। उत्तर कोसल की बोली अवधी और दक्षिण कोसल की छत्तीसगढ़ी है। इन दो खण्डों के बीच में शताब्दियों तक बघेल राजपूतों का राज्य रहा है। बघेलखण्ड की एक राजनीतिक इकाई होने के कारण उसकी बोली बघेलखण्डी या बघेली को भी लोग अलग बोली मानते हैं। किन्तु, वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो बघेली को अवधी की एक उपबोली ही मानना पड़ेगा। कुछ विद्वानों ने भोजपुरी को भी पूर्वी हिन्दी की बोली माना है। पूर्वी हिन्दी की समस्त बोलियों में अवधी प्रधान है। इसमें भरपूर साहित्य मिलता है। मंझन, जायसी, उसमान, जान, नूरमुहम्मद आदि सूफ़ियों का काव्य ठेठ अवधी में, और तुलसी कृत 'रामचरित मानस' और 'रामलला नहछू', एवं मानदास, बाबा रामचरणदास और महाराज रघुराजसिंह का रामभक्ति-काव्य साहित्यिक अवधी में लिखा गया है। पूर्वी हिन्दी कानपुर से मिर्ज़ापुर तक (लगभग १५० मील) और लखीमपुर-नेपाल की सीमा से दुर्ग-बस्तर की सीमा तक (५५० मील) के क्षेत्र में बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या (भोजपुरी को छोड़कर) २¾ करोड़ है।

सामान्यता की दृष्टि से जितना घनिष्ठ सम्बन्ध आपस में इस उपवर्ग की बोलियों का है उतना किसी अन्य हिन्दी उपभाषा की बोलियों का नहीं है। /**ण**/ की जगह सदा /**न**/, और /**श**/ /**ष**/ की जगह /**स**/ बोला जाता है। /**ड**/ और /**ड़**/ सहस्वन हैं। शब्द के मध्य अथवा अन्त में /**ड**/ नहीं होता। प्रायः हिन्दी के शब्दों का /**ल**/ परिवर्तित होकर /**र**/ हो जाता है, जैसे **थारी, हर, फर** में। /**य**/ /**व**/ का उच्चारण क्रमशः **ज/ए** और **ब/उ** होता है, जैसे **जेह/एह, वकील/उकील** में। महाप्राण ध्वनियाँ शुद्ध और स्पष्ट हैं। इन बोलियों में उच्चारणगत पड़ापन है, अर्थात् शब्द के अंत में तान में अवरोह हो जाता है। /**अ**/ कुछ-कुछ संवृत तथा वृत्ताकार होता है। /**ऐ**/ /**औ**/ संयुक्त स्वर हैं—जैसे मैल, कौन का उच्चारण **मइल, कउन** करके होता है।

संज्ञा का रूप तिर्यक् एकवचन में तथा अविकृत बहुवचन में मूल एकवचन वाला बना रहता है। कर्तृ कारक परसर्ग '**ने**' नहीं होता, एवं सकर्मक-अकर्मक क्रिया के साथ कर्ता के रूप में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। कर्मकारक में **के**, सम्बन्ध में **के केर**, सम्प्रदान में **के करे**, करण-अपादान में **से**, और अधिकरण में **मां** परसर्ग लगते हैं। सर्वनामों में **हम-तुम** का अर्थ एकवचन होता है। **जउन** (जो), **तउन** (सो), **के/कउन** (कौन) सर्वत्र एक-से व्यवहृत होते हैं। इन बोलियों में क्रिया

के रूप कुछ अधिक जटिल हैं। एक तो बहुत से तिङन्तीय रूप अभी तक अवशिष्ट हैं और दूसरे क्रिया के साथ सार्वनामिक प्रत्यय लगते हैं, जैसे **आइत-ई** (मैं आता हूँ), **करत्या** (तू करता), **पूछिस** (उसने उससे पूछा), मोज० **देहलिस**, अन्यत्र **देहिस** (उसने उसको दिया), इत्यादि। भविष्यत् काल में -ह-, -ब- **दोनों** रूप प्रचलित हैं। जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं, विशेषण और क्रिया में का लिंगभेद लुप्त होता जाता है। विदेशी शब्दावली का प्रभाव कम है।

३.२.१० ग ४. **बिहारी हिन्दी**—बिहारी में तीन हिन्दी बोलियाँ— भोजपुरी, मगही, और मैथिली—और कई उपबोलियाँ बोली जाती हैं। भोजपुरी का अधिक क्षेत्र उत्तर प्रदेश में पड़ता है, इसलिए इसे बिहारी बोली कहने में कतिपय विद्वानों को संकोच है। वैसे तो बिहार की सभी बोलियों में पारस्परिक वैषम्य बहुत अधिक है, किन्तु मोटे तौर पर भोजपुरी का निकट सम्बन्ध अवधी से है और मगही का मैथिली से। साहित्यिक परम्परा केवल मैथिली की रही है। उसका मध्यकालीन नाटक-साहित्य विशेषतया उल्लेखनीय है।—देखिए ४.२.५.

अँग्रेज़ी राज्य के आरम्भ में कुछ काल तक बिहार बंगाल के साथ जुड़ा रहा। तब कुछ भाषाविद् अँग्रेज़ों ने कह दिया कि बिहारी का सम्बन्ध भी बँगला के साथ है। किन्तु, जैसा कि हमने पहले भी कहा है (पृ० ४५,५६) बिहार का सांस्कृतिक, शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सामाजिक सम्बन्ध उत्तर प्रदेश के साथ रहा है और अब भी है, बल्कि उत्तर प्रदेश के लोग हाल तक बिहार के अनेक ज़िलों में जाकर बसते रहे हैं। आज लोकमत की प्रबलता के कारण अँग्रेज़ों द्वारा फैलायी हुई भ्रान्ति दूर हो गयी है। बिहारी का सम्बन्ध निश्चित रूप से पूर्वी हिन्दी से अधिक घनिष्ठ है।

बिहारी पूर्वी हिन्दी से कुछ अधिक अकारबहुला उपभाषा है, जैसे **घोड़, भल, देखित**। अक्षर के अन्त में, कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर, **अ** का उच्चारण होता है, जैसे **कमला=कमऽला**, कम्ला नहीं। **अ** कुछ अधिक संवृत और वृत्ताकार होता है। शेष ध्वनियाँ पूर्वी हिन्दी के समान हैं।

संज्ञाओं के रूपान्तर में करण कारक विकल्प से विभक्त्यात्मक **-एँ** है, जैसे **रघुएँ, नेना सबहिएँ** (बच्चों से)। कारकीय परसर्ग पूर्वी हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं हैं, अर्थात् कर्म **कें, के**; करण-सम्प्रदान **से, सँ, सौं**; सम्बन्ध **कर, केर**; अधिकरण **मँ, में**। मगही और मैथिली का **लेल/लै** (को) विशिष्ट है। संज्ञा के तीन रूप **घोरा, घोरवा, घोरउआ**; अथवा **घोरी, घोरिया, घोरइवा** पूर्वी हिन्दी से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। बहुवचन में -न, -नि, अथवा समूहवाची शब्द—**लोकनि, सभ** आदि लगते हैं। तिर्यक् रूप में **आ** अवश्य इन बोलियों की अपनी विशेषता है। सर्वनामों में बहुवचन **तोहनी, तोहरनी, हमनी, हमरनी**, आदि विशिष्ट हैं। क्रियापदों में

जटिलता भी है, अनेकरूपता भी। इस विषय में बिहारी बोलियों का परस्पर साम्य कम है, वैषम्य अधिक (देखिए अगले प्रकरण में यथास्थान)। मोटे तौर पर वर्तमान **त**-रूप, भूतकालिक **ल**-रूप और भविष्यत् **ब**-रूप सब में सामान्य है। सहायक क्रियाएँ तीनों में भिन्न हैं—भोजपुरी **बाटे**, रहल; मगही **है**, हल; मैथिली **छै**, **छल**।

संक्षेप में, इतना कहा जा सकता है कि बिहारी बोलियों के जो तत्त्व सामान्य हैं, वे प्रायः पूर्वी हिन्दी में भी प्राप्त हो जाते हैं, और जो भिन्न हैं वे बिहारी के (जैसा कि ग्रियर्सन और चटर्जी सोचते हैं) एक अलग भाषा और एक सुगठित इकाई बनाने में बाधक हैं।

३.२.१० ग. ५. पहाड़ी हिन्दी—इससे हमारा तात्पर्य उस उपवर्ग से है जिसे ग्रियर्सन ने मध्य पहाड़ी कहा और जिसके अन्तर्गत गढ़वाली और कुमाऊनी बोलियाँ हैं। मूलतः गढ़वाल और कुमाऊँ में किरात आदि अनार्य जातियाँ बसी थीं। बाद में इन पर तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाओं का प्रभाव रहा। धीरे-धीरे भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रभाव बढ़ता रहा है। प्राचीन काल से ही इस भूभाग में वैदिक संस्कृति के केन्द्र स्थापित होने लगे। यहाँ की वनस्थलियाँ तपोभूमियाँ बन गयीं। तीर्थदेश होने के कारण अखिल भारतीय भाषाओं का समागम भी यत्र-तत्र होने लगा। बाद में खश जातियों का आधिपत्य स्थापित हुआ। आज भी खसिया लोग अधिक संख्या में हैं, और कुमाऊनी की मुख्य उपबोली खसपरजिया कहलाती है। मध्यकाल में राजपूतों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इन ठाकुरों के व्यापक प्रभाव से अनार्य तत्त्व क्षीण होते गये। अब इस उपवर्ग की भाषाएँ हिन्दी के रूप में ढल गयी हैं। राजस्थानी से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत होने के कारण इन पर हिन्दी का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा है।

पहाड़ी हिन्दी की कोई साहित्यिक परम्परा नहीं है। अतः इसे उपभाषा कहने में भी संकोच होता है, किन्तु यह हिन्दी का एक विशिष्ट उपवर्ग अवश्य है।

इस उपवर्ग की हिन्दी में सानुनासिक स्वरों की अधिकता है। ग्रामीण बोलियों में **य-व**-श्रुति सुनायी देती हैं। शेष ध्वनियाँ राजस्थानी से मिलती-जुलती हैं।

पुंल्लिग संज्ञाएँ प्रायः ओकारान्त, पुंल्लिग एकवचन तिर्यक् आकारान्त, और बहुवचन कुमाऊनी में -न, गढ़वाली में **-ऊँ** होता है। स्त्रीलिंग का तिर्यक् रूप प्रायः नहीं बदलता। परसर्ग दोनों बोलियों के भिन्न हैं। क्रियारूपों में साम्य अधिक है। भूतकालिक रूप ब्रजभाषा की तरह **चल्यो, छियो** (था); और भविष्यत् काल **ल**-रूप **चलला, हिटला** सामान्य है। वर्तमान काल में भिन्नता है। देखिए अगले प्रकरण के अन्त में।

संक्षेप

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण जिन आधारों पर ग्रियर्सन और चैटर्जी ने किया है, उन पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। हम इन के दो वर्ग मानते हैं—१. हिन्दी और उसकी उपभाषाएँ; और २. हिन्दीतर भाषाएँ (पंजाबी; सिंधी; गुजराती; मराठी; उड़िया; बँगला; असमी; नेपाली और सिंहली)।

साहित्यिक दृष्टि से बँगला में १८५०-१९२५ तक का बहुमुखी साहित्य. मराठी का संत-साहित्य और आधुनिक कथा साहित्य, गुजराती का वैष्णव काव्य एवं आधुनिक उपन्यास साहित्य, पंजाबी में सिख गुरुओं की वाणियाँ और मध्यकालीन किस्से, असमी का वैष्णव काव्य और इतिहास साहित्य, उड़िया के गीत, सिन्धी के किस्से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी की साहित्यिक सम्पत्ति सब से अधिक है। नेपाली और सिंहली में साहित्य का अभाव-सा है।

हिन्दी की दृष्टि से पंजाबी की संरचना सब से सरल है। पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी की प्रकृति में बहुत अधिक साम्य है। इस के उपरान्त गुजराती का स्थान है जिसे राजस्थानी हिन्दी के माध्यम से सहज में समझा जा सकता है। गुजराती का एक ओर सिंधी से और दूसरी ओर मराठी से रूपात्मक सम्बन्ध है। मराठी में तीन लिंग और श, ल तथा च-ज का द्विविध उच्चारण उल्लेखनीय है। राजस्थानी का प्रभाव पहाड़ी भाषाओं के विकास में भी रहा है। नेपाली का अध्ययन भी राजस्थानी के माध्यम से करना चाहिये। बिहारी हिन्दी के माध्यम से बँगला, उड़िया और असमी को समझने में सुविधा होगी।

हिन्दी की पाँच उपभाषाएँ हैं—पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी हिन्दी और पहाड़ी हिन्दी।

४. हिन्दी बोलियाँ

हिन्दी बोलियों में मारवाड़ी, राजस्थानी, अवधी, ब्रजभाषा और खड़ीबोली समय-समय पर साहित्य में प्रतिष्ठित रही हैं। इनका विस्तृत विवरण देते हुए अन्य सम्बद्ध बोलियों का परिचय और उनकी प्रमुख विशेषताएँ नीचे दी जा रही हैं—
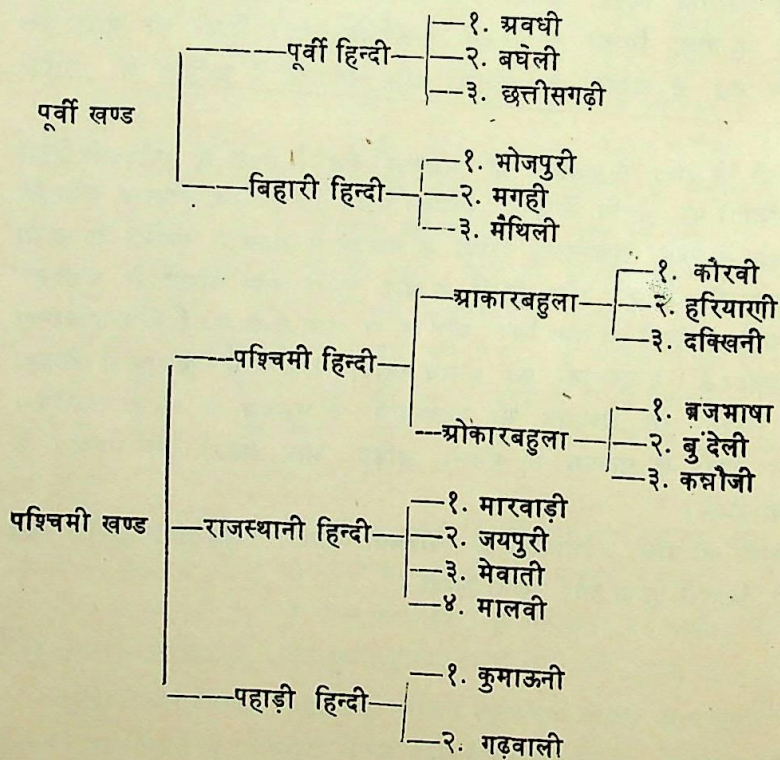
४.१. अवधी

अर्धमागधी से विकसित पूर्वी हिन्दी बोलियों में अवधी सर्वप्रधान और प्रतिनिधि बोली है। 'अयोध्या' से औध और अवध नाम बना है। अयोध्या का प्रदेश कोसल के अन्तर्गत था, इसलिए अवधी को कोसली भी कहा गया है।

'पूरबिया' नाम ठीक नहीं है, क्योंकि बिहार की बोलियों को भी पूरबिया कहा जाता है। बैसवाड़ा तो अवध का एक भाग मात्र है, इसलिए 'बैसवाड़ी' नाम भी ठीक नहीं है। 'अवधी' नाम ही ठीक है। हरदोई ज़िले को छोड़कर शेष सारे अवध प्रान्त (अर्थात् लखीमपुर, खेरी, बहराइच, गोंडा, बाराबंकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फ़ैज़ाबाद, सुलतानपुर, प्रतापगढ़ और रायबरेली) की बोली अवधी है। अवध के बाहर जौनपुर-मिर्ज़ापुर के पश्चिमी भाग और गंगा के दाहिने किनारे फतेहपुर और इलाहाबाद में भी अवधी बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या १ करोड़ ६० लाख के लगभग है। खड़ीबोली की तुलना में अवधी के स्वरों की मात्रा कुछ कम होती है। **अ** अर्धसंवृत है। काव्य में छन्दों की गणना से सिद्ध होता है कि शब्दान्त **अ** का उच्चारण होता था, यद्यपि आज ऐसे शब्द व्यंजनान्त बोले जाते हैं—**नखत, ऊख** (जायसी); **मन, हिय, काज** (तुलसी); **अचरज, रात, जीभ** (नूरमुहम्मद)। **इआ** के बीच में य-श्रुति एवं **उआ** के बीच में व-श्रुति नहीं है, जैसे **सिआर** (खड़ीबोली में **सियार** या **स्यार**), **गुआल** (खड़ीबोली में **ग्वाल**)। **ऐ, औ** संध्यक्षर हैं—**अइ, अउ**; जैसे **जइसे, अउरत** में। ह्रस्व ए, ओ (जैसे **बेटवा, लोटवा** में) दीर्घ ए, ओ के अतिरिक्त पाये
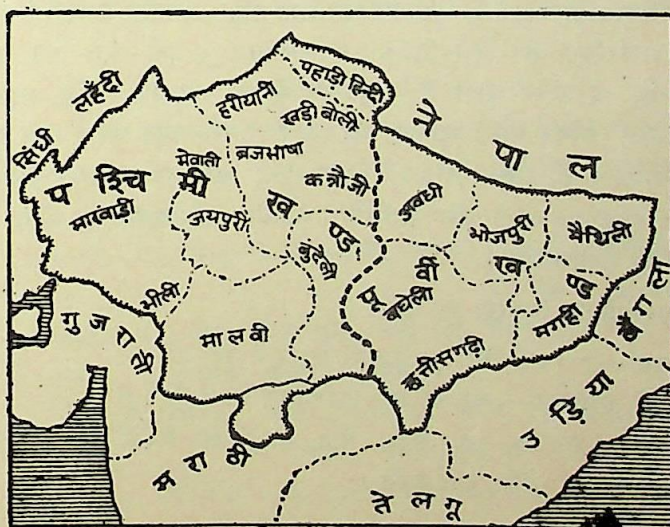
जाते हैं, यद्यपि लिखाई में दोनों का रूप एक ही रखा गया है। **/ण/** के स्थान पर **/न/** मिलता है, जैसे **गुन** (<गुण), **लछमन** (लक्ष्मण), इत्यादि। संस्कृत के शब्दों में **/ण/** लिखा तो जाता रहा है, किन्तु वर्तमान समय में उसका उच्चारण **ड़ँ** की तरह करते हैं, जैसे **गौंड़, गुंड़**। **/श/ /ष/** का उच्चारण प्रयत्न करने पर भी बहुत से

लोग नहीं कर पाते; संस्कार /स/ का ही पड़ गया है, जैसे **रिसि बिस्वामित्र** (ऋषि विश्वामित्र), **भूसंड़** (भूषण), इत्यादि। साहित्य में तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों में /श/, /ष/ मिलता है, जैसे **श्रुतकीर्ति, देश, भूषण, बिसेषि**; किन्तु **देषि** आदि शब्दों से लगता है कि /ष/ का प्रयोग /ख/ के लिए होता था और इसका /ख/ उच्चारण व्यापक रहा होगा। /व/ को व्यंजन-रूप में /ब/ और स्वर-रूप में /उ/, /ओ/ करके बोलते हैं, जैसे **बाहन, ब्याकुल, उकील, ओकील, हरदेउ**। इसी प्रकार /य/ का व्यंजन-रूप उच्चारण /ज/ और स्वर-रूप उच्चारण /ए/ जैसा होता है। नासिक्य ध्वनि के बाद /ड/ /ढ/ उच्चरित होते हैं, किन्तु साधारणतः केवल शब्द के आदि में /ड/ /ढ/ पाये जाते हैं, बीच में इनकी सहध्वनियाँ /ड़/ /ढ़/ ही मिलती हैं।

संज्ञा शब्दों के तीन-तीन रूप मिलते हैं—पुं० **घोर, घोरवा, घोरौना**, स्त्री० **बेटी, बिटिया, बिटइवा**; किन्तु साहित्य में तीसरा रूप प्रायः नहीं मिलता। **-वा, -इआ** वाले रूप व्यक्तिवाचक और विदेशी शब्दों तक की बनावट में प्रयुक्त होते हैं, जैसे **जगदीसवा, रजिस्टरवा जगदइआ, पिंसिलिया**। बहुवचन खड़ीबोली की तरह बनते हैं—**सपन से सपने, पत्थर से पत्थर, रिसि से रिसि, बात से बातें**; किन्तु एकवचन बहुवचन के लिए भी प्रयुक्त हो जाता है—जैसे **लरिका जात रहिन**। **असीस** से **असीसी** खड़ीबोली के लिए अपरिचित रूप है। तिर्यक रूप एकवचन में वही मूल रूप रहता है, अथवा **-हिं, -इं** प्रत्यय जुड़ते हैं; बहुवचन में **-न, -न्ह, -नि, -न्हि** आदि प्रत्यय लगते हैं, जैसे **लोगन जान, मुनिन्ह** कीर्ति गाई। स्त्री-प्रत्यय अवधी और खड़ीबोली के लगभग एक-से हैं, किन्तु खड़ीबोली का **-न, -इन** या **-आइन** अवधी में **-नि, -इनि** या **-आइनि** होता है, जैसे **मालिनि, नाउनि, पण्डिताइनि**। **मौसा** के लिए **मउसिया** भी उल्लेखनीय है।

परसर्गों का विवरण इस प्रकार है—

कर्ता—० (खड़ीबोली का ने पूर्वी हिन्दी में नहीं है)।

कर्म, सम्प्रदान—का, क, काँ, साहित्यिक अवधी में कहुँ भी।

करण, अपादान—**से, सेनी, सेन;** साहित्यिक अवधी में **सउँ, सौं, तें (रतन तें, केलि सौं), सेंति, हुंत आदि**।

सम्प्रदान—**बरे, बदे**।

सम्बन्ध—**के, कर, केर, क; की, कै** (स्त्रीलिंग) (**गाढ़ के साथी, दई कर नाउँ, गोसाई केर, ओहि क पानि, बारी की नाइं**)।

अधिकरण—**में, म, पर;** साहित्य में **महुँ, महँ, माँहा, माँझ** भी।

साहित्यिक अवधी में बिना परसर्गों के भी सभी अर्थों में प्रयोग मिल जाते हैं, जैसे **गनन्हि मन राता** (अधिकरण लुप्त), **सोनै साजा** (करण लुप्त) **हैं** [illegible]

सछंपहि कहा (कर्म लुप्त) ।

अन्य परसर्ग—**संग, लगि, लागि, पाँहि, पास, ताँई, बीच, लइ** ।

निम्नलिखित विवरण से सर्वनामों की स्थिति स्पष्ट हो जायगी—

उत्तम पुरुष—एकवचन **मैं, मइँ**; तिर्यक् **मो-, मोहि**; संबंध **मोर**;

बहुवचन **हम, हम लोग**; तिर्यक् **हमहिं**; संबंध **हमार**;

मध्यम पुरुष—एकवचन **तू, तै, तइँ**; तिर्यक् **तो-, तोहि**; संबंध **तोर**;

बहुवचन **तुम, तुम्ह, तुम लोग**, तिर्यक् **तुम, तुम्हहिं**; संबंध **तुम्हार, तोहार** ।

अन्यपुरुष—एकवचन : **वह** (आधुनिक **ऊ**); तिर्यक् **ओ, ओहि**; संबंध **ओकर**

बहुवचन : **वेइ, तेइ** (आधुनिक **ऊ**); तिर्यक् **उन, उन्ह, तिन्ह, उन्हहिं**; संबंध **उन/उन्ह कर**;

एकवचन : **यह** (आधुनिक **ई**); तिर्यक् **ए, एहि**; संबंध **एकर**;

बहुवचन : **ए, ये** (आधुनिक **ई**); तिर्यक् **इन, इन्हि**; संबंध **इनकर** ।

एकवचन : **से**; तिर्यक् **ते**; संबंध **तेकर**;

बहुवचन : **ते, तवन**; तिर्यक् **तेन**; संबंध **तेनकर** ।

संबंधवाचक—**जो, जेइ, जवन**; तिर्यक् **जिह, जिहिहिं**; बहुवचन **जिन, जिन्ह** ।

प्रश्नवाचक—**के, कवन; का** (खड़ीबोली में **क्या**); **काहे** । साहित्य में **को, केइ, कहि, काहि** भी ।

अनिश्चयवाचक—**कोइ, कोउ, काहु, केहुँ; कछु, कछुक, कुछ** ।

निजवाचक—**आपु, आप; आपुहिं; आपन** ।

सर्वनाममूलक विशेषण—**अस** (आधुनिक **अइस** इत्यादि), **जस, कस, एतन, ओतन, उत, कत** ।

विशेषण प्रायः मूल में अकारान्त (अब व्यंजनान्त) होते हैं, जैसे **नीक, भल, बड़, खोट, थोर, मोर, हमार, केकर** इत्यादि । स्त्रीलिंग संज्ञाओं के रहते इन विशेषणों के साथ **-इ** या **-ई** प्रत्यय लगता है, जैसे **नीकी, मीठी, आपनि, घनि, ओकरी, मोरी** । कई प्रयोगों में लिंग-परिवर्तन नहीं होता, जैसे **नीक बात, खोट चाल** । बहुवचन में केवल पुंल्लिग में विकल्प से परिवर्तन होता है और **-ए** प्रत्यय जुड़ता है । जैसे, **दुइ दीपक उजियारे** ।

गिनती के निम्नलिखित शब्द, जो खड़ीबोली हिन्दी से भिन्न हैं, उल्लेखनीय

हैं—**दुइ, तीनि, छा, एगारा, एग्यारा; पहिल, दोसर** (दूसर), **दूजा, तिसरे**। निम्नलिखित अव्यय भी अवधी के विशिष्ट हैं—**कालि** (कल), **भोर** (सबेरे), **पुनि** (फिर), **बहोरी** (फिर), **बेगि** (जल्दी), **पाछे**—आधुनिक **फिन** या **फुन** (फिर), **इहाँ, उहाँ, तहाँ, तहवाँ, सउँह** (सामने), **निअरे, इत, उत, इमि** (यों), **तस, जस, नाइँ, जिनि** (मत), **किन** (क्यों न), **अवसि** (अवश्य), **औ** या **अरु** (और) **बरु** या **बरुक** (भले ही), **-ऊ** या **-हू** (भी)।

अवधी में विविध सहायक क्रियापद प्राप्त होते हैं—(वर्तमान) **आटे, बाटे,** है, **अहै;** (भूतकाल में) **भए, रहे**। साहित्य में **अछ** भी मिलता है, किन्तु यह उधार लिया हुआ रूप है। अवधी की एक प्रमुख बोली बैसवाड़ी में **आहि** और **आय** भी पाये जाते हैं। सहायक क्रिया के रूप इस प्रकार होंगे—

एकवचन **बाटयउँ, बाटस, बाटइ** अथवा **अहेउँ, अहस, अहै**।

बहुवचन **बाटी, बाटिव, बाटें** अथवा **अही, अहिन, अहें**।

अकाल-क्रिया या संज्ञार्थक क्रिया प्रायः **-ब-**रूप होती है, जैसे **देखब** (देखना), **करब** (करना), **देखिबे का** (देखने को) अथवा **खाए क** (खाने को)। वर्तमान कृदन्त **देखते, देखित, करत;** भूत कृदन्त **देखा, करा, पावा, भवा** (हुआ); पूर्व-कालिक कृदन्त **देखिके, करिके**। साहित्य में प्राप्त निम्नलिखित कृदन्तीय रूप उल्लेखनीय हैं— **सिराति न राति, पाइत भोगू, देखिअत; नारद जानेउ, रथ समेत रबि थाकेउ**। भविष्यत् काल में -ह- रूप, तथा -ब-रूप होता है, जैसे **देखब, करब; देखिहैं**। -ह-रूप वर्तमान अवधी में लुप्त प्राय है। कालों और अर्थों के शेष रूप अधोलिखित हैं। इनसे लिंग, वचन और पुरुष भी जाने जा सकेंगे।

संभाव्य वर्तमान—स्त्रीलिंग पुंल्लिंग दोनों में—**देखउँ, देखौं** (देखूँ), **देखी** (हम देखें) **देख, देखा** (तू देख), **देखउ, देखो** (तुम देखो); एवं **देखस** (तू उसको देख), **देखव** (तुम देखो), **देखइ** (वह देखे), **देखें** (हम देखें)।

वर्तमान आज्ञार्थ—**सुनु, सुन, सुनस,** (तू उसको सुन), **सुनहि** (साहित्य में); **सुनौ, सुना, सुनव** (तुम सुनो), **सुनहु** (साहित्य में); **सुनउ** (सुनिए)।

भविष्यत् आज्ञार्थ—**देखसु** (तू देखना), **देखहु** (तुम देखना)।

भविष्यत् **कहबूँ** (मैं कहूँगा), **कहब** (हम कहेंगे); **कहबे** या **कहबेस** (तू कहेगा), **कहबो** (तुम कहोगे); **कहे, कहिहै** (वह कहेगा), **कहिहैं** (वे कहेंगे); साहित्य में **जइहसि** (तू जायेगा)।

मूतकाल—पुंल्लिग में—**(मैं) सुनेउँ, सुना** या **सुनेन; (तू) सुनेस, सुनेउ** या **सुना, (वह) सुनेस** या **सुनै, सुनेन** या **सुनै**।
स्त्रीलिंग में—**(मैं) देखिउँ, देखी; (तू) देखिस, देखी; (वह) देखी** या **देखिसि, देखी** या **देखिनि**।

सम्भाव्य भूत—पुंल्लिग में—(मैं) **वेखतेउँ, देखित; (तू) वेखतेस, देखतेहु; (वह) वेखत, वेखतेन ।**

स्त्रीलिंग में—(मैं) **देखतिउँ, देखित; (तू) देखतिस, वेखतिन; (वह) देखित, वेखतिन ।**

शेष रूप सहायक क्रिया और कृदन्तों से सहज में सम्पादित होते हैं । प्रेरणार्थक क्रिया **-आव-** से बनती है, जैसे **सुनावहिं**; किन्तु पूर्व और पश्चिम के रूप भी साहित्य में मिल जाते हैं, जैसे **मिल** से **मेलाए**, **मिट** से **मेटे** एवं **बैठ** से **बैठारे** ।

नमूना—एक मनई के दुइ बेटवे रहिन ।···ओई जून ओकर जेठ बेटवा खेत माँ रहा ।···हम उठ के अपने बाप के लग जाइथै अउर उस से कहब···।

४.२. अन्य पूर्वी बोलियाँ

४.२.१. **बघेली**—बघेली को अवधी की दक्षिणी शाखा कहना ही उचित होगा । लोकमत बघेली को एक बोली अवश्य मानता है, किन्तु इस जनमत का आधार ऐतिहासिक है, भाषावैज्ञानिक नहीं । बघेलखण्ड महाभारत काल से एक स्व-तन्त्र राज्य रहा है । १२वीं शती में सोलंकी राजपूत व्याघ्रदेव ने बघेल-वंश की नींव डाली, जिससे प्रदेश का नाम बघेलखण्ड और बोली का बघेलखण्डी या बघेली पड़ गया । रीवा इसका केन्द्र है, किन्तु बघेलखण्ड के बाहर भी बघेली बोली जाती है । इसका क्षेत्र उत्तर में मध्यप्रदेश-उत्तरप्रदेश की सीमा से लेकर दक्षिण में बालाघाट तक, और पश्चिम में दमोह और बाँदा की पूर्वी सीमा से लेकर पूर्व में मिर्ज़ापुर, छोटा नागपुर और बिलासपुर की पश्चिमी सीमाओं तक फैला हुआ है । बघेली बोलने वालों की संख्या ५० लाख के लगभग है । बघेली में ललित साहित्य का प्रायः अभाव है; थोड़े से दानपत्र, दो-चार धार्मिक ग्रंथ और लोकगीतों तथा कथाओं के संग्रह प्राप्त हैं ।

अवधी की अपेक्षा बघेली में /व/ से /ब/ उच्चारण करने की प्रवृत्ति अधिक है, जैसे **आबा** (अवधी **आवा**, हिं० **आया**) । परसर्गों में कर्म-सम्प्रदान के **क, का** के अतिरिक्त **कहा**, और करण-अपादान में **ते** के अतिरिक्त **तार** उल्लेखनीय हैं । सर्वनामों में **म्वाँ, मोहीं** (मुझे), **त्वा, तोहीं** (तुझे), **वहि** (उसको), **यहि** (इसको) विशिष्ट हैं । विशेषण के निर्माण में -हा प्रत्यय अधिकतर लगता है, जैसे **अधिकहा, नीकहा** में । क्रियारूपों के निम्नलिखित भेद विचारणीय हैं **-चरामै का** (चराने का), **देख-कै** (देखकर); भूतकालिक अवधी **रहा, रहेन** के अतिरिक्त बुंदेली **ता, तें** भी प्रचलित हैं । अवधी में भविष्यत् काल में **-ब-**रूप की और बघेली में **-ह-**रूप की प्रधानता है, जैसे **जइहौं, कहिहौं** । शब्दावली में आदिवासियों की भाषाओं के तत्व भी पाये जाते हैं ।

नमूना—एक मनई के दुइ लरिका रहैं ।···तब वोकर जेठ लरिका खेत मा रहा तै ।···मैं उठि कै अपने बाप के लघे जात हौं औ वो से कहिहौं···।

४.२.२. **छत्तीसगढ़ी**—कहते हैं कि मध्यप्रदेश के पूर्वोत्तर में पलामू (बिहार) की सीमा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और पश्चिम में बघेलखण्ड को छूता हुआ पूर्व में उड़ीसा की सीमा तक फैला हुआ जो क्षेत्र है उसमें छत्तीस गढ़—रायगढ़, सारंगढ़, खैरागढ़ आदि—बने थे। इन ३६ गढ़ों के कारण उस भूखण्ड को छत्तीसगढ़ और बोली को छत्तीसगढ़ी कहा जाता है। (हमें ३६ गढ़ों के नाम नहीं मिले।) इतिहास में इस क्षेत्र को दक्षिण कोसल, दण्डकारण्य, और गौंडवाना कहा जाता रहा है। चेदि राजाओं के नाम पर इसका नाम चेदीशगढ़ था। चेदीशगढ़ से लोक में छत्तीसगढ़ बन गया। इसके अन्तर्गत सरगुजा, कोरिया, बिलासपुर रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, नन्दगाँव और काँकेर के मण्डल सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र में कई लाख आदिवासी रहते हैं। उनकी बोलियों के अलावा मराठी, तेलगू और उड़िया का प्रभाव भी छत्तीसगढ़ी में देखा जा सकता है।

जनसंख्या ६८ लाख के आसपास है। प्राचीन साहित्य बिल्कुल नहीं है। आधुनिक युग में कतिपय लोककवियों ने काव्य-रचनाएँ की हैं।

ध्वनिगत विशेषताओं में महाप्राणीकरण की अधिक प्रवृत्ति, जैसे **धौंड़** (दौड़), **कछेरी** (कचहरी), **झन** (जन), **झिन** (जनि, नहीं), **जाथ** (जात है), **जाथउँ** (जाए हउँ) में; और /**स**/ का कहीं-कहीं /**छ**/, जैसे **छीता** (सीता), **छींचन** (सींचना) उल्लेखनीय हैं।

संज्ञा-सर्वमानों में कर्म-सम्प्रदान में **ला** और करण-अपादान में **ले** छत्तीसगढ़ी के विशिष्ट परसर्ग हैं। सम्बन्ध कारकीय **के** लिंग के अनुसार परिवर्तित नहीं होता। कर्ता के साथ '**हर**' का प्रयोग उसे निश्चित अर्थ प्रदान करता है। बहुवचन का रूप प्रायः वही रहता है जो एकवचन का। कहीं-कहीं तिर्यक् रूप में **-न** लगता है, जैसे **बइलन** का। साधारणतः '**मन**' या '**मनन**' जोड़कर बहुवचन बनाया जाता है, जैसे **टूरामन** (लड़के), **हम मन** (हम लोग)। विशेषणों और क्रियाओं के रूप बहुत-कुछ अवधी से मिलते-जुलते हैं। संज्ञार्थक क्रिया **देखब, करब** भी होती है और **देखन, करन** भी। शिष्ट और अशिष्ट प्रयोगों में थोड़ा अन्तर है। अशिष्ट रूपों में -व-श्रुति रहती है, जैसे हवौं (मैं हूँ), **हवन** (हम हैं)।

नमूना—एकठन मनखे के दुई बेटवा रहिन। तबो वोकर बड़का बेटवा खेत माँ रहिस ।······मैं उठ के अपना ददा मेर जात औं और वो ला गोठियाहौं······।

४.२.३. **भोजपुरी**—राजा भोज के वंशजों ने मल्ल जनपद म आकर नया राज्य स्थापित किया, और अपनी राजधानी का नाम भोजपुर रखा। उसी नगर के नाम पर प्रदेश का नाम भी भोजपुर पड़ गया और उसकी बोली भोजपुरी कहलायी। यद्यपि उस नगर का वैभव नष्ट हो गया है, तथापि इस नाम के दो गाँव बड़का भोजपुर और छोटका भोजपुर—शाहाबाद ज़िले में उसकी स्मृति को सुरक्षित रखे हुए हैं। इस क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में बनारस, गाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर देवरिया, आज़मगढ़ के पूरे ज़िले और मिर्ज़ापुर, जौनपुर तथा बस्ती के कुछ भाग, एवं बिहार में शाहाबाद और सारन (छपरा) के पूरे ज़िले और चम्पारन, राँची तथा पलामू के कुछ भाग सम्मिलित हैं। भोजपुरी हिन्दी-प्रदेश की सब से बड़ी बोली है। बोलने वालों की संख्या लगभग २ करोड़ ७५ लाख है। भोजपुरी के प्राचीन कवियों में सन्त कबीरदास, धरमदास, धरणीदास, शिवनारायण के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में कुछ छोटे-छोटे नाटक, कुछ कहानी-संग्रह और कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। भोजपुरी सिनेमा-चित्रपट का माध्यम भी बनी है। लोककवियों में भिखारी और ठाकुर प्रसिद्ध हैं। ठाकुर का 'बिदेसिया' अत्यन्त लोकप्रिय गीति-नाटक है।

भोजपुरी में मध्य **-र-** का लोप, जैसे **लइका** (अवधी लरिका), **धइ** (अवधी धरि), कइ (अवधी करि) में; /न्द/, /न्ध/ के स्थान पर क्रमशः /न/, /न्ह/, जैसे **सुन्नर** (सुन्दर), **चान** (चान्द), **बूनि** (बून्दी), बान्ह (बान्ध), **कान्ह** (कान्धा) में; और (म्ब), (म्भ) के स्थान पर क्रमशः (म), (म्ह) होता है, जैसे **तामा** (ताम्बा), **लाम** (लाम्बा), **सम्हार** (सम्भाल), **खम्हा** (खम्भा) में। संगीतात्मक स्वराघात भोजपुरी की विशेषता है।

भोजपुरी की स्त्रीलिंग संज्ञाएँ प्रायः इकारान्त या ईकारान्त होती हैं, तुलना कीजिए—**नातिनि** (नातिन), **बहिनि** (बहिन), **भूखि** (भूख), **आगि** (**आग**) के अतिरिक्त **अँगुठी**, **हरदी**, **छेरी** (बकरी), आदि रूप तो हैं ही। बहुवचन में संज्ञा अपरिवर्तित रहती है। अधिक स्पष्टता अपेक्षित हो तो **'लोग'** या **'लोगन'** शब्द जोड़ दिया जाता है। तिर्यक् रूप **-न** से होता है, जैसे ब्रजभाषा या अवधी में। हम-तुम का बहुवचन **हमनी-हमनीका**, **तुहनीका** होता है। परसर्ग अवधी से मिलते हैं। कर्म-सम्प्रदान में अतिरिक्त परसर्ग ला, के, के **खातिर;** करण में **ले**, **ते**, और अधिकरण में खड़ीबोली की तरह **में** मिलता है। क्रियापदों में **-ल-** की प्रधानता मागधी प्रभाव के कारण है। **ल** वर्तमान, भूत और संज्ञार्थक क्रिया में प्रयुक्त होता है, जैसे **खाइल**=खाया खाना; **खाला**=खाता है। आदरसूचक और हीनतासूचक क्रियारूपों में भी भेद पाया जाता है।

क्रियारूप इस प्रकार बन जाते हैं—

वर्तमान—हम चलीं, तोहनी का चलउ, रउआँ चलीं, उ चलसु, उहाँका चलो।
भविष्यत्—हम देखबि (देखो), तोहनी (का) देखब (सन), रउआँ देखवि, उ चलिहें, उहाँ का देखबि।
अतीत—हम देखलीं, तोहनी (का) देखल, रउआँ देखलीं, उ देखलसि, उन्हनि का देखलेसन।

क्रियार्थक संज्ञा—देखल
वर्तमान कृदन्त—देखत, देखित
भूत कृदन्त—देख-ल, देख-लस

नमूना—एक अदमी ये दू बेटा रहे।···तब ओकर बड़का भाई खेत में रहे।···हम उठि के अपना बाप किहा जाईला आ कहब······।

४.२.४. मगही—मगही मागधी या मगध की भाषा का आधुनिक नाम है। इसके क्षेत्र में पटना, गया और हजारीबाग के पूरे ज़िले तथा पलामू का पश्चिमी भाग एवं मुंगेर और भागलपुर का थोड़ा-थोड़ा भाग सम्मिलित है। बोलने वालों की संख्या लगभग ६६ लाख है। मगही में ललित साहित्य का अभाव-सा है। संत कवियों में बाबा मोहनदास और बाबा हेमनाथ प्रसिद्ध हैं और आधुनिक युग में जयनाथपति प्रसिद्ध रहे हैं।

मगही और भोजपुरी में बहुत कम अन्तर है। लिंग-वचन के रूपों में कुछ भी अन्तर नहीं। संज्ञा और सर्वनाम के परसर्ग जो भोजपुरी में हैं, मगही में उनके अतिरिक्त सम्प्रदान में ला, लेल और अधिकरण में **मों** भी प्रयुक्त होते हैं। सर्वनामों में **रौआँ** (आप) का प्रयोग केवल पश्चिम में होता है, पूर्व में 'आप' मिलता है। क्रिया के रूप भोजपुरी से मिलते-जुलते हैं। अन्तर यह है कि एक तो सहायक क्रिया हिन्दी की तरह है, भले ही उसका रूपान्तर भोजपुरी **बाटे** और **भइल** के समान होता है; और दूसरे इन रूपों में **-क, -थ-, -ख-** विकल्प रूप से जोड़े जाते हैं, जैसे **ही/हकी** (मैं हूँ), **हलहिन/हलखिन/हलथिन** (वे थे)। अन्य पुरुष में ऐसे योग सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इन बातों में यह मैथिली के निकट है।

मगही का प्रदेश बहुत छोटा है। पटना राजधानी है। पटना और गया मेन लाइन पर हैं और मगही-भाषियों के सम्पर्क बहुत विस्तृत हैं। इन कारणों से इस बोली में सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक है और सामान्य हिन्दी के रूपों को ग्रहण करने का चाव है।

नमूना—एक आदमी के दुगो बेटा हलथिन।···· अब ओकर बड़का बेटव बाध में हलै।······हम उठ के अपन बाप हीं जाही अउ उनका से कहव······।

४.२.५. मैथिली—भोजपुरी क्षेत्र के पूर्व में तथा मगध के उत्तर में मिथिला

है, जिसकी बोली मैथिली है। 'मिथिला' शब्द का सम्बन्ध मिथ (युग्म) से है, अर्थात् यह वैशाली, विदेह तथा अङ्ग जनपदों का संयुक्त प्रान्त है। पुराणों में मिथिल नाम के एक तेजस्वी ऋषि का उल्लेख मिलता है। यह भी कहा जाता है कि मिथि नाम के एक राजा हुए हैं जिन्होंने इस भूमि में कई अश्वमेध यज्ञ किये। विशुद्ध मैथिली दरभंगा, मुज़फ़्फ़रपुर, पूर्निया, उत्तरी मुंगेर और उत्तरी भागलपुर के ज़िलों में बोली जाती है। मिश्रित रूप में यह नेपाल की तराई, चम्पारन और संथाल परगना के संलग्न भागों की बोली है।

गंगा बहथि जनिक दक्षिण, दिशि पूर्व कौशिकी धारा।
पश्चिम बहिथ गंडकी, उत्तर हिमवत बल विस्तारा॥

मैथिली बोलने वालों की संख्या १ करोड़ १३ लाख के लगभग है। मैथिली साहित्य के प्राचीन काल के गीतकारों में विद्यापति और गोविन्ददास, मध्यकाल के नाटककारों में रणजीतलाल, और जगत् प्रकाश मल्ल, कीर्तनिया नाटक लिखने वालों में उमापति उपाध्याय, एकांकीकारों में शंकरदेव, सन्तकवियों में साहेव रामदास, कृष्ण-भक्त कवियों में मनबोध झा, और आधुनिक काल के साहित्यकारों में चंदा झा, तंत्रनाथ झा, और हरिमोहन झा प्रसिद्ध हैं।

मैथिली का **अ** थोड़ा संवृत होता है। बलाघातहीन **अ, इ, उ** अतिह्रस्व होते हैं। **ए ऐ ओ औ** के दो-दो उच्चारण होते हैं, ह्रस्व और दीर्घ। सभी शब्द स्वरांत होते हैं; अब कुछ-कुछ प्रवृत्ति हिन्दी की तरह अन्त्य **अ** का लोप करके हलन्त उच्चारण करने की ओर है। प्रायः उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताएँ अवधी और भोजपुरी के समान हैं, किन्तु मैथिली में एक तो मध्यग **श, ष, स** के स्थान पर, संयुक्त अक्षर में भी, ह हो जाता है जैसे **पुहप, माहटर** में, एवं **ह्य** का उच्चारण **झ** करके होता है, जैसे ग्राह्य = ग्राज्झिय।

संज्ञा के **घोरा, घोरवा, घोरउआ,** अथवा, **माली, मालया, मलीबा** अवधी के समान हैं। बहुवचन **सभ, सबहि, लोकनि** जोड़ने से बनता है। परसर्ग से पहले का अकारान्त शब्दों का तिर्यक् रूप आकारान्त हो जाता है, जैसे **पहरा सौं**। शेष संज्ञाएँ अपरिवर्तित रहती हैं। करण कारक **-एँ** होता है जैसे **नेनिएँ** (लड़की के द्वारा), कर्म और सम्प्रदान में **कें**; करण और अपादान में **सै, सौं**; सम्बन्ध में **-क** अथवा **कर, केर**; और अधिकरण में **में, मेँ** जुड़ता है। स्त्रीलिंग संज्ञा के अंत में प्रायः **-ई** अथवा **-इया** रहता है। सर्वनामों के एकवचन तिर्यक् रूप **मोहि, तोहि, एहि, ओहि, जाहि, काहि** होते हैं। **की** (क्या) का तिर्यक् **कथी, केओ** (कोई) का **ककरहु** और **किछु** का **कथु** होता है। संबंध के **-क, -कर, -र** के साथ **-आ** जोड़कर के भी तिर्यक् रूप सम्पन्न किये जाते हैं, जैसे **मोरा, तकरा, हुनका**। क्रियारूप बड़े जटिल हैं। कर्ता और कर्म के प्रति आदरसूचकता के अनुसार क्रिया रूप बदल जाता है,

जैसे **देखलथ** (उन्होंने उसको देखा), **देखलथिन्हि** (उन्होंने उनको देखा), इत्यादि। **ऐ औ** में अन्त होने वाले क्रियारूप के साथ **-क** जोड़ा जा सकता है, जैसे **सुतलिऐक** (मैं सोया), **देखल-कैक** (उसने देखा)। सहायक क्रिया -छ-रूप, भूतकाल -ल-रूप और भविष्यत् **-ब**-रूप होती है।

नमूना—कोनो मनुख्य कें दुई बेटा रहैन्हि। तखन ओकर जेठ बेटा खेत में छलैक।···हम उठि क अपना बाप क लग जाइ छी अउर हुन क सँ कहबैन्हि······।

४.३. ब्रजभाषा

पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के अध्ययन के लिए ब्रजभाषा कुंजी का काम करती है। एक ओर बुन्देली और कन्नौजी, दूसरी ओर राजस्थानी बोलियाँ ही नहीं गुजराती तक, और उत्तर में गढ़वाली और कुमाऊनी की प्रकृति को ब्रजभाषा की जानकारी के बाद सरलता से समझा जा सकता है। खड़ीबोली और बाँगरू अवश्य कुछ निराली हैं, इनका मेल पंजाबी से जा बनता है। शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न सभी बोलियों में ब्रजभाषा उसकी मुख्य उत्तराधिकारिणी है। शूरसेन का ही दूसरा नाम ब्रजमण्डल है। ब्रजभाषा की अनेक बोलियाँ हैं—नैनीताल की भुक्सा; एटा, मैनपुरी, बदायूं ओर बरेली की अन्तर्वेदी; ग्वालियरी; धौलपुर और पूर्वी जयपुर की डांगी; गुड़गावाँ और भरतपुर की मिश्रित बोली, एवं करौली की जादौबाटी। किन्तु, विशुद्ध ब्रजभाषा मथुरा, अलीगढ़ और आगरा ज़िलों में बोली जाती है।

इत बरहद उत सोन हद उत सूरसेन को गाम ।
ब्रज चौरासी कोस में मथुरा मंडल धाम ॥

अनुमानतः ब्रजभाषा १ करोड़ ३० लाख जनता की भाषा है।

/ऐ/ /औ/ ब्रजभाषा की पहचान की विशेष ध्वनियाँ हैं। सामान्य हिन्दी के **/ऐ/ /औ/** मूल स्वरों की अपेक्षा ये कम विवृत हैं। खड़ीबोली में जहाँ **/ए/ /ओ/** (विशेषतः अन्त्य स्वर) पाया जाता है, वहाँ ब्रजभाषा में **/ऐ/ /औ/** उच्चारण मिलता है, जैसे **तो, को, पे, में, ने** के स्थान पर **तौ, कौ, पै, मैं, नै**। खड़ीबोली में शब्द के अन्त में जो /-आ/ मिलता है, उसके स्थान पर ब्रजभाषा में **/-ओ/** (कभी-कभी **-औ**) पाया जाता है, जैसे **आया, होता, कह्या, जाऊँगा, दूजा** का ब्रजभाषा में क्रमशः **आयो, होतो, कह्यो, जाऊँगो, दूजो** रूप होता है। खड़ीबोली **/ड़/** की जगह बहुधा /र/ मिलता है; जैसे **जुरतो** (जुड़ता), **निबेरि** (निबेड़ कर), **परे** (पड़े), इत्यादि में। **-य-व-**श्रुति सामान्य रूप से मिलती है।

प्राचीन अवधी की तरह ब्रजभाषा में, पुंल्लिग एकवचन के अन्त में **-उ** और स्त्रीलिंग एकवचन के अन्त में **-इ** प्रायेण रहता है। यह विशेषता आज भी ब्रजभाषा में विद्यमान है, उदाहरण—**मालु, सबु, करमु; कालि, दूरि**। बहुवचन खड़ीबोली

के अनुसार होता है, केवल उच्चारण का अन्तर है, जैसे **काँटे**, **घर**, **सखा**, **किलोलें** (**किलोलें**), **लटैं** (**लटें**), **अँखियाँ**, **छतियाँ**, इत्यादि। तिर्यक् रूप में **-न**, **-नि**, **-अन**, **-न्ह** प्रत्यय लगते हैं, जैसे **बीथिन्ह**, **सखियन**, **तुरकान**, **कटाछनि**। खड़ीबोली की तरह **-औं** प्रत्यय भी व्यवहृत होता है, जैसे **घरौं**, **बातौं**, **नारियौं** में।

प्राचीन ब्रजभाषा में कारकों के कुछ विभक्ति-रूप मिल जाते हैं, जैसे **पूतहिं**, **बाँभनै**, **सपनैं**, **हिये**, **जगति**, **द्वारै** आदि में। किन्तु, साधारणतया परसर्गों का प्रयोग अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के समान ही मिलता है। निम्नलिखित परसर्ग उल्लेखनीय हैं—

कर्ता—०, ने, नैं
कर्म—को, कौ, कौं, कूँ, कु, कैं, कें
करण-अपादान—सो, सों, सौं, तै, ते, तें
सम्बन्ध—को (कौ), के, कै, की, कि
अधिकरण—में, मैं, माँझ, पे, पै, पर
अन्य परसर्ग—काज, लए, लगि, दिग, नाईं, पाछै, ताईं, लौं।

बिना परसर्ग के भी तिर्यक् रूप विभक्त्यर्थ प्राप्त होता है, जैसे **हाटनि बाटनि गलिन कहूँ कोउ चलि नहीं सकत; पढे एक चटसार में।**

विशेषण का प्रयोग खड़ीबोली के समान होता है, केवल पुंल्लिंग एकवचन में रूप का अन्तर है; जैसे **दूजो**, **दूजै**, **दूजी**, **उल्टो**, **उल्टै**, **उल्टी**; आदि। संख्यावाची शब्दों में **द्वै**, **तीनि**, **सोरह**; **पहिलो**, **दूजो** या **बियो**; **दोउ** या **उभै**, **तीन्यौ** उद्धरणीय हैं।

सर्वनामों में **हौं** (मैं) और इसके तिर्यक् रूप **मों-** का ध्यान रहने से शेष रूप खड़ीबोली के अनुसार बहुत कुछ समझे जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि साहित्य में विकल्प से अपभ्रंश के रूप विचारणीय हैं, जैसे **मोहि**, **हमहिं**, **जाहि**, **जासु**, **ताहि**, **तासु**, **काहि**, **रावरो** (आप)। सर्वनामों की तालिका नीचे दी जाती है—

उत्तम पुरुष—मैं, हौं, मो (कौ)···, मोहि, मुजकौ, मेरौ; हम, हमन, हमैं, हमहिं, हमारौ।
मध्यम पुरुष—तू, तूं, तैं, तो (कौ)···, तोहि, तुजकौ, तेरौ; तुम, तुमहिं, तुम्हैं, तुम्हारौ, तिहारो।
अन्य पुरुष—वौ, वह, वा (कौ)···, वाहि; वे, वै, उन, उन्हें;
ए, यह, या (कौ)···, याहि; ये, इन, इन्हें;

सो, तौन, ताहि; तिन्हें, तिन (कौं)···इत्यादि।

संबंधवाचक—जो, जे, जौ, जौन; जाहि, जा (कौ)···, जिन।

प्रश्नवाचक—को, कौन; का, काहि; कहा (क्या)।

अनिश्चयवाचक—कोइ, कोऊ, काहू; कछ।

ब्रजभाषा के कुछ विशिष्ट अव्यय नीचे दिये जा रहे हैं—

अजौं, पुनि, अजहुँ, सदाइं, ह्याँ, इत, इतै, तहँ, जित, कतहुँ; तौ, जौ, लौं; सामुहें (सामने), अनत (अन्यत्र); जिमि (ज्यों), किमि (कैसे), मनौं (मानो), मनु, जनु, वर, भल; नहिं, नहीं, नाहीं, नाहिन, न, ना, जनि; केतो, नैक; हू (भी), ही; औ, और, कै, तौ, जो, पै, ता तै।

क्रियारूपों में सहायक क्रिया के वर्तमान काल के रूप -हौं (खड़ीबोली हूँ), हौ (खड़ीबोली हो) विशिष्ट हैं। भूतकाल में **हो, हतो, हुतौ, तो** (**था** के लिए) हे, **हते, हुते, ते** (थे के लिए), **ही, हती, हुती, ती** (थी के लिए) और **हीं, हतीं, हुतीं, तीं** (थीं के लिए) आते हैं। **भयो, भयौ, भो** (हुआ), **भए** (हुए), **भई** (हुई), एवं **भईं** (हुईं) पूर्वी हिन्दो से मिलते-जुलते रूप हैं। संभाव्यार्थ में **हौऊँ** (होऊँ या हूँ), **होंहिं** (हों) **होय या होई** (हो) उल्लेखनीय हैं। भविष्यत् निश्चयार्थ में **ह्वैहै, ह्वैहैं**, आदि ब्रजभाषा के अपने रूप हैं।

संज्ञार्थक क्रिया के रूप हैं **देखन, देखनौं**, (तिर्यक् **देखनै**), **देखिबौ** (तिर्यक् **देखिबे या देखिबैं**), जैसे '**हँसिबौं, रमिबौ, बोलिबौ, गयौ** बीरवाल साथ' में; '**मारिबै कौं** आयौं'। असमापिका क्रिया – देखि, **समुझि, देखि कै, देखि करि, खाय कै; ह्वैकै;** प्रेरणार्थक क्रिया खड़ीबोली के समान—आ अन्तःसर्ग से— जैसे **समुझाऊँ, कहावै, करायौ, छुवानौ, दिवायो**; वर्तमान कृदन्त—**मारत, मारतु, मारति;** भूतकृदन्त—**मार्‌यौ, कह्यो, ठयौ, कीनौ, लीनो, दीनौ, दियौ, दयौ**—ऐसे ही भूतकाल के रूप भी बनते हैं। खड़ीबोली से केवल उच्चारणगत अन्तर है। वर्तमान काल और भविष्यत् काल के रूप विस्तार से दिये जा रहे हैं—

वर्तमान

एकवचन	बहुवचन
१. मारौं	मारैं
२. मारै	मारौ
३. मारै	मारैं

वर्तमान संभाव्य

एकवचन	बहुवचन
१. मारूँ	मारहिं
२. मारहि	मारहु
३. मारहि	मारहिं

भविष्यत् (१) -ह-रूप		भविष्यत् (२) -ग-रूप	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. मारिहौं	मारिहैं	१. मारौंगौ	मारैंगे
२. मारिहै	मारिहौ	२. मारैगौ	मारौगे
३. मारिहै	मारिहैं	३. मारैगो	मारैंगे

आज्ञार्थ में **सुन, सुनु, सुनि, सुनाह, सुनौं, सुनियो, सुनियै, सुनिजै** खड़ीबोली के रूपों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

नमूना—एक जन के दो छोरा हे।···तब वाको बड़ौ छोरा खेत पै हो।··· हौं अठकै अपने काका के ढोरे जातूं और वा से कहूँगो···।

४.४. खड़ीबोली

खड़ीबोली के अनेक नाम बताये जाते हैं—हिन्दुस्तानी, नागरी, सरहिन्दी, और कौरवी; किन्तु खड़ीबोली नाम इस समय अधिक प्रचलित है। खड़ी का अर्थ है स्टैंडर्ड, जैसे पूना की खड़ीबोली मराठी, जयपुर की खड़ीबोली राजस्थानी। वर्तमान साहित्यिक हिन्दी या सामान्य हिन्दी और उर्दू दोनों खड़ीबोली पर आधारित हैं। इसके अन्य अर्थों में 'प्रकृत', 'ठेठ' और 'शुद्ध' काल्पनिक अर्थ हैं। साधारणतः उत्तरी भारत की सामान्य बोलचाल की भाषा को खड़ीबोली कहते हैं जिसका एक साहित्यिक रूप भी है। अतः क्षेत्र-विशेष की बोली के लिए हमें 'कौरवी' नाम पसंद है। ग्रियर्सन ने इसे देशी हिन्दुस्तानी कहा है। चाहे सामान्य हिन्दी के बोलने वालों की संख्या २२-२३ करोड़ के बीच में है, कौरवी बोलने वाले १ करोड़ से अधिक नहीं हैं। भाषा की सामान्यता प्राप्त होने से पहले बोली का ही प्रयोग उत्तरी और दक्खिनी हिन्दी में होता रहा है और क्रमशः विकास होते-होते आधुनिक रूप बना है, अतः बोली का अध्ययन आवश्यक और उपयोगी होगा। शुद्ध कौरवी गंगा और जमुना के उत्तरी दुआब, अर्थात् देहरादून के मैदानी भाग, सहारनपुर और मुज़फ़्फ़रनगर और मेरठ के पूरे ज़िले एवं बुलंदशहर के उत्तरी अधिकांश में बोली जाती है। पश्चिम में जमुना नदी के पार अम्बाला तक, दक्षिण-पूरब में बिजनौर ज़िले और मुरादाबाद तथा रामपुर ज़िलों के उत्तरी भाग की बोली भी कौरवी है।

विशिष्टता और पहचान की दृष्टि से कहा जा सकता है कि अवधी अकारान्त (अथवा व्यंजनान्त) प्रधान है, जैसे **करत, होत, होब, घोर,** या **घोड़, नीक, बड़, खोट;** ब्रजभाषा ओकारान्त-प्रधान है, जैसे **आयो, लीनो, होबो, करैगो, करनो, करिबो, घोरो, नीको, बड़ो, खोटो, छोरो;** और खड़ीबोली आकारान्त-प्रधान है, जैसे **करता, किया, करना, करेगा, बड़ा, छोटा, खोटा, घोड़ा, छोरा।** /ऐ/, /औ/ का उच्चारण इतना संवृत होता है कि क्रमशः /ए/, /ओ/ सुनाई देते हैं, जैसे **बेठ, पेर, ओर** या **होर, दोरा (बैठ**

पैर, और, दौरा के लिए)। /ह/ के पहिले /अ/ का उच्चारण /ए/ की तरह सुना जाता है; जैसे **केह्या** (कह्या), **रेह** (रह) आदि में। ठेठ बोली में /ड़/ के स्थान पर /ड/, स्वरमध्यग /ल/ के स्थान पर /ळ/ और स्वरमध्यग /न/ के स्थान पर /ण/ बोला जाता है, जैसे **गाडी** (गाड़ी), **बडा** (बड़ा); **माळ, नीळा** (माल, नीला); **जाणा** (जाना), **जाण्या** (जाना-समझा), **लेण-देण** (लेन-देन)। खड़ीबोली की एक और बड़ी भारी विशेषता है स्वरमध्यग द्वित्त व्यंजन जो दीर्घ स्वर के बाद भी उच्चरित होता है, किन्तु उस स्वर की दीर्घता कुछ कम हो जाती है। उदारहरण—**बाप्पू, बेट्टा, रान्नी** या **राण्णी, लोट्टा,** एवं **पूच्छः** तथा **पुच्छा**। बाँगड़ू और खड़ीबोली में अन्य हिन्दी बोलियों की अपेक्षा बलाघात कुछ ज़ोर से पड़ता है जिसके कारण पूर्ववर्ती दीर्घ अक्षर तो ह्रस्व हो ही जाता है, कभी-कभी ह्रस्व स्वर का लोप भी हो जाता है, जैसे **मठाई** (मिठाई), **कट्ठा** (इकट्ठा) में।

संज्ञा शब्दों के प्रायः रूप वही हैं जो साहित्यिक हिन्दी में हैं; किन्तु बहुवचन तिर्यक् रूप -ऊँ जैसे **मरदूँ, मरदूँ का, बेट्यूँ को**; एवं वैकल्पिक स्त्रीलिंग बहुवचन **लड़किये, लड़कीं, लड़कियाँ** उल्लेखनीय हैं। कारकों के अर्थ में निम्नलिखित परसर्ग प्रयुक्त होते हैं—

कर्ता—०, ने, नें   कर्म तथा सम्प्रदान—को, कूँ, नूँ, ने/के
करण तथा अपादान—तें, सेती, से, सों   सम्बन्ध—का, के, की।
अधिकरण—में, पे, प।

सर्वनाम और उनके विशिष्ट रूप नीचे दिये जा रहे हैं—

मैं, मुज, मेरा, हम, हमें, हमारा या **म्हारा; तू,** तिर्यक् **ते/तुझ, तेरा, तम, तमें, तुम्हारा,** या **थारा; यू, यो** (स्त्रीलिंग **या**), तिर्यक् **इस; आ, वोह** (स्त्रीलिंग **वा**); **जो** या **जोण; के** या **कोण; के** (क्या); **आप, अपणा; को** (कोई)।

कुछ प्रसिद्ध क्रियाविशेषण ये हैं—**कै** (कितने), **असे** (ऐसे), **जसे** (जैसे), **इब** (अब), **इभी** (अभी), **जिब-तिब** (जब-तब), **ह्वाँ** (वहाँ), **जाँ** (जहाँ), **कीकर** (कैसे), **क्यूँ** (क्यों), **नूँ** (यों), **जूँ** (ज्यों)।

खड़ीबोली के क्रियारूप साहित्यिक हिन्दी के समान हैं, किन्तु **है** का उच्चारण हे और विकल्प से है के स्थान पर **सै** का प्रयोग भी होता है, जैसे **लाया करे हे/सै** (लाया करता है)। दूसरी विशेषता यह है कि वर्तमान कृदन्त का जो रूप साहित्यिक अथवा सामान्य हिन्दी में काल और अर्थ बनाने में प्रयुक्त होता है, उसकी जगह खड़ीबोली में क्रियारूप से विकसित अकृदन्तीय प्रयोग चलते हैं—

वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ (मारता हूँ आदि)		सम्भाव्य (मारता)	
१. **मारूँ**	**मारें**	१. **मारूँ**	**मारें**
२. **मारे**	**मारो**	२. **मारे**	**मारो**
३. **मारे**	**मारें**	३. **मारे**	**मारें**

भूत अपूर्ण निश्चयार्थ के **मारूँ था, मारे था** आदि रूप भी इसी से बनते हैं। भविष्यत् काल के रूप इनमें **-गा, -गे, -गी** जोड़ कर सामान्य हिन्दी की तरह होते हैं, इनका उच्चारण भले ही **मारूँगा, जाएँगे** करके होता है। थोड़ा पश्चिम में पंजाबी प्रभाव के कारण **खांगा, जांगे** आदि रूप भी पाये जाते हैं।

भूतकालिक कृदन्तीय रूप एकवचन में **रिह्या, उठ्या** आदि और बहुवचन में सामान्य हिन्दी के समान **रहे, उठे** बनते हैं, यद्यपि उच्चारण में /ह/ के अल्पप्राणत्व और व्यंजन के द्वित्व के कारण अन्तर अवश्य पाया जाता है। **करणा से कर्‌या, जाणा से गिग्रा** बनता है। आज्ञार्थ में **सुन, सुनो सुनिए, सुनियो** साधारणतया सम्पन्न होते हैं। पूर्वकालिक क्रिया में कर की अपेक्षा **के** का प्रयोग अधिक व्यापक है, जैसे **सुन के, उठ के**।

नमूना—एक आदमी के दो लोण्डे थे।···तब बड़ा भाई जंगल में था।··· मैं अब उठके अपने बाप के धोरे जाऊँ और उसे कहूँगा···।

४.५. पश्चिमी हिन्दी की अन्य बोलियाँ

४.५.१. हरियाणी—अम्बाला से दक्षिण-पश्चिम के भूभाग को हरियाणा कहते हैं। इसके अन्तर्गत दिल्ली प्रदेश, रोहतक और करनाल के पूरे ज़िले, जींद और नाभा, हिसार का पूर्वी भाग और पटियाला का दक्षिण-पूर्वी प्रान्त सम्मिलित है। प्राचीन काल में इसको कुरुजांगल, कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्त कहते थे। इस क्षेत्र की बोली को ग्रियर्सन ने बाँगरू कहा है—बाँगर तो केवल ज़िला करनाल के आसपास का क्षेत्र है। लोक में 'हरियाणी' नाम अधिक प्रचलित है। 'हरियाणा' शब्द की व्युत्पत्ति 'हरियान', 'हर्यरण्य' (हरा वन), 'हरिण्यारण्य', 'हर्या' (उद्दण्ड पशु) आदि से सिद्ध करने की चेष्टाएँ की गयी हैं। हमारा मत यह है कि इसका सम्बन्ध 'अहीर' (इस बोली में हीर कहते हैं) से है। हीराना से हरियाणा बना। अहीर या जाट इस प्रदेश में हैं भी सबसे अधिक। इसीलिए इस बोली का एक और नाम 'जाटू' भी है। हरियाणी बोलने वालों की संख्या ३०-३२ लाख से अधिक नहीं है। इस बोली का कोई विशेष साहित्य नहीं है, लोकगीत अवश्य प्रकाशित हुए हैं।

हरियाणी और खड़ीबोली (कौरवी) में बहुत कम अन्तर है। ध्वनियाँ सब की सब वही हैं। संज्ञा के रूपों में तिर्यक् रूप बहुवचन आँकारान्त होता है, जैसे

घरां से, छोहरियां ने। परसर्गों में **ए** का **ऐ** उच्चारण विचारणीय है। सम्प्रदान में एक अतिरिक्त परसर्ग '**की ल्याँ**' और अधिकरण में अतिरिक्त **महँ, माँह** उल्लेखनीय हैं। अन्य पुरुष एकवचन में पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप अलग हैं—**योह** (पुं०), **याह** (स्त्री०), **वोह** (पुं०); **वाह** (स्त्री०)। क्रिया में दो बातें ध्यान देने योग्य **हैं** : एक **तो** सहायक क्रिया है, हैं, हूँ, **हो** न होकर **सै, सैं, सूँ, सो** है; दूसरा वर्तमान कृदन्त हिन्दी की तरह **-ता** भी होता है और पंजाबी की तरह **-दा** भी, जैसे **करता/करदा, मिलता/मिलदा**। अधिकतर क्षेत्र में **-दा** रूप व्याप्त है। कौरवी की तरह वर्तमान में **मैं मारूँ सूँ/माराँ सूँ, मैं मारूँ/माराँ, मैं मारदा सूँ** आदि विविध रूप एक ही अर्थ में **बनते हैं**। पूर्वकालिक क्रिया में **कै** और संज्ञार्थक क्रिया **मारण, मारणा** उल्लेखनीय हैं। ध्वनि-विकास की दृष्टि से हरियाणी पंजाबी और कौरवी के बीच की स्थिति है।

नमूना—एक आदमी कै दो छोरे थे।...तब उसका बड़ा छोरा खेत में था।...मैं उठ कै अपने बाप्पू धोरे चलाँ चलूं सूं अर उस तै कहाँगा...।

४.५.२. **दक्खिनी**—चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दिल्ली के सुलतानों ने हरियाणा और कुरु प्रदेश के लोगों को दक्षिण में दौलताबाद और उसके आस-पास जा बसाया। धीरे-धीरे दक्षिण में पाँच स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए—गुलबर्गा, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर और बरार। औरंगज़ेब ने इन राज्यों को नष्ट कर दिया। १७२३ से हैदराबाद में पुनः स्वतन्त्र निज़ाम राज्य की स्थापना हुई। समय-समय पर वहाँ जा बसने वाले सैनिकों, राजकर्मचारियों, धर्मप्रचारकों और कार-रोज़गार की तलाश में जाने वाले अन्य लोगों की पीढ़ियाँ महाराष्ट्र और हैदराबाद के अलावा गुजरात और मद्रास में चली आ रही हैं। वे लोग अपनी भाषा को हिन्दी या हिन्दवी कहते आ रहे हैं। अनुमानतः उनकी संख्या ४० लाख के लगभग है। बोली के रूप में हम इसे दक्खिनी हिन्दी या केवल दक्खिनी ही कहेंगे। यह बोली उनके विचार-विनिमय, साहित्य, शासन और शिक्षा का माध्यम रही है। ख़ाजा बंदानवाज़ गैसूदराज़, निज़ामी, मुहम्मद कुली कुतुबशाह, वजही आदि बड़े-बड़े कवि दक्खिनी बोली में अपना साहित्य छोड़ गये हैं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से साहित्य और शासन की भाषा 'उर्दू' हो गयी।

दक्खिनी और खड़ीबोली (कौरवी) में बहुत कम अन्तर है। **अस्मान, गुंगे, भिगना, सुंगना, मिट्ठा, सुक्का (सूखा), किच्चड़** आदि शब्दों के आदि में ह्रस्व स्वर और द्वित्त व्यंजन निश्चित करते हैं कि यह पंजाबी के भी अधिक निकट है। **न्द** या **न्ध** के स्थान पर **न**, और **म्ब** के स्थान पर **म्म** बोला जाता है, जैसे

चाननी (चान्दनी), **फुनना** (फुन्दना), **गूनना** (गूंधना), **बानना** (बाँधना), **गुम्मज** (गुम्बज), **कम्मल** (कम्वल) में। ड़ की अपेक्षा ड का प्रयोग अधिक व्यापक है। बहुवचन हरियाणी के अनुरूप वनते हैं। कारकीय परसर्गों में हरियाणी के रूपों के अतिरिक्त कर्म में **कू**, सम्प्रदान में **के तईं**, करण में **सू**, सम्बन्ध में **क्याँ, केरा**, और अधिकरण में **मने, पो** आदि भी चलते हैं। सर्वनाम तो वही हैं, किन्तु रूपों में **मुंजे, हम/हमन, हमना, तुमना** उल्लेखनीय हैं। विशेषणों में स्त्रीलिंग बहुवचन भी होता है, जैसे पंजाबी में—**ऐसियाँ औरताँ, अच्छियाँ लड़कियाँ**। संज्ञार्थक क्रिया **बोलन/बोलना, करन/करना;** वर्तमान कृदन्त **देखता, देखत;** पूर्वकालिक क्रिया **चलि/चलके/चलकर;** सहायक क्रिया **अछे/है;** भविष्यत् रूप **होंगे/होसन** विशेषतः विचारणीय हैं। शेष रूप खड़ीबोली के समान हैं।

नमूना—एक आदमी के दो बेटे थे···तब उसका बड़ा बेटा खेत में था···मैं उठकर अपने बाप के पास जाता हूँ और उसे कहूँगा···।

४.५.३. **बुंदेली**—बुंदेला राजपूतों का प्रदेश होने के कारण इस क्षेत्र को बुंदेलखण्ड और इसकी भाषा को बुंदेलखण्डी या बुन्देली कहा जाता है। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से यहाँ पर बुंदेला राजाओं का राज्य रहा है। एक और नाम दाशार्णी (दशार्णी या धसान नदी से) सुझाया गया है, किन्तु यह नाम बुन्देलखण्ड की मध्यवर्ती सीमित क्षेत्र की शुद्ध बोली का हो सकता है। बुन्देली नाम अधिक सरल और लोकविदित है। इसका क्षेत्र इस प्रकार वर्णित किया गया है—

यमुना उत्तर, और नर्मदा दक्षिण अंचल।
पूर्व ओर है टोंस, पश्चिमांचल में चंबल।।

किन्तु, वर्तमान समय में यह क्षेत्र इससे कुछ अधिक बड़ा है। इसके अन्तर्गत उत्तरप्रदेश में बाँदा का पश्चिमी भाग, उरई, हमीदपुर, जालौन, और झाँसी के पूरे-पूरे ज़िले, एवं मध्य प्रदेश में ग्वालियर का पूर्वी भाग, भोपाल का थोड़ा-सा हिस्सा, ओड़छा, पन्ना, दतिया, सागर, टीकमगढ़, नृसिंहपुर, सिउनी, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद और बालाघाट के ज़िले आते हैं। बोलने वालों की संख्या ६२ लाख तक अनुमानित की गयी है। बुन्देलखण्ड के तुलसी, केशव, मतिराम, ठाकुर, पद्माकर आदि अनेक बड़े-बड़े कवि हुए हैं, किन्तु वे सब ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते रहे। बुन्देली के कतिपय विशेषज्ञों का कहना है कि तथाकथित ब्रजभाषा साहित्य वस्तुतः बुन्देली साहित्य है। ठेठ बुन्देली में ऐन साईं की दार्शनिक कविता, इसुरी की फागें और गंगाधर का प्रेमकाव्य प्रसिद्ध है।

बुन्देली और ब्रजभाषा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बुन्देली में ब्रजभाषा की तरह उकारान्त-इकारान्त संज्ञाएँ नहीं हैं, जैसे घर (ब्रज० घरु), सौत (ब्रज० सौति)।

घोरो के अतिरिक्त **घुरवा** और **लाठी** के अतिरिक्त **लठिया** जैसे रूप अवधी से मिलते-जुलते हैं। ब्रजभाषा के परसर्गों के अतिरिक्त के **लाने/के काजें** (के लिए), **खों** (को), **खो** (का) विशिष्ट हैं। सहायक क्रिया में /ह/ के लोप के कारण **अऊँ** (हूँ), **आँय** (है, हैं), **औ/आव** (हो), **तो, ते, ती** (था, थे, थी) रूप प्राप्त होते हैं। भविष्यत् काल में **-ह-, -ग-** और **-नैं** रूप चलते हैं, जैसे **होगो, हुहौ, होनैं**। सामान्य क्रिया के साथ सहायक क्रिया की संधि हो जाने से विचित्र रूप हो जाते हैं, जैसे मारत (ह)तो = **मारतो**; नई आँय = **नइयाँ** आदि। संज्ञार्थक क्रिया के दो रूप हैं—**मारबौ, मारनैं**। कुछ मुहावरेदार प्रयोग विशेषतः उल्लेखनीय हैं—मो पै जौ काम न हुइऐ (मुझ से यह काम न होगा), वाने बैठो (वह बैठा), वाने चाउत तो (वह चाहता था), ताखों पीछे (उसके पीछे)। बुन्देली में बहुत-से ऐसे शब्द मिल जाते हैं जो हिन्दी की अन्य बोलियों में नहीं हैं।

नमूना—एक जने के दो मोड़ा हते।···तब वा के बड़ो भइया खेत में हतो।···मैं उठ के अपने बाप के ढिगा जात हों और वासों केहों···।

४.५.४. **कन्नौजी**—कान्यकुब्ज या कन्नौज किसी समय में प्रदेश का नाम था। कनौज (फ़र्रुखाबाद) ही कन्नौजी का केन्द्र है। पूर्व में कानपुर, दक्षिण में जमुना नदी और उत्तर में गंगापार हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक इस बोली का क्षेत्र है। पश्चिम में ब्रजभाषा और कन्नौजी का सीमाक्षेत्र मीलों तक अनिश्चित है। कुछ विद्वान् इसे ब्रजभाषा की एक उपबोली मात्र मानते हैं, किन्तु जनमत इसके पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता आ रहा है। बोलने वालों की संख्या ४४-४५ लाख के लगभग है। कन्नौजी का कुछ लोक-साहित्य प्रकाशित हुआ है।

ब्रजभाषा की तुलना में **ऐ औ** की अपेक्षा **ए ओ** का प्रयोग अधिक व्यापक है, जैसे **बड़ो, गओ, चले**, ने में। मध्यग **व** अवधी की तरह **उ** उच्चरित होता है, जैसे सोउत (ब्रज० सोवत) में। **ऐ औ** को संयुक्त स्वर करके अर्थात् **अइ, अउ** उच्चरित किया जाता है, जैसे **कउ** (ब्रज० कौ), **कउन** (ब्रज० कौन)। ब्रजभाषा की **य**-श्रुति का कन्नौजी में अभाव है, जैसे ब्रजभाषा गयो, भयो का उच्चारण **गओ, भओ** होता है।

संज्ञा-सर्वनामों में कुछ अतिरिक्त परसर्ग भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे कर्म में **का, कौ**, सम्बन्ध में **कर**, अधिकरण में **माँ, महँ**। ये परसर्ग अवधी से आ मिले हैं। **ई** (यह) और **ऊ** (वह) सर्वनाम अवधी से आये हैं। संज्ञार्थक क्रिया के **मारन, मारनु, मारनो** और **मारिबो** अनेक दिशाओं से आ गये हैं। भविष्यत्काल में **हुइहों, चलिहै** आदि पूर्वी रूप प्रचलित हैं। बहुवचन में हिन्दी 'लोग' के स्थान पर '**ह्वार**'

का प्रयोग होता है, जैसे हम ह्वार (हम लोग)। शेष काल-रचना व्रजभाषा के अनुसार होती है।

नमूना—एक जने के दोए लड़िका हते।···तब उसको बड़ो लड़िका खेत में हतो।···मैं उठ के अपने वापु के तीर जात हौं, और उनसे कैहौं···।

४·६. राजस्थानी बोलियाँ

४.६.१. मारवाड़ी—मरुभूमि, मरुदेश, मारुदेस, मुरधरदेश, मरवण और मारवाड़ एक ही प्रान्त के नाना नाम हैं। शुद्ध मारवाड़ी जोधपुर और उसके आस-पास बोली जाती है। कुछ मिश्रित रूपों में यह पूर्व में अजमेर-मेरवाड़ा, किशनगढ़ और मेवाड़ में, दक्षिण में सिरोही और पालनपुर तक, पश्चिम में जैसलमेर और सिंध के अमरकोट तक, एवं उत्तर में बीकानेर, जयपुर के उत्तरी भाग तथा पंजाब में हिसार-भिवानी के पूर्व तक बोली जाती है। इसकी न्यूनाधिक १२ उपबोलियाँ हैं जिनमें मेवाड़ी, थली और बीकानेरी, शेखावाटी और बागड़ी उल्लेखनीय हैं। मारवाड़ी राजस्थानी की सबसे बड़ी बोली है। इसी के आधार पर एक सामान्य आदर्श राजस्थानी भाषा का विकास किया जा रहा है। वर्तमान समय में इसके बोलने वालों की संख्या ७२ लाख से कुछ अधिक है। मारवाड़ी में प्रचुर गद्य और पद्य साहित्य उपलब्ध है। (दे० पृ० ५६-६० मी)।

मारवाड़ी के उच्चारण में दो क्लिक ध्वनियाँ विशेषतः विचारणीय हैं—**ध़** और **स़**। **ध़** का उच्चारण **द-ध** के बीच में और **स़** का **स-ह** के बीच में होता है, और दोनों में थोड़ा श्वास भीतर की ओर लेना पड़ता है, जैसे **ध़ाबो** (पशु), और **जास़्यो** में। **स** का उच्चारण कुछ-कुछ **श** के समान होता है। व्याकरणगत विशेषताओं में करण-अपदान का परसर्ग **सूँ**, **ऊँ**, अधिकरण **में**, **मैं**, **माइ**, **माहै**, **माँय**, और सम्बन्ध में गुजराती **नो**, **ना**, **नी** अतिरिक्त हैं। विशेषण की तुलनावस्था बताने के लिए **सूँ** के अतिरिक्त **करतां** (अपेक्षाकृत) का प्रयोग पाया जाता है, जैसे मोअन करतां सोअन भलेरो है (मोहन से सोहन भला है)। सर्वनामों में रूप-विविधता अधिक है, जैसे **मैं** के लिए हूँ, म्हँ, मूँ, म्हैं; यह के लिए **ओ**, **यो** (स्त्री० **आ**, **या**); संबंधवाची **जो**, **जिको**, इत्यादि। भविष्यत् काल में **ग**, **स**, **ल**, आदि रूपों के अतिरिक्त '**है**' रूप भी होता है। सहायक क्रिया का '**ह्व**' रूप भी विचारणीय है—**ह्वां** (हम हों) **ह्वती** (होती), **ह्वेऊला** (हूँगा)। वर्तमान कृदन्त के साथ **रहणो** के योग से नकारात्मक क्रिया बनाते हैं, जैसे गाता रहणो (न गाना), आता रहे (नहीं आये)।

सामान्य राजस्थानी के सब लक्षण मारवाड़ी में पाये जाते हैं (दे० पृ० ६३)।

नमूना—एक मिनख रै बे/दोय दिकरा ता/हा···उन बिरियाँ बड़ो दिकरो खेत में तो/हो।···हमैं हूँ उठर आपरे बाप कने जाऊँ अर/नै उणनै कइस···।

४.६.२. मालवी—उज्जैन के आसपास का क्षेत्र मालव नाम से कई शताब्दियों से प्रसिद्ध रहा है। मालव या मालवा की बोली का नाम मालवी है। इसके अन्तर्गत पश्चिम में परताबगढ़, रतलाम, दक्षिण-पश्चिम में इन्दौर, दक्षिण में भूपाल, और होशंगाबाद का पश्चिमी भाग तथा बेतूल का उतरी भाग, उतर-पूर्व में गूना और उत्तर-पश्चिम में नीमच, उत्तर में ग्वालियर, झालावाड़, टोंक तथा चित्तौड़गढ़ के कुछ भाग सम्मिलित हैं। शुद्ध मालवी उज्जैन, इन्दौर और देवास में बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या ५५ लाख से कुछ ऊपर है।

मालवी बुन्देली और मारवाड़ी के बीच की स्थिति में है। शुद्ध मालवी में **ण** नहीं बोल जाता। ड़ की अपेक्षा ड अधिक प्रचलित है। **ऐ औ** की अपेक्षा **ए ओ** बोलने की प्रवृत्ति अधिक है। संज्ञा-सर्वनामों के रूपान्तर में आदर्श राजस्थानी से कोई विशेष अन्तर नहीं है। परसर्गों में कर्ता में **ने**; कर्म में **के/खे/रे**; करण-अपादान में **से, ती, मारे**; सम्प्रदान में **दे/के, सारू, कारणे, वास्ते**; सम्बन्ध में **को, का, की, रो, रा, री** के अतिरिक्त **थाको, थाका, थाकी**; अधिकरण में **में** परसर्ग प्रयुक्त होता है। **के** (कौन), **कीने/कणीने** (किसने), **काँई/कँई/कँ** (क्या) कुछ विशिष्ट सार्वनामिक रूप हैं। संज्ञा बहुवचन में हि० 'लोग' की तरह **होर/होरो/होनो** जुड़ता है, जैसे **बयरा-हर** (स्त्रियाँ), **जजमान-हर** (जजमान लोग)। क्रिया में सहायक क्रिया का भूतकालिक रूप **थो, था, थी**; भविष्यत् प्रत्यय **गो, गा, गी**; और पूर्वकालिक प्रत्यय **-ने** होता है जैसे **मारने**=मारकर। शेष रचना राजस्थानी के अनुरूप होती है।

नमूना—कोई आदमी के दो छोरा था।···तब ओको बड़ो छोरो खेत में थो।···हूँ उठि ने बाप के वाँ जाऊँ और ओको कूंगा।

४.६.३. ढूंढाड़ी या जयपुरी—जयपुर १७वीं शती में बसाया गया था, अतः जयपुरी नाम भी नया ही है। स्थानीय नाम तो है ढूंढाड़ी, क्योंकि इस क्षेत्र को ढूंढाड़ कहते हैं। इसकी पश्चिमी सीमा पर एक ढूंड़ या भीटा है जहाँ किसी युग में बड़े-बड़े यज्ञ हुए थे। उसी के नाम पर सारे प्रान्त का नाम ढूंढाड़ पड़ा। ढूंढाड़ी को झाड़साही या जंगली बोली भी कहा गया है। विशुद्ध जयपुरी जयपुर नगर के ४० मील उत्तर, ५० मील पूर्व और ६० मील दक्षिण तक बोली जाती है। बूंदी और कोटा में बोली जाने वाली हाड़ौती इसकी उपबोलियों में प्रमुख है। ढूंढाड़ी बोलने वालों की संख्या ३६ लाख के लगभग है।

मारवाड़ी की तुलना में ढूंढाड़ी में कर्म-सम्प्रदान के **नै/कै**; करण-अपादान

के सूं/सें; सम्बन्ध के **को**, **का**, **की**; और अधिकरण के **में**, **ऊपर/माले** परसर्ग अतिरिक्त हैं। सर्वनामों में **हूं** की अपेक्षा **मैं**; **मनै** के अतिरिक्त **मूंनै**, **तनै** के अतिरिक्त **तूनै**; एकव० **महारो**, **थारो**; बहुव० **म्हाँको**, **थाँको**; **यह** के लिए पु० **यो**, स्त्री० **या**, ई (यह), ऊँ (वह), जीं, (जो) से **ईंने**, **ऊंकँ**, **जींको** आदि रूप उल्लेखनीय हैं। क्रियारूप राजस्थानी के ही हैं, यद्यपि ह्वैबो से बनने वाले रूप उच्चारण की दृष्टि से कुछ कठिन हैं। देबो, लेबो का भूत कृदन्त **दीयो**, **लीयो** के अतिरिक्त **दीनू**, **लीनू** भी बनता है।

नमूना—एक जणो के दो बेटा छा।···तब ऊँ को बड़ो बेटो खेत में छो।··· मैं उँठर म्हार बाप कने जाऊँ अरा उननै कहस्यूं।

४.६.४. **मेवाती**—मेओ जाति के नाम पर क्षेत्र का नाम मेवात और बोलो का मेवाती पड़ा है। किन्तु, बोली का क्षेत्र बड़ा है। शुद्ध मेवाती अलवर, भरतपुर के उत्तर-पश्चिम और गुड़गाँव (पंजाब) के दक्षिण-पूर्व में बोली जाती है। इसकी एक सीमावर्ती उपबोली अहीरवाती है, जिस पर हरियाणी का प्रभाव अधिक है। अब मेवाती पर जयपुरी का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है।

मेवाती के परसर्ग—कर्त्ता-कर्म में **नैं**; कर्म-सम्प्रदान **कँ**; सम्बन्ध **को**, **का**, **की**; और करण-अपादान **सं**, **तें** हैं। सर्वनाम हरियाणी के समान हैं, **हम-तम** के विकल्प **हमा-तमा** प्रयुक्त होते हैं। **इसको**, **उसको** आदि के अतिरिक्त **ऐंको**, **बंको**, **भंको**, **कँहको** भी प्राप्त होते हैं। क्रियारूप राजस्थानी के ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि **हो**, **हा**, **ही** के अतिरिक्त **थो**, **था**, **थी** भी प्रचलित हैं। अहीरवाती में हरियाणी **सूं**, **सै**, **सैं** (हूँ, है, हैं) पाये जाते हैं। भविष्यत् काल में केवल **-ग-** रूप प्राप्त है, जैसे **चलूंगो**, **चलैगो** इत्यादि। ये रूप ब्रजभाषा के समान हैं।

नमूना—एक आदमी के दो बेटा हा।···तब वैंह को बड़ो बेटो खेत में हो।···मैं उठ के अपणा बाप के कने जाऊँ अर वैंह नै कहूँगो।

४.७. पहाड़ी हिन्दी

४.७.१. **कुमाऊनी**—कुमाऊँ का पुराना नाम कूर्माञ्चल था। इसके अन्तर्गत नैनीताल, अल्मोड़ा और पिथोरागढ़ के जिले सम्मिलित हैं। ग्रियर्सन ने कुमाऊनी की १२ उपबोलियाँ गिनायी हैं। मूल बोली खस थी जिस पर राजस्थानी और खड़ी-बोली का प्रभाव बढ़ता ही रहा है। जनसंख्या ६ लाख के लगभग है। लोक-कवियों में गुमानी पन्त और कृष्ण पांडेय प्रसिद्ध रहे हैं।

कुमाऊनी पर दरद, खस, राजस्थानी, खड़ीबोली हिन्दी आदि भाषाओं के अतिरिक्त किरात और भोट आदि तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाओं का प्रभाव रहा है। इसके उच्चारण में ण, ळ राजस्थानी से, अल्पप्राणीकरण दरद और खड़ी-बोली से, **ए, ओ** के स्थान पर **या, वा** जैसे च्याला (चेला, लड़का), ब्वाजा (बोझा) अवधी से मिलता-जुलता है। पुंल्लिग शब्द एकवचन खड़ीबोली की तरह आकारान्त न होकर, राजस्थानी और ब्रजभाषा की तरह ओकारान्त होता है, जैसे वी को च्यालो केति गयो (उसका लड़का कहाँ गया)। सम्बन्ध **को, का, की** के अतिरिक्त, **से** के लिए थें भी राजस्थानी से आया है, जैसे चेलि थें गौं को पत्तो पुच्छो (लड़की से गाँव का पता पूछा)। **में/मैं** पश्चिमी हिन्दी के समान है। ने के स्थान पर **ले** और **को** के स्थान पर **कणि** इस बोली की अपनी विशेषता है। सर्वनाम बहुत कुछ हिन्दी से मिलते-जुलते हैं। क्रियारूपों में **-न-** वर्तमान का, **ओ, आ, ई** भूतकाल का और **-ल-** भविष्यत् काल का द्योतक है; जैसे, को जानै (कौन जाता है), आपण खेत में गो (अपने खेत में गया), ऊ आफी यो बात समझि जालो (वह आपही यह बात समझ जायगा)।

सहायक क्रिया **छ** होती है। इसी से भूतकालिक **छियो** (था) आदि रूप भी बनते हैं।

कुमाऊनी शब्दावली नाना ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के कारण बड़ी विचित्र जान पड़ती है। व्यावहारिक शब्दों में अनार्य तत्वों के कारण निरालापन अवश्य है, किन्तु सांस्कृतिक शब्दावली पूर्णतया हिन्दी से ली जाती रही है।

नमूना—कै मैसा क द्वी छ्याल छिय।···तब वीक ज्यठ छ्यलो हाङ मी छिय।···मी उठि बेर अपण बब थैं जांछ, और वी-थैं कूंल···।

४.७.२. गढ़वाली—कूर्मांचल की पश्चिमी सीमा से जमुना तक का प्रदेश 'केदारखण्ड' नाम से विख्यात था। इसके अन्य प्राचीन नाम इलावृत्त, तपोभूमि, देवभूमि, उत्तराखण्ड आदि प्राप्त होते हैं। १५वीं शती में पँवार राजपूतों ने और बाद में बंगाल के पाल राजाओं ने यहाँ पर राज्य किया। ठाकुरों की बावन गढ़ियों में विभक्त हो जाने के कारण इसका नाम गढ़वाल या बावनी पड़ा। अब पुनः इस समूचे प्रदेश को उत्तराखण्ड कहा जाने लगा है। इसके अन्तर्गत गढ़वाल, टिहरी और चमोली के ज़िले और उत्तर काशी का दक्षिणी भाग सम्मिलित हैं। टेहरी गढ़-वाल की बोली आदर्श मानी गयी है। आर्य बोली में भोटिया, शक, किरात, नागा और खस जातियों की भाषाओं के नाना तत्त्व सम्मिश्रित हैं। गढ़वाली बोलने वालों

की संख्या ६ लाख से कुछ अधिक है । गढ़वाली लोकगीतों के कई संग्रह प्रकाशित हैं । वर्तमान समय में थोड़ा-बहुत गद्य-पद्य भी लिखा जा रहा है ।

गढ़वाली की कवर्गीय ध्वनियाँ कण्ठ और काकल के बीच में बोली जाती हैं । चवर्गीय ध्वनियाँ अधिक संघर्षी हैं । पवर्ग के उच्चारण में होंठ कुछ आगे की ओर निकलते हैं । ल दन्ताग्र है । **स-श** और **न-ण**, ल-ळ अलग-अलग ध्वनिग्राम हैं । अनुनासिकीकरण की प्रवृत्ति विशेषत: उल्लेखनीय है, जैसे प्यांर, पैंसा, सांत, छांया, दँत आदि में । संज्ञा-सर्वनामों के परसर्ग निम्नलिखित हैं—

कर्ता--०, न ल, ओ; **कर्म-सम्प्र**०--०, क, कूं, कुणी, खुणी, कँ, तँ, सणी

करण-अपादान—से, ते, ती, न, चैं, चुलैं, बिटैं

सम्बन्ध—राजस्थानी के रो रे री, को के की के अतिरिक्त ओ ए ई

अधिकरण—मुं, माँ, मंग, मंजे ।

सर्वनाम ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं । संज्ञार्थक क्रिया देखणू, देखण; प्रेरणार्थक क्रिया में **-आ- -वा-** की जगह **आ**, जैसे दिखाँण; पूर्वकालिक मारिइ, मारिके; वर्तमान कृदन्त पंजाबी की तरह **-द-** रूप, जैसे चलदो, चलदा; भविष्यत् ल -रूप होता है । शेष रूप राजस्थानी से मिलते-जुलते हैं ।

नमूना—कै आदमी का द्वी नौन्याल छया ।······तब वैं-को जेठो नौन्याल खेत मा छयो ।···मैं उठी क आपणा बाबा पास जाँदूं और ऊँ का पास बोल्लो···।

संक्षेप

बोलियों के अध्ययन के लिए हिन्दी प्रदेश के दो खण्ड हैं—पश्चिमी और पूर्वी । लखनऊ की पश्चिमी सीमा से एक रेखा उत्तर में नेपाल तक और दक्षिण में मध्य प्रदेश के अन्तिम जिले तक बढ़ा दी जाय, तो इस रेखा के पश्चिम में ब्रजभाषा (और इससे संलग्न कन्नौजी तथा बुंदेली), खड़ीबोली कौरवी (और बाँगरू या हरियाणी), राजस्थानी (मारवाड़ी, जयपुरी आदि) एवं पहाड़ी हिन्दी (गढ़वाली और कुमाऊनी) हैं । इनमें ब्रजभाषा, खड़ीबोली और मारवाड़ी में साहित्यिक परम्परा मिलती है । खड़ीबोली और बाँगरू आकार-बहुला हैं और शेष भाषाएँ ओकार-बहुला । ओकार-बहुला भाषाओं में कई तरह के साम्य हैं । पहाड़ी हिन्दी पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है । पूर्वी खण्ड में पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली और छत्तीस-

गढ़ी) तथा बिहारी हिन्दी (भोजपुरी, मगही और मैथिली) हैं। इनमें प्रथम वर्ग की भाषाओं में बहुत-सी समानताएँ पायी जाती हैं, दूसरे वर्ग की भाषाओं में क्रिया की विभक्तियाँ तो सामान्य हैं, किन्तु शेष व्याकरणिक कोटियाँ भिन्न-भिन्न हैं। हिन्दी बोलियों में परसर्गों की विविधता और भविष्यत् काल की अनेकरूपता ध्यान देने योग्य है। इन बोलियों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखें—लेखक की पुस्तक "ग्रामीण हिन्दी बोलियाँ।"

विकास

५. ध्वनि-विकास

पंजाब और मध्यदेश की आर्यभाषा में उच्चारणगत भेद अवश्य रहा होगा। प्रातिशाख्यों से विदित होता है कि पंजाब के आर्यों में भी उच्चारण-भेद पाया जाता था। ऋग्वेद में अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के उच्चारण में पारस्परिक विषमता पायी जाती है। यह विषमता भौगोलिक स्थितियों के कारण उत्पन्न हो गयी होगी। किन्तु, भाषा का एक साहित्यिक रूप विकसित हो जाने के साथ-साथ एक सर्वमान्य और बहुमान्य उच्चारण-पद्धति अवश्य प्रतिष्ठित हो गयी थी। इस पर भी वेद का गीतिकार कभी-कभी अपनी जनभाषा से प्रभावित होता दिखायी देता है। जब आर्यभाषा मध्यदेश में फैली तो अनार्य संस्कारों और प्रवृत्तियों में सीझे हुए नव्य ब्राह्मणों के लिए कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। अनुकरण करने में अत्यन्त सावधान रहने पर भी उनसे र की जगह ल और भ की जगह ह अनायास उच्चरित हो जाता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल में रभ् के स्थान पर लभ्, रोमन् के स्थान पर लोमन् और ग्रभ के स्थान पर ग्रह (जैसे जग्राह) इस नयी रुझान का प्रमाण हैं। परवर्ती साहित्य में बढ़ती हुई इस रुझान के अनेकानेक उदाहरण मिलने लगते हैं। पूरे मध्यदेश में फैलते-फैलते और 'संस्कृत' की अवस्था को प्राप्त करते-करते वैदिक काल की प्रवृत्ति संस्कृत के लिए नियम बन गयी। इसी प्रकार संस्कृत की प्रवृत्ति प्राकृत में और प्राकृत की नव्य आर्यभाषा में नियम बन गयी। यह बात बहुत रोचक जान पड़ती है कि भाषा की पूर्वस्थिति में उसकी परास्थिति के बीज विद्यमान रहते हैं। कोई भाषागत घटना अकस्मात् घटित नहीं हो जाती। वैदिक में ब्राह्मण-काल की भाषा के, ब्राह्मण ग्रन्थों में संस्कृत के, संस्कृत में प्राकृतों के, और प्राकृतों में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की दिशाएँ देखी जा सकती हैं। इसी से एक स्थिति का दूसरी में संक्रमण हो जाता है। इस बात का स्पष्टीकरण दूसरे प्रकरण में किया जा चुका है।

यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि लिपि कभी भी भाषा की अभिव्यक्ति ईमानदारी से नहीं कर सकती। पिछले ३००० वर्षों में विकसित भारतीय भाषाओं की उच्चारणगत विशेषताओं का परिचय उनकी रूढ़ लिपियों से कदापि

प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए निम्नलिखित पृष्ठों में उन मोटी-मोटी बातों का ही उल्लेख किया जा सकेगा जिनका प्रमाण मिल सका है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि भाषा के रूप में जो परिवर्तन होता है, वह व्याकरणिक कम और ध्वनिगत अधिक होता है—इसका अनुभव हम अपने ही जीवन-काल में कर रहे हैं; तो भी भाषाशास्त्र उसका पूरा लेखा-जोखा नहीं रख पाता और इस पर भी दावा करता है विज्ञान होने का ! जिस प्रकार अपनी वेधशाला में बैठा ग्रहविज्ञानी नाना ग्रहों की गतिविधि का निरीक्षण करता रहता है, उसी प्रकार भाषाविज्ञानी को ध्वनियों की गतिविधि, परिवर्तन के कारण, आदि पर ध्यान लगाये रखना चाहिये। ध्वनि-परिवर्तन भाषा के अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण है, और सबमें व्याप्त भी है।

इस प्रकरण में हम इसी का इतिहास प्रस्तुत करना चाहेंगे। पहले आर्यों की निजी ध्वनियों को लेकर देखा जायगा कि मध्यदेश में आकर उनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए—कितनी ध्वनियाँ लुप्त हो गयीं कितनी ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न परिवर्तित हो गया और कितनी आज भी हिन्दी में चल रही हैं। अन्त में विदेशी ध्वनियों की स्थिति पर प्रकाश डाला जायगा।

५.१. व्यंजन

स्पृष्ट व्यंजनों में कवर्गीय और पवर्गीय ध्वनियों का महत्त्व प्रायः सब भाषाओं में सिद्ध जान पड़ता है। भारतीय भाषाओं में लिपि की बनावट और सजावट के भेद का ध्यान न किया जाये तो कवर्गीय ध्वनियों के प्रतीक युग-युग से लगभग इसी रूप में चले आ रहे हैं, जिस रूप में वे आज उपलब्ध होते हैं। किन्तु, ध्वनिशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक भाषा में क ख ग घ ङ जिह्वामूलीय थे और संस्कृत में ये कण्ठ्य हो गये। अपने व्याकरणों में संस्कृत की परम्पराओं को अपनाने वाले पंडित हिन्दी की कवर्गीय ध्वनियों को कण्ठ्य कहते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि हमारे उच्चारण में इनका उच्चारण-स्थान कोमल तालु है। वैदिक प्रातिशाख्यों और संस्कृत के शिक्षा-ग्रन्थों में चवर्ग तालव्य माने गये हैं, हिन्दी में ये सोष्म स्पर्श अथवा स्पर्श-संघर्षी हैं। ऐसा सोचा जा सकता है कि आग्नेय कुल की भाषाओं के प्रभाव से अथवा यों कहा जाय कि आग्नेय जातियों द्वारा संस्कृत के अपनाये जाने के कारण जनभाषाओं में स्वाभाविक रूप से यह परिवर्तन हुआ है। आज भी मुंडा भाषा में /च/ को /त्स/ कर के बोला जाता है। किन्तु, हमारा मत यह है कि चवर्ग का विकास तवर्ग से हुआ है। तुलना कीजिए—सत्य और सच; अद्य और आज; बुध्यते और बूझना। आज भी तमिलभाषी साहित्य

का उच्चारण 'साहिञ्च' करते हैं। टवर्गीय व्यंजनों के उच्चारण में भी अंतर आ गया है। वैदिक में ये प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ थीं; संस्कृत वैयाकरणों को लगा कि ये मूर्धन्य हैं। हिन्दी में पुनः ये प्रतिवेष्टित हैं, किन्तु प्राचीन आर्यभाषा में इनका स्थान तालु के मध्य में था; हमारे उच्चारण में इनको तालु के कुछ अगले भाग से, वर्त्स के थोड़ा ऊपर से बोलते हैं। प्राचीन आर्यभाषा में तवर्ग को दन्त्य बताया गया है, यद्यपि वैदिक काल में इनके दो उच्चारण थे—दन्त्य और वर्त्स्य। हिन्दी में ये सब दन्त्य नहीं हैं। मात्र पवर्गीय व्यंजन अक्षुण्ण रूप में चले आ रहे हैं। पञ्चमाक्षरों में ङ् और ञ् वर्गाधीन व्यंजन हैं, अर्थात् अपने वर्ग के व्यंजन के साथ बोले जाते हैं—क ख ग घ के पहले ङ् और च छ ज झ के पहले ञ्। युङ्धि आदि कुछ शब्दों के साथ ङ् ञ् अपने वर्ग से भिन्न व्यंजन के साथ संयुक्त हुए मिल जाते हैं, किन्तु ऐसे शब्दों में वस्तुतः सवर्गीय ध्वनि लुप्त हो गयी है—युङ्धि < युङ्ग्धि। कुछ इसी प्रकार की स्थिति हिन्दी की कतिपय बोलियों में दिखायी देती है। ण का विकास बाद में हुआ जान पड़ता है। विद्वानों का मत है कि सभी टवर्गीय ध्वनियों का प्रादुर्भाव अनार्य भारतीय भाषाओं से हुआ है। धीरे-धीरे जब /ऋ/, /र/ और /ष/ का मूर्धन्यीकरण हुआ तो इनके संयोग में अथवा परिवेश में /न/ का समीकृत मूर्धन्य रूप /ण/ बनने लगा। क्रमशः इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से तालव्य स्वरों के बीच में और तत्पश्चात् किन्हीं दो स्वरों के बीच में भी होने लगा। शब्द के आदि अथवा अन्त में इसका मूल रूप /न/ बना रहा।[1] प्राकृत में जो कतिपय शब्दों के आदि में /ण/ देखा जाता है, वह /न/ को बरबस /ण/ कर देने की (अतिप्राकृतीकरण की) कृत्रिम प्रवृत्ति का परिणाम है। वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। हिन्दी में /ण/ की वर्तमान स्थिति यह है कि पश्चिमी हिन्दी में तो /ण/ का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है, किन्तु यह शब्द के आदि में कहीं नहीं आता। पूर्वी हिन्दी में /ण/ है ही नहीं। पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी के प्राचीन रूप में भी यही बात है। इससे प्राकृतों में शब्द के आदि में /ण/ का होना विचित्र और असंगत जान पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि /ण/ का अस्तित्व उसी प्रदेश में विद्यमान है, जहाँ प्राग्वैदिक काल में द्रविड़ों का आधिपत्य माना जाता है। इस तथ्य के प्रकाश में अन्य टवर्गीय ध्वनियों का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

/न/ /म/ आदि काल से चले आ रहे हैं। अन्तर केवल इतना है कि /न/ पहले दन्त्य ध्वनि थी; आज यह अन्य तवर्गीय व्यंजनों की अपेक्षा अधिक

१. ऋग्वेद में कोई मूर्धन्य व्यंजन शब्द के आदि में नहीं पाया जाता।

स्पष्ट रूप से वर्त्स्य है। इनके अतिरिक्त दो और नासिक्य ध्वनियाँ थीं—अनुनासिक और अनुस्वार। अनुनासिक वर्गीय स्पर्श से पहले और अनुस्वार /य/ /र/ /ल/ /व/ /श/ /ष/ /स/ /ह/ से पहले था। पहले ये ध्वनियाँ व्यंजन का गुण थीं, हिन्दी में ये स्वरों का गुण बन गयीं।

/श/ /ष/ /स/ वैदिक युग में मिलते हैं। संस्कृत ने /ष/ का अधिक व्यवहार-प्रसार नहीं किया। पालि-प्राकृत में तो यह लुप्त ही हो गया। यह भी याद रहे कि वैदिक भाषा में भी /ष/ वस्तुतः /श/ का मूर्धन्यीकृत रूप है और इसका विकास बाद में किन्हीं प्रभावों के परिणामस्वरूप हुआ। /श/ भी बहुत पुराना व्यंजन नहीं है, /ष/ से अधिक प्राचीन अवश्य है। सस्कृत, पालि और पूर्वीय प्राकृतों में इसका अस्तित्व बराबर बना रहा और आज भी कतिपय भाषाओं में विद्यमान है। /स/ इन ऊष्म ध्वनियों में सब से प्राचीन और अधिक व्यापक है।

हिन्दी में /श/ और /ष/ भी /स/ में परिवर्तित हो गये हैं। अभ्यास से लोग /श/ का उच्चारण सीख लेते हैं। फ़ारसी के प्रभाव से भी इसका पुनरुद्धार हुआ है, किन्तु /ष/ को शुद्ध रूप से विरले पंडित ही बोल पाते हैं। पढ़े-लिखे लोग /ष/ को /श/ की तरह और अनपढ़ युग-युग से /स/ की तरह उच्चरित करते आ रहे हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि /ह/ के दो उच्चारण थे—एक सघोष और दूसरा अघोष। हिन्दी में केवल सघोष रूप पाया जाता है। पश्चिम में इसे शुद्ध रूप में शब्द के आदि में बोला जाता है, अन्यत्र इसका स्थान आरोही सुर ले रहा है। /ह/ भी बहुत पुराना व्यंजन नहीं है, इसका विकास /भ/ /ध/ और /घ/ से हुआ जान पड़ता है। तुलना कीजिए—ग्रभ्, और ग्रह्, गाध और गाह, घ्नान्ति और हन्ति।

अन्तःस्थों में /र/ प्राचीनतम ध्वनि है। /य/ और /व/ का विकास /इ/ /उ/ से हुआ, यहाँ तक कि पाणिनि के समय में भी यह प्रवृत्ति जारी थी। /ल/ मध्यदेश की अनार्य भाषाओं से सम्पर्क होने के बाद अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने लगा था। इन चारों ध्वनियों के दो-दो रूप थे—एक व्यंजन के निकट और दूसरा स्वर के निकट। आज /र/ और /ल/ शुद्ध रूप में व्यंजन हैं। संभवतः संस्कृत में ही इनका अन्तःस्थ रूप नहीं रह गया था। /र/ वेद में दन्तमूलीय, संस्कृत में मूर्धन्य और हिन्दी में लुंठित वर्त्स्य ध्वनि है। /ल/ पहले दन्त्य था; अब वर्त्स्य पार्श्विक-सा हो गया है। कहा जाता है कि र-प्रधान शब्द पश्चिम के, ल-प्रधान पूर्व के और र-ल-प्रधान मध्यदेश के थे—जैसे श्रोर, श्लील, और श्रील। प्राकृत-काल में भी ऐसा ही था। आधुनिक काल में /य/ व्यंजन के स्थान पर /ज/, और /ब/ व्यंजन के

स्थान पर /ब/ हो गया है । ईसवी पूर्व तक तो /य/ /व/ दोनों मिलते हैं, किन्तु बाद में परिवर्तन होता गया । फ़ारसी-अरबी के प्रभाव से और संस्कृत के शुद्ध उच्चारण के प्रचार से लोग इन्हें सीख तो लेते हैं, किन्तु पूरब के लोगों को बराबर कठिनाई रहती है । जनसाधारण के उच्चारण के निकट रखने की चिन्ता से मध्यकालीन साहित्य में /य/ /व/ का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है । /व/ की दो ध्वनियाँ थीं—एक द्वयोष्ठ्य और दूसरी दन्तोष्ठ्य ।

वैदिक भाषा में कुछ ध्वनियाँ ऐसी पायी जाती हैं जिनका आगे चलकर लोप हो गया, जैसे उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ळ और ळ्ह, जिह्वामूलीय ᳵ क और उप-ध्मानीय ᳵ प । /ळ/ और /ळ्ह/ पश्चिमी हिन्दी की कतिपय बोलियों और राजस्थानी में अब भी पाये जाते हैं; किन्तु संस्कृत-प्राकृत की परम्परा का निर्वाह करते हुए हिन्दी साहित्य में इनका लिपिगत प्रयोग नहीं मिलता । संस्कृत ही में इनका स्थान क्रमशः /ड/ और /ढ/ ने ले लिया था । क से पहले विसर्ग का उच्चारण /ख/ के समान होता था, जैसे 'ततः किम्' में—इसे पाणिनि ने जिह्वामूलीय / ᳵ क/ कहा है; और /प/ से पहले विसर्ग की ध्वनि दीपक बुझाने की आवाज़ जैसी हो जाती थी, जैसे पुनः-पुनः में—इसे उपध्मानीय / ᳵ प/ कहा गया है । बाद में ये दोनों ध्वनियाँ लुप्त हो गयीं; संस्कृत में केवल विसर्गीय उच्चारण रह गया ।

विसर्ग की गणना हमारी वर्णमाला में स्वरों में की जाती है । आरम्भ में यह अघोष /ह/ के समान था । संस्कृत में यह आरोही सुर बन गया और इसीलिए स्वरों के साथ गिना जाने लगा । पालि और उसके बाद की अवस्थाओं में विसर्ग का लोप हो गया । केवल पंडितों द्वारा इसका उच्चारण तत्सम शब्द-रूपों में किया जाता रहा है ।

प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन आर्यभाषा और वर्तमान हिन्दी के बीच में किस काल में किन नयी ध्वनियों का प्रवेश होता रहा है । सामान्यतः ऐसा लगता है कि संस्कृत में वैदिक से भिन्न कोई ध्वनि प्रादुर्भूत नहीं हुई । पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में अवश्य कुछ निराली लोक-ध्वनियाँ रही होंगी, किन्तु साहित्यिक स्तर पर आ कर इन भाषाओं ने भी अपने को संस्कृत के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया । अतः सूक्ष्म ध्वनि-भेद लिपिबद्ध नहीं किये गये । हिन्दी में कुछ ध्वनियों का अस्तित्व इतना प्रबल और महत्त्वपूर्ण हो गया कि उनके लिए अलग चिह्न अनिवार्य माने गये । /ड़/ और /ढ़/ ऐसी ही विशिष्ट ध्वनियाँ हैं । ये मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनियाँ हैं । अरबी-फ़ारसी के प्रभाव से /ख़/ /ग़/ /ज़/ और /फ़/ को शिक्षित वर्ग की भाषा में स्थान मिला है । सन् १८५७ से पहले

के हिन्दी साहित्य में इन ध्वनियों के हिन्दीकृत रूप /ख/ /ग/ /ज/ और /फ/ ही पाये जाते हैं। इसके बाद दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती रही हैं—जनसाधारण के निकट उच्चारण चाहने वाले /ख/ /ग/ /ज/ और /फ/ का प्रयोग करते हैं और विदेशी उच्चारण के अनुरूप बोलने वाले /ख़/ /ग़/ /ज़/ और /फ़/ का। शुद्धतावाद के पक्ष में इतना कहा जा सकता है कि शिष्ट और शिक्षित की वाणी को आदर्श, और ग्रामीण बोली से कुछ भिन्न, रहना ही होगा। दूसरी बात यह है कि अब ये ध्वनियाँ अर्थभेदक हैं, इसलिए इन्हें पृथक् ध्वनिग्राम स्वीकार करना पड़ेगा। ज़ और फ़ अँग्रेज़ी प्रभाव के कारण भी सिद्ध हो गये हैं। तुलना कीजिए—खोल और ख़ोल; रुख और रुख़; गौर और ग़ौर; बेगम और बेग़म; जरा और ज़रा; जंग और ज़ंग; फन और फ़न; कफ और कफ़।

/क़/ का अरबी उच्चारण फ़ारसी में ही नहीं चल पाया था। पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में लोग इसे /क/ ही बोलते हैं। किन्तु पूर्वी प्रदेश में कायस्थ जातियों के उच्चारण में /क़/ स्पष्ट सुनायी देता है। इसका व्यवहार धीरे-धीरे कम हो रहा है।

हमारा विचार है कि शिष्ट भाषा में ग्राम्य प्रयोग अपनाने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी में यह एक विचित्र स्थिति है कि संस्कृत के शब्दों का उच्चारण तो शुद्ध रखने की चेष्टा रहती है, किन्तु अरबी-फ़ारसी या अँग्रेज़ी के शब्दों के उच्चारण को जनभाषा के हिन्दीकृत रूप के निकट रखने का आग्रह रहता है।

हिन्दी की वर्तमान व्यंजन ध्वनियों में पवर्ग, कवर्ग और तवर्ग सब से प्राचीन हैं। चवर्ग कवर्गों से विकसित हुए जान पड़ते हैं। तुलना कीजिए वाक्, वाच्; युग, युज; शोक, शोच; इक्षा, इच्छा आदि। टवर्ग बहुत बाद में आये। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, /ष/ से /श/ और /श/ से /स/ अधिक प्राचीन है। /ह/ बाद में विकसित हुआ। वास्तव में सभी सघोष व्यंजन अघोष व्यंजनों के बाद के हैं और महाप्राण व्यंजन अल्पप्राण व्यंजनों के बाद के। महाप्राण व्यंजनों में भी /ठ/ /ढ/ और /ढ़/ बहुत बाद के हैं। /ढ़/ तो अपेक्षाकृत आधुनिक काल की ध्वनि है। अन्य महाप्राणों में /ख/ /फ/ /थ/ और /घ/ /भ/ /ध/ वैदिक काल से चले आ रहे हैं। /छ/ कुछ समय पीछे प्रादुर्भूत हुआ और इसके बाद /झ/। ऋग्वेद में /झ/ एक ही बार आया है, अथर्ववेद में /झ/ है ही नहीं। पंचमाक्षरों में /न/ का प्रयोग /म/ की अपेक्षा बहुत व्यापक रूप से हुआ है। दोनों प्राचीन व्यंजन हैं। /य/ /र/ /ल/ /व/ के तुलनात्मक विकास और प्रयोग के सम्बन्ध में पहले संकेत किया जा चुका है। /र/ सबसे प्राचीन है। अगले पृष्ठ पर हम एक सारणी दे रहे हैं जिस से स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकृत प्राचीन आर्यभाषा के व्यंजनों का परिचय प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन आर्यभाषा की व्यंजन ध्वनियाँ

प्रयत्न → / स्थान ↓	स्पर्श				नासिक्य	अर्धस्वर	संघर्षी		उत्क्षिप्त
	अघोष		सघोष		सघोष	सघोष	घोष	अघोष	प्रति-वेष्ठित
	अल्प॰	महा॰	अल्प॰	महा॰					
कण्ठ्य	क	ख	ग	घ	ङ		ह	४क	
तालव्य	च	छ	ज	झ	ञ	य		श	
मूर्धन्य	ट	ठ	ड	ढ	ण	र		ष	ळ
दन्त्य	त	थ	द	ध	न	ल }व		स	
ओष्ठ्य	प	फ	ब	भ	म			४प	

४क और ४प केवल वैदिक ध्वनियाँ थीं। वैदिक भाषा में कवर्ग जिह्वामूलीय और तवर्ग प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ थीं। टवर्ग दन्त्य भी थे वर्त्स्य भी। ह के दो रूप थे—सघोष और अघोष। र वेद में दन्तमूलीय था।

इन व्यंजनों की तुलना अगले पृष्ठ पर तालिका में दी गयी हिन्दी ध्वनियों से की जाये। इस तालिका का यह लाभ भी है कि स्थान और प्रयत्न का पूरा उल्लेख करके किसी ध्वनि का वर्णनात्मक परिचय दिया जा सकता है।

हिन्दी के व्यंजन

	स्पर्श				स्पर्श-संघर्षी				नासिक्य सघोष		संघर्षी				पार्श्विक सघोष		लुण्ठित सघोष		उत्क्षिप्त सघोष		अर्ध-स्वर सघोष
	अघोष		सघोष		अघोष		सघोष				अघोष		सघोष								
	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	अल्प.	महा.	
काकल्य														ह							
कोमल तालव्य	क	ख	ग	घ					ङ			ख़	ग़								
तालव्य																					य
तालु वर्त्स्य					च	छ	ज	झ	ञ		श										
मूर्धन्य *	ट	ठ	ड	ढ					ण		ष								ड़	ढ़	
वर्त्स्य									न	न्ह	स		ज़		ल	ल्ह	र	र्‍ह			
दन्त्य	त	थ	द	ध																	
दन्तोष्ठ्य												फ़									व
ओष्ठ्य	प	फ	ब	भ					म	म्ह											व

/ङ/ /ञ/ केवल अपने वर्ग के संयोग में आते हैं। /ण/ आदि में नहीं बोला जाता। /ख़/ /ग़/ फ़ारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में और /फ़/ /ज़/ अरबी-फ़ारसी और अँग्रेज़ी के शब्दों में सुने जाते हैं। /ष/ केवल संस्कृत तत्सम शब्दों में और /श/ संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी तथा अँग्रेज़ी के तत्सम शब्दों में होता है।

* मूर्धन्य प्रतिवेष्टित।

५.२. व्यंजन-परिवर्तन

५.२.१. आदि व्यंजन—प्राचीन आर्य ध्वनियों में शब्द के आदि में आने वाले व्यंजन (य, व, श, ष को छोड़ कर) आधुनिक काल तक प्रायः सुरक्षित रहे हैं। उदाहरण—

कान<कर्ण; **खाना**<खादन; **गदहा** <गर्दभ; **घी** <घृत; **चोंच**<चञ्चु; **छाँव**<छाया; जमाई<जामातृ; **झाड़**<झाट:; **टिटिहरी**<टिट्टिभ; **ठाकुर**<ठक्कुर; **डाइन** <डाकिनी; **ढाल** <ढाल; **तिरछा** <तिरश्च; **थूक** <थूत्कार; **दुबला** <दुर्बल; **धुआँ** <धूम; **नंगा**<नग्न; **पल्ला**<पल्लव; **फल**<फल; **बाँह**<बाहु; **भार**<भार; [भवति से होति पालि में ही बन गया था]; मड़वा<मंडप; **रास**< राशि; **लेखा**<लेख्य; सब<सर्व, **हींग**<हिंगुः।

कभी-कभी आदि व्यंजन में भी उच्चारण की सुविधा के लिए परिवर्तन हो जाता है। इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

य का ज और व का ब प्राकृत-काल से चला आ रहा है, जैसे यन्त्र>जन्त >**जाँता**; यश>**जस**; यथा>जह, ब्रजभाषा **जहँ**; युग>**जुग**; युक्ति>**जुगुत**; यूथी>**जूही**; योगिन्>**जोगी**; यौवन>**जोबन**; वाष्प>बाफ> **भाप**; वल्ली>**बेल**; वेतस्>; **बेंत** विद्युत्>विज्जु>बिजुली, **बिजली**; वाम>**बायाँ**; वर्धन>**बड्ढण**> **बढ़ना**; वत्स>बच्छ>**बछ(ड़ा)**।

संस्कृत में जव (<यव), जवनिका(<यवनिका), जामातृ (<यामातृ), एवं कुबेर (<कुवेर), क्लीब (<क्लीव) भी प्राकृत-प्रवृत्ति के प्रभाव से बने हैं।

यह बताया जा चुका है कि पालि में /श/ और /ष/ के स्थान पर /स/ आने लगा था, जैसे शत>सद, षण्ड>सण्ड,शब्द>सद्द। अशोक की लिपियों में /श/, /ष/ पाये तो जाते हैं, किन्तु गिरनार के शिलालेखों में केवल /स/ मिलता है। वास्तव में पश्चिमी भाषाओं में /श/ /ष/ नहीं रह गये थे। पूर्वी मागधी और उसकी परवर्ती भाषाओं में /श/ बराबर बना रहा; /ष/ का स्थान सर्वत्र /स/ ने ले लिया। लगता है कि मध्यदेश में /श/ /ष/ को /स/ कर देने की प्रवृत्ति आरम्भिक काल से चल पड़ी थी। संस्कृत में शटा, सटा; शस्य, सस्य; शीर, सीर; शरट, सरट; कुषीद, कुसीद दो-दो रूप मिलते हैं। आगे चलकर यह प्रवृत्ति सब आर्यभाषाओं पर हावी हो गयी। हिन्दी के निम्नलिखित शब्दों का परीक्षण कीजिए—

सलाई<सलइआ <शलाका; **बरस**<बरिस <वर्ष; **साँकल** <संकल, संखल <शृंखला; **संकी**<शंकिन्; **सेवाल, सेवार**<शैवाल; **सेस**<शेष; **सूंड़**<सुण्ड< **शुण्ड**; **सरेस**<सिलेस<श्लेष; **सिर**<शिर; **सिंगार**<शृंगार; **सीख**<सिक्खा<शिक्षा; **साग**<शाक; **सोलह**< सोडस<षोडश।

एक प्रवृत्ति /श/ /ष/ को /छ/ कर देने की भी रही है। उदाहरण—

षष्ठी>**छठी**; शल्कल> **छिलका**; शकटक > **छकड़ा**; शाव>छाव> **छौ(ना)**।

५.२.२. मध्यग व्यंजन—शब्द के मध्य में भी /श/ /ष/ की वही गति रही है। उदाहरण—

/श/ /ष/ से /स/—**पूस** <पुस्स<पुष्य; **कसै(ला)**<कषाय; **केस**<केश; **कोस**<क्रोश; **चूसना**<चूषण।

/श/ /ष/ से /छ/—**मूँछ**<म्हच्छु<श्मश्रु;

/ष/ के लिए पंडिताऊ /ख/ भी मिलता है, जैसे **रिखी**<ऋषि; **पाखंड**< पाषण्ड; **भाखा**<भाषा।

आगे चलकर /स/ का भी /ह/ हो जाने की प्रवृत्ति मिलती है; जैसे—

षोडश>सोडस>**सोलह**; एकादश>एगारस>**ग्यारह**; चलिष्यति>**चलसी, चलहि**; केसरी>**केहरी**।

अन्य सामान्य व्यंजनों में पालि-काल तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। स्वरमध्यग अल्पप्राण ध्वनियाँ तब तो सुरक्षित रहीं, किन्तु प्राकृत-काल में क, ग, च, ज, त, द एव य, व का लोप होकर इनके स्थान पर /अ/ अथवा य-व-श्रुति का आगम हुआ। इससे अगला विकास-क्रम हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं तक इतना रह गया कि इस /अ/, /य/ अथवा /व/ के आसपास के स्वरों की सन्धि हो जाये। उदाहरणार्थ—

कुम्भकार>कुम्भआर>**कुम्हार**; सागर>**सायर**; सूचि>सूइ>**सुई**; वचन >वअण>**बैन**; भगिनि>भइणि>भइण>**बहिन**; पाद>पाअ, **पाव**; जीव>जीअ >**जी**; गतः>गओ>**गयो, गया**; मातृ>माइ, **माई**; तादृश>ताइस>**तैस(ा)**; मुकुट>मुअुड>मउर>**मौर**; खदिर>खइर>**खैर**; उपविष्ट>उवइट्ठ>**बैठ**; राजा >राया>**राय**।

/ट/ का /ड/ और /ड/ का /ड़/ हो गया। उदाहरण—

वट>वड>**बड़**; शकट>सकड>**छकड़ा**; जटा>जडा>**जड़**; घोटिका> घोडिआ>**घोड़ी**; नीड>**नीड़**।

/प/ से /व/ हो जाने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं—कपि>पा० कवि; कूपः>कूवो>**कुवाँ**; कपाट>कवाड>**किवाड़**; दीपक>दीवओ>**दीवा**; ताप>**ताव**; कच्छपः>कच्छवो> **कछुआ**; प्रापयति>पावेइ>**पावे** इत्यादि। आगे चलकर यह /अव/ भी शुद्ध स्वर में परिवर्तित हो गया, जैसे **पावे**>**पाए**; अपर>अवर>**और**। देखिए आगे स्वरों के अन्तर्गत।

/न/ /र/ /ल/ सदा सुरक्षित रहे हैं, जैसे **उन्नीस**<ऊनविंशति; **मन, फल, चल, चर,** तर, **पर; मरना**<मरण; जलना<ज्वलन; आदि में।

प्राकृत की एक अन्य प्रवृत्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् /ठ/, /छ/ और /झ/ को छोड़कर शेष सभी मध्यग महाप्राण व्यंजनों को /ह/ कर देने की। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि /ठ/, /छ/ और /झ/ वाले शब्द थे भी नगण्य।

पालि में रुधिर>रुहिर, लघु>लहु, साधु>साहु आदि थोड़े से उदाहरण मिल जाते हैं, किन्तु वास्तव में यह प्रवृत्ति पालि-काल के बाद से मिलने लगती है। प्राकृत की राह से आये हुए हिन्दी के उदाहरण—

मधूक:>**महुआ**; दधि>दहि>**दही**; वधू>**बहू**; सखी>सही>**सहेली**; वधिर> बहिर>**बहरा**; सौभाग्य>सोहग्ग>**सोहाग**; मुख>मुह>**मुँह**; नख>**नह**; शेखरक:> सेहरओ>**सेहरा**; आखेट>अहेड>**अहेर**; मेघ>मेह> **मेंह**; श्लाघ>सलाह>**सराह**; प्राघुणक:>पाहुणओ>**पाहुना**; पितृगृह>पिअहर>**पीहर**; कथ>**कह**; नाथ>**नाह**; प्रभात>पहा>पह, **पौह**; मुक्ताफल>**मुकताहल**।

संस्कृत में प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप निम्नलिखित शब्द हैं—सहाय (>सखायम्), हित (>धित), अर्ह (>अर्घ), मेह (>मेघ)। /ठ/ /ढ/ से /ढ़/ का विकास हुआ है, जैसे पठति>पढइ>**पढ़े**; वृद्ध>वुड्ढ>**बूढे** (1)।

पश्चिमी भाषाओं में महाप्राण से अल्पप्राण करने की और पूर्वीय भाषाओं में अल्पप्राण से महाप्राण करने की प्रवृत्ति मिलती है। मध्यदेश की भाषाओं में दोनों तरह के उदाहरण मिल जाते हैं—

पालि में खील<कील, खुज्ज<कुब्ज, फरशु<परशु, थुस>तुष।

प्राकृत और हिन्दी में यह प्रवृत्ति कुछ अधिक मिलती है, जैसे कर्पर>**खप्पर**; क्रीडा>**खेल**; पाश>पास>**फाँस**; वेष>बेस>**भेस**; कासित>खासिअ>**खाँसी,** आदि।

जब एक शब्द में दो महाप्रण व्यंजन आ जाते हैं तो पश्चिमी बोलियों में एक का लोप कर दिया जाता है। संस्कृत भी दो महाप्राण एकसाथ ग्रहण नहीं कर पाती थी, जैसे बभूव, दधौ आदि में। व्याकरण के अनुसार ये भभूव, धधौ होते। पश्चिमी हिन्दी के उदाहरण—**धोका** (पूर्वी हिं० धोखा), **भूक** (भूख), **भाप** (भाफ), **हात** (हाथ), **भीक** (भीख), **ढीट** (ढीठ), **भूट** (भूठ), **खीज** (खीभ), इत्यादि।

अल्पप्राणीकरण के अन्य उदाहरण—

महँगा<महार्घ्य; **बहन**<भगिनी।

५.२.३. पदान्त व्यंजन—प्राकृत में पदान्त व्यंजन का लोप हो गया, जैसे पश्चा (<पश्चात्), युष्मा (युष्मत्) आदि में। कुछ उदाहरण वेद में भी मिलते हैं,

किन्तु प्राकृत में नियमपूर्वक यह परिवर्तन हुआ, जिससे सब शब्द स्वरान्त हो गये।

५.२.४. सघोषीकरण—प्राचीन काल ही से एक और प्रवृत्ति पायी जाती है, और वह है अघोष ध्वनियों को सघोष करने की। संस्कृत में इनके निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं—

काक के साथ काग, कपाट के साथ कवाट, पारापत के अतिरिक्त पारावत, अथ के अतिरिक्त अघ, आदि।

पालि में क्षाम के स्थान पर झाम, रुत के स्थान पर रुद, और शकल के स्थान पर सगल इसी प्रवृत्ति के कारण बने हैं। प्राकृत में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे घट>घड (हि० **घड़ा**); हरीतकी>हरडई (हिं० **हरड़**); कन्दुक>गेंदुअ (हि० **गेंद**); आगतः>शौर० आगदो; कथयतु>शौर० कथेदु; भवति>होदि; शुक>सुग (हि० **सुग्गा**); शोक>सोग; आकाश>आगास; पाक>पाग; प्राकार>पागार; वक>बग (हि० **बगुला**); लोक>**लोग**, इत्यादि।

हिन्दी के कुछ और उदाहरण ये हैं—**गूँधना** (तुलना० **गूँथना**); **ग्यारह**<एकादश; **कंगन**<कंकण; **अंगूर**<अंकुर; **सगुन**<शकुन; **साग**<शाक; **कुंजी**<कुंचिका; **पंजा**<पञ्चकः इत्यादि।

संस्कृत पर प्राकृत के प्रभाव के कारण—गर्त (<कर्त), तडाग (<तटाक); अंग (<अंक), नाधित (<नाथित)।

व्यंजनागम के उदाहरणों में निम्नलिखित रोचक हैं—

होंठ<ओष्ठ; हड्डी<अस्थि; **बन्दर**<वानर; **श्राप**<शाप; **भौंह**<भ्रू।

५.२.५. मूर्धन्यीकरण—/ऋ/ /र/ के परिवेश में तवर्ग को टवर्ग करने की प्रवृत्ति वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत में उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। आगे चल कर /ऋ/ /र/ की समीपता के बिना भी यह परिवर्तन होता रहा है। बताया जाता है कि यह परिवर्तन द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण भारतीय बोलियों में बराबर होते रहे हैं। उदाहरण—

वैदिक में—विकट (<विकृत), उत्कट (उत्कृत), जठर (तुल०<जर्तु)।

संस्कृत में—भट (<भृत), नटति (<नृतति), दाडिम (<दालिम), क्वण (<क्वन), अटति (<अतति), पठ् (प्रथ्), वट (वृत), पट्टन (<पत्तन)।

पालि में—निग्गण्ठ (<निर्ग्रन्थ), वण्ट (<वर्त्), डंस (<दंश), डाह (<दाह), उट्ठान (<उत्थान), ओणत (<अवनत), अट्ठि (<अस्थि), बड्ढति (<वर्धते)।

प्राकृत में /न/ का /ण/ पश्चिम में व्यापक रूप से हो गया था, साथ ही अन्य टवर्गीय ध्वनियों का विकास भी हुआ, जैसे बहेडओ < विभीतकः (हिं० **बहेड़ा**); डोला < दोला; डण्ड < दण्ड (हिं० **डंडा**); सिढिल < शिथिल (हिं० **ढीला**); डर < दर; टसर < त्रसर; वट्ट < वर्त्म (हिं० **बाट**) : गण्ठि < ग्रन्थि (हिं० **गाँठ**)।

हिन्दी के अन्य उदाहरण -

संड़सी < संदंशिका; **डाढ़** < दंष्ट्रिका; **डाह** < दाह; **गड्ढा** < गर्त्त; **मट्टी** < मृत्तिका; **ठाँव** < स्थानम्; **ठिया** < स्थितः; **टेढ़ा** < तिर्यक् + अर्घ; **ठग** < स्थग।

५.२.६. **विपर्यय**—व्यंजन-विपर्यय के कारण कुछ शब्दों का ध्वनि-क्रम बदल गया है। स्नात से न्हात (हिंदी **नहाया**) पालि-काल से, और विडाल से बिलार, बुड से डुब (हिं० **डूबे**) तथा लघु से हलु (हिं० **हलका**, बोली में हल़) प्राकृत-काल से चले आ रहे हैं। हिन्दी के अन्य उदाहरण--

पहिरना < परिधान; **बनारस** < वाणारसी < वाराणसी; **मरहट्टी** < महारट्ठी < महाराष्ट्री।

/न/ और **/ल/** का, **/ल/** और **/र/** का, **/द/** अथवा **/ड/** और **/र/** का, (और हमने पीछे मूर्धन्यीकरण के प्रसंग में देखा कि **/द/** और **/ड/** का) **/ड/** और **/ल/** का विशेषतया और इन सब व्यंजनों का सामान्यतया), आपस में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति भी प्राचीन काल से चली आयी है। संस्कृत में चर और चल, बहुर और बहुल, इडा और इला; पालि में नाडी और नाली, कीडति और कीलइ, एलः < एनः, मुळाल < मृणाल, गरुल < गरुड, नांगल < लांगल, आदि; प्राकृत में नडालिअ < ललाटिका, लज्ज < रज्जु, हलिद्द < हरिद्र; और हिन्दी में **ग्यारह** < एकादश, **लिलार** < ललाड < ललाट, **तलाव** < तडाग, **बहलना** < विहरण, **सराह** < श्लाघ, **साँवरा** < श्यामल, **भला** < भल्ल < भद्रक, **चालीस** < चत्वारिंशत्, **नखनऊ** अथवा **नखलऊ** < लखनऊ, **लोनी** < नवनीत इत्यादि अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अन्य—ऊपर हमने ऐसे परिवर्तनों का विवरण दिया है जिनके बीज प्राकृत-काल के अन्त तक मिलने लगते हैं। जो पहले प्रवृत्तियाँ मात्र थीं, वे हिन्दी में आकर नियम बन गयीं। किन्तु, इनके अतिरिक्त विकास की कुछ नयी दिशाएँ भी हिन्दी में प्रकट हुईं, जैसे **/ड़/ /ढ़/** का प्रादुर्भाव। एक और महत्वपूर्ण नया परिवर्तन यह हुआ कि **/-म-/** का **/-वँ-/** हो गया। इसके बीज अपभ्रंश में मिलते हैं। हिन्दी के उदाहरण नाम > **नाँव**; ग्राम > **गाँव**; नमन > **नवना**; श्यामल > **साँवला**; चमर > **चँवर**; कमल > **कँवल**; भ्रमर > **भँवर**; आमलक > **आँवला**। आगे चल कर अर्धस्वर **/वँ/** का **/औं/** स्वर हो गया—देखिए स्वर-परिवर्तन के प्रसंग में।

स्वरमध्यग /व/ यद्यपि मूल में आर्यभाषा से आया था और /भ/ या /प/ से विकसित हुआ था, किन्तु आगे चल कर लुप्त होने लगा। उदाहरणार्थ—

देव > **देउ**; जीव > जीउ, **जी**; वाम > बाँवा > **बायाँ**; धूम > धूवाँ > **धुआँ**; दीपक > **दीवा** > **दीया**; कूपक > कूवा > **कूआँ**।

५.३. संयुक्त व्यंजन या व्यंजन-संयोग

वैदिक और संस्कृत की सबसे बड़ी विशिष्टता है इनके संयुक्त व्यंजन। इस दृष्टि से इन दो भाषा-स्थितियों में इतना अधिक साम्य है कि यह मानना पड़ेगा कि इनमें कोई बहुत बड़ा कालान्तर नहीं रहा होगा। देखिए पृष्ठ २१-२२। इसीलिए वेद की छान्दस भाषा और पाणिनि की संस्कृत भाषा में हम ने जो ४-५ सौ वर्षों का अन्तर स्वीकार किया है, वह समीचीन ही है।

५.३.१. वर्गीकरण—संयुक्त व्यंजनों को कई वर्गों में विभक्त करके देखा जा सकता है। व्यंजन-संयोग के द्वितीय अथवा तृतीय अंग के रूप में अन्तःस्थ प्रायः सभी प्राचीन व्यंजनों से जुड़े मिलते हैं—

१. -य वाले—क्य, क्क्य, क्त्य, क्न्य, क्म्य, क्र्य, क्ल्य, क्व्य, क्ष्य, ख्य, ग्य, ग्र्य, घ्य, घ्न्य, घ्र्य, ङ्ग्र्य, ङ्ख्य, ङ्य, ङ्ग्य, ङ्घ्य, च्य, छ्य, छ्र्य, ज्य, ञ्जय, ञ्य, ट्य, ठ्य, ड्य, ड्र्य, ण्ड्र्य, ढ्य, ण्य, त्य त्य, त्न्य, त्म्य, त्र्य, त्स्न्य, थ्य, द्य, द्ध्य, द्भ्य, द्र्य, द्व्य, ध्य, ध्न्य, ध्र्य, न्य, न्त्य, न्ध्य, प्य, प्त्य, ब्य, भ्य, म्य, य्य, र्य, र्ग्य, र्च्य, र्त्य, र्त्स्य, ल्य, व्य, श्य, श्र्य, श्च्य, ष्य, ष्ट्य, ष्ट्र्य, ष्ठ्य, ष्ठ्य, स्य, स्त्य, स्न्य, स्म्य, ह्य।

-र वाले—क्र, क्त्र, ख्र, ग्र, ङ्ग्र, घ्र, छ्र, च्छ्र, ञ्छ्र, ज्र, ट्र, ठ्र, ड्र, ढ्र, ण्ड्र, त्र, त्क्र, त्त्र, द्र, ग्द्र, ब्द्र, व्द्र, ध्र, न्र, न्त्र, न्द्र, न्ध्र, न्प्र, प्र, ब्र, भ्र, म्र, म्भ्र, म्प्र, व्र, श्र, ष्ट्र, ष्क्र, ष्ठ्र, ष्प्र, स्र, स्त्र, ह्र।

-ल वाले—क्ल, ग्ल, प्ल, म्ल, श्ल, ह्ल।

-व वाले—क्व, क्त्व, क्ष्व, ग्व, घ्व, ङ्क्ष्व, च्छ्व, ज्व, ट्व, ण्व, त्व, त्त्व, ध्व, द्व, ध्व, न्व, प्व, प्स्व, ब्व, भ्व, म्व, य्व, र्व, ल्व, ळ्व, श्व, ष्ट्व, ष्व, स्व, ह्व।

सब से अधिक संख्या य-र-ल-व से संयुक्त अक्षरों की थी।

२. इसके बाद उस वर्ग को लिया जा सकता है जिस में अंतिम अंग /न/ अथवा /म/ है—

क्न, क्थ्न, क्म, क्ष्ण, क्ष्म, ख्न, ग्न, घ्न, ङ्म, च्म, ज्म, ड्म, ण्ण, ण्म, त्न, त्म, त्स्न, न, द्म, ध्न, ध्म, न्न, न्म, प्न, प्म, ब्न, भ्न, म्म, र्ण, र्म, ल्म, ळ्न, श्न, श्म, ष्ण, ष्म, स्न, स्म, ह्न, ह्म।

३. यह पहले बता दिया गया है कि नासिक्य ङ् ञ् ण् न् म् अपने वर्ग के वर्णों के साथ प्रथम अंग के रूप में जुड़े हुए वैदिक और संस्कृत में मिलते हैं। बाद में ये पूर्ववर्ती स्वर के साथ मिल कर अनुस्वार हो गये। इस प्रकार के संयुक्त व्यंजन निम्नलिखित थे—

ङ्क, ङ्क्ष, ङ्क्त, ङ्ख, ङ्ग, ङ्घ, ञ्च, ञ्छ, ञ्ज, ञ्झ, ण्ट, ण्ठ, ण्ड, ण्ढ, न्त, न्थ, न्द, न्ध, म्प, म्फ, म्ब, म्भ। देखिये य, र, वाले संयोग भी।

४. चौथे वर्ग में उन संयोगों को लिया जा सकता है जिनमें सघोष वर्ण दूसरे सघोष वर्ण से और अघोष वर्ण दूसरे अघोष वर्ण से संयुक्त होता था। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के संयोग अत्यन्त सीमित मात्रा में संभव रहे हैं—

क्त, क्थ, क्ष, ट्क, ड्ग, ड्घ, त्क, त्प, त्फ, त्स, द्ग, द्घ, द्ब, द्भ, प्त, प्स, ब्ज, ब्द, ब्ध, श्च, ष्ट, ष्ठ, ष्प, ष्क, स्क, स्ख, स्त, स्थ, स्प, स्फ।

५. द्वित व्यंजनों को अलग वर्ग में गिनना चाहिए—

क्क, ग्ग, च्च, ज्ज, ट्ट, ड्ड, त्त, द्द, न्न, प्प, ब्ब, म्म, य्य, ल्ल, व्व, श्श, स्स।

क्ख, ग्घ, च्छ, ज्झ, ट्ठ, ड्ढ, त्थ, द्ध, प्फ, और ब्भ लिखने में अल्पप्राण और महाप्राण के संयोग दिखायी देते हैं, किंतु वास्तव में ये महाप्राण ही के द्वित्व रूप हैं। शुद्ध रूप में इन्हें ख्ख, घ्घ, छ्छ, झ्झ, ठ्ठ, ढ्ढ, थ्थ, ध्ध, फ्फ, भ्भ लिखा जाना चाहिए था, किन्तु परिपाटी वैसी ही चलती है।

६. अंत में हम एक वर्ग उन संयोगों का मानते हैं जिन में /र/ और /ल/ प्रथम अंग के रूप में आये हैं—

र्क, र्ख, र्ग, र्घ, र्क्ष, र्च, र्च्छ, र्ज, र्त, र्थ, र्द, र्ध, र्प, र्ब, र्भ, र्य, र्श, र्ष, र्स, र्ह; ल्क, ल्ग, ल्प।

संयुक्त व्यंजनों की इतनी लम्बी सूची देने का विशेष अभिप्राय यह है कि प्राचीन आर्यभाषा के उच्चारण की जो बहुत बड़ी कठिनाई थी, उसे मध्य भारतीय आर्यभाषाओं ने समीकरण करके दूर कर दिया। भारतीय भाषाशास्त्र के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसका आरम्भ पालि से हुआ और जिसने प्राकृत से आगे चल कर हिन्दी को हिन्दी बनाया। इस एक प्रवृत्ति के कारण सहस्त्रों शब्द संस्कृत से बिछुड़ कर तद्भव रूप में आ गये। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के साथ सभी आधुनिक आर्यभाषाओं के बहुत बड़े शब्द-भण्डार को समझने की यह नियामक कुंजी है। समीकरण की प्रक्रिया ने पहले पालि की संस्कृत से भिन्न सत्ता प्रतिष्ठित की। इस प्रक्रिया का पूर्ण विकास प्राकृत में आकर हुआ,

जबकि संयुक्त व्यंजन नियमतः द्वित व्यंजन में परिवर्तित हो गये । अपभ्रंश में इस द्वित व्यंजन की जगह एक सामान्य व्यंजन, और उससे पूर्व के स्वर का दीर्घीकरण आरम्भ हुआ । हिन्दी में इस नयी प्रक्रिया की परिणति हुई—पश्चिम में आंशिक और पूर्व में लगभग सम्पूर्ण और व्यापक । पश्चिमी हिन्दी में अब भी ऐसे शब्द चल रहे हैं जिनमें व्यंजन तो एक हो गया, परन्तु पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घीकरण नहीं हुआ है, जैसे **सच** (पूर्वी हिन्दी **साँच**) < प्रा०, पा० सच्च < सं० सत्य; **लग** (पूर्वी हिन्दी **लाग**) < प्रा०, पा० लग्ग < सं० लग्न । शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन के स्थान पर अकेला व्यंजन पालि ही से मिलता है ।

५.३.२ ~~क्ष~~ ५.३.२. समीकरण की स्थितियाँ

१. ऊपर दिये गये **प्रथम वर्ग और छठे वर्ग के संयोगों में अन्तःस्थ** (य र ल व) का प्रायेण दूसरे व्यंजन **के साथ समीकरण होता है। अन्तःस्थ सदा दुर्बल तत्व रहे हैं।**

प्रथम वर्ग से उदाहरण--माणिक्य 7 माणिक्क > **मानिक**; व्याख्यान > वक्खाण > **बखान**; योग्य > योग्ग > जोग्ग > **जोग**; ज्येष्ठ > जेट्ठ > **जेठ**; ज्योति > जोति > **जोत**; धान्य > धन्न > **धान**; शून्य > सून्न, सुन्न > **सुन्न**, **सूना**; स्थाप्यति > थाप्पइ > **थापे**; कल्य > कल्ल > **कल**; श्यालकः > सालओ > **साला**; कांस्य > कंस्स > **कांस**(1); चक्र > चक्क > **चाक**; अग्रे > अग्गे > **आगे**; व्याघ्र > वाग्घ > बग्घ > **बाघ**; रात्रि > रात्ति > रत्ति > राति > **रात**; निद्रा > निद्दा > **नींद**; गृध्र > **गिद्ध** > **गीध**; प्रिय > पिय > **पिय**(1), **पी**; प्रग्रह > पग्गह > **पगह**(1); ब्राह्मण > **बाम्हन**; आम्र > आम्म, अम्म > **आम**; तीव्र > पा० तिब्ब; मिश्र > पा० > **मिस्स**; स्रोत > सोत्त > **सोत**(1); पक्व > पक्क > **पक्का**, **पाका**, **पका**; क्वथिता > कढिता > कढ़िआ > **कढ़ी**; खट्वा > खट्टा, > **खाट**; किण्व > पा० किण्ण; बिल्व > बिल्ल, वेल्ल > **बेल**; श्वास > सास > **साँस**; स्वन > **सन**; शुक्ल > पा० सुक्क ।

टिप्पणी—१. जब दो अन्तःस्थों का योग हो तो /र/ सब से निर्बल होता है, जैसे कार्य > काज्ज, कज्ज > **काज**, दूर्वा > दुब्ब > **दूब** । /र/ को छोड़ कर यदि किसी अन्य अन्तःस्थ से /य/ का संयोग हो तो /य/ को अपनी सत्ता दूसरे में खो देनी होती है, जैसे मूल्य > मुल्ल > **मोल**; कर्त्तव्य > **करतब** । इनमें /ल/ सब से अधिक सबल है, जैसे बिल्व > **बेल**; कल्य > **कल** में ।

२. दन्त्य वर्णों के साथ /य/ के संयोग से चवर्ग और /व/ के योग से पवर्ग विकसित होते हैं, जैसे—

सत्य > सच्च > **सच**, **साँच**; मिथ्या > पा० मिच्छा; अन्नाद्य > अन्नज्ज > **अनाज**; वंध्या > बंझा > **बाँझ**; वृद्धत्व > बुड्ढप्प > **बुढ़ापा**; द्वादश > **बारह** ।

३. ताम्र से ताम होना चाहिए था, किन्तु तम्ब और फिर **ताँबा** बने हैं।

४. जिह्वा में /ह्व/ का पहले /भ/ हो कर जिब्भ और फिर **जीभ** हुआ है।

५. तवर्ग और /र/ के संयोग से कभी-कभी **टवर्ग** का विकास हुआ है। इसके उदाहरण नीचे (टिप्पणी २ के अन्तर्गत) दिये जायँगे। देखिए ५.२.५ भी।

छठे वर्ग से उदाहरण—पर्कटी > पक्कटी > पक्कड़ी, पक्कड़ > **पाकड़**; मार्ग > मग्ग > **मग**; कूर्चिका > कुच्चिआ > **कूची**; खर्जुर > खज्जूर > **खजूर**; पर्ण > पण्ण > **पान**; वर्तिका > बत्तिआ > **बत्ती, बाती**; चतुर्थ > चउत्थ > **चौथा**(।); गर्दभ < गद्दभ > गद्दह > **गदह(।), गधा**; अर्ध > अद्ध > **आध**(।); कर्पूर > कप्पूर > **कपूर**; दुर्बल > दुब्बल > **दुबल(।), दूबर**; गर्भिणी > गब्भिणी > **गाभिन**; कर्म > कम्म > **काम**; दुर्लभ > दुल्लभ > दुल्लह > **दूलह**(।); दूर्वा > दुब्बा > **दूब**; पार्श्व > पास्स > **पास**; कर्षण > कस्सण > **कसन**(।); वल्कल > बक्कल; फाल्गुन > फग्गुण > **फागुन**।

टिप्पणी—१. /र्य/ का /य्य/ होना चाहिए था, किन्तु यह /ज्ज/ में परिवर्तित हुआ, जैसे कार्य > /*कय्य/ > कज्ज/ > **काज**।

२. /र/ या /ऋ/ के परिवेश में तवर्ग का टवर्ग हो जाने (मूर्धन्यीकरण) का उल्लेख ऊपर किया गया है। अन्य उदाहरण—

त्रुट् > टुट्ट > **टूट**; कैवर्त > केवट्ट > **केवट**; मृत्तिका > मट्टिआ, मिट्टिआ > **मट्टी, माटी, मिट्टी**; धृष्ट > ढिट्ठ > **ढीठ**; द्वि-अर्ध > दिअड्ढ > **डेढ़**; वृद्ध > बुड्ढ > **बूढ़**(।); वर्धते > वड्ढई > **बढ़े**।

५.३.२.३. द्वितीय वर्ग के संयोगों में प्रायेण नासिक्य व्यंजन का **पूर्वगामी** व्यंजन के साथ समीकरण होता है। उदाहरणार्थ—

रुक्म > रुक्क > **रोक**, अग्नि > अग्गि > **आगि, आग**; नग्न > नग्ग > **नंगा** (।); स्वप्न > पा० सोप्प; तीक्ष्ण > तिक्ख > **तीख**(।); रश्मि > **रस्सी**।

टिप्पणी—१. यदि दो नासिक्य ध्वनियों का संयोग हो तो पुरोगामी समीकरण होता है, जैसे निम्न > पा० निन्न; उन्मूलयति > पा० उम्मूलेति।

२. आत्मन् में /त्म/ का /प्प/ और फिर /प/ हुआ है—अप्पण > **अपन**(।)।

३. कभी-कभी ऊष्म + नासिक्य होने पर ऊष्म व्यंजन की जगह /ह/ हो जाता है, जैसे कृष्ण > कह्ण > **कान्ह**; स्नात > न्हात > **नहाया**। वास्तव में इनमें स्वरभक्ति और वर्ण-विपर्यय हो गया। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

५.३.२.४. तृतीय वर्ग के संयोगों में नासिक्य ध्वनि सुरक्षित रहती है, अल्बत्ता पूर्वी हिन्दी में पूर्ववर्ती स्वर में अनुनासिकता का आभास होता है। अघोष स्पर्श प्रायः सघोष हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—

कङ्काल > **कंगाल**; शङ्ख > **संख**; शृङ्गार > **सिंगार**; जङ्घा > **जाँघ**; पञ्च > **पाँच**; पञ्चक > पञ्चअ > **पंजा**; गुञ्ज > **गूँज**; कण्टक > **काँटा**; कण्ठ > कंठ, **काँठा**; दण्ड > **डण्ड**(ा), **डाँड़**; दन्त > **दाँत**; स्कन्ध > **कंधा**, **काँध**(ा); चन्द्र > **चाँद**; कम्पन > **काँपना**।

४. चतुर्थ वर्ग का समीकरण पुरोगामी होता है, जैसे भक्त > भत्त > **भात**; च्युत-कृ > चुक्क > **चूक**; उद्‌गलन > उग्गलण > **उगलना**; उद्‌घाटन > उग्घाडण > **उघाड़ना**; मुद्‌ग > मुग्ग > **मूंग**; दुग्ध > दुद्ध > **दूध**; नप्तृ > नात्त > **नाता**; उत्पद्यत > उप्पज्जइ > **उपजे**; स्थान > **थान**; अंगुष्ठ > अंगुट्‌ठ > **अँगूठ**(ा); स्फुट > **फूट**।

टिप्पणी—१. स्पर्श से पहले ऊष्म व्यंजन हो तो पुरोगामी समीकरण के साथ महाप्राणत्व भी आ जाता है, जैसे स्कम्भ > खम्भ > **खंभा**; शुष्क > सुक्ख > **सूख**(ा); वृश्चिक > विच्छिअ > **बीछी**, **बिच्छू**; धृष्ट > ढिट्‌ठ > **ढीठ**; प्रस्तर > **पत्थर**; मस्तक > मत्थअ > **माथा**।

२. ऊष्म बाद में आये तो उसका /**छ**/ हो जाता है, जैसे अप्सरा > **अच्छरा**, **अछरा**; ऋक्ष > रिच्छ > **रीछ**; वत्स > बच्छ > **बछ**(ड़ा)।

३. /**क्ष**/ के दो विकास हैं—**क्ख** और **च्छ**—जैसे क्षीर, द्राक्षा, पक्ष से क्रमशः **खीर**, **दाख**, और **पाख**; एवं ईक्षा, क्षमा, कक्ष से **इच्छा**, **छमा** और **काँछ**। कभी-कभी एक ही शब्द के दो रूप प्राप्त होते हैं—जैसे क्षुर से **छुरा** और **खुर**; लक्ष्मण से **लछमन** और **लखन**; क्षार से **खार** और **छार**; इत्यादि। **ख**-प्रवृत्ति पश्चिमी प्राकृतों की और **छ**-प्रवृत्ति पूर्वी प्राकृतों की बतायी जाती है। आदि /**क्ष**/ का /**झ**/ भी हुआ है, जैसे क्षरति > झरइ > **झरे**, क्षीण > झीण > **झीन**(ा)।

५. पंचम वर्ग के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। ये संयोग प्राकृत रूप में ही हैं—अर्थात् यह स्वीकार कर लेना है कि प्राचीन आर्यभाषा संयुक्त व्यंजन-प्रधान है और मध्य आर्यभाषा द्वित्त व्यंजन-प्रधान है।

समीकरण का यह सिद्धान्त आर्यभाषा में तब से देखा जा सकता है जब से वैदिक का सम्पर्क मध्यदेश से हुआ। वेद में दूढभ (<दुर्दभ), उच्छेक (<उत्सेक), आदि रूप, एवं संस्कृत में उज्झ(<उद्‌जहा, उज्जहाति); कट्टयति(<कर्त्तति), कन्दति (<क्रन्दति), टलति (<ट्‌वलति), पठ्(<प्रथ्), शुभ(<शुभ्र), कोट (<कोष्ठ), केवट (<वैदिक कैवर्त्त), सूर (<सूर्य), लांछन (<लक्षण), पुत्तल (पुत्रल), नापित (<स्नापित), पश्यति (<*स्पश्यति, 'स्पष्ट' में यह रूप प्रकट है), नायु (<स्नायु), नल्ल (<नल्व), फल (<*स्फल), भट्ट (<भर्तृ) इत्यादि बहुत से शब्द मध्यदेशीय प्राकृत की इस प्रवृत्ति के कारण बने हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि समीकरण की इस प्रवृत्ति का आरम्भ प्राचीन आर्यभाषा के सन्धि-नियमों से हुआ है। अन्तर इतना ही है कि सन्धि एक स्वतन्त्र और सार्थक पद के अन्तिम व्यंजन के परवर्ती और दूसरे स्वतन्त्र और सार्थक शब्द के प्रथम व्यंजन की होती थी और समीकरण एक ही पद के बीच में उसी प्रकार के व्यंजन का होने लगा। उच्चारण-सिद्धान्त वही था। पहले चिन्ता यह थी कि शब्द का अपना रूप प्रकट रहे, किन्तु देखा गया कि इसका निर्वाह वैसे सन्धि कर देने पर भी नहीं हो सकता तो समीकरण का सिद्धान्त व्यापक रूप में लागू होने लगा। तुलना के लिए निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

उत्+सादन>उच्छादन, एवं उत्सव>उच्छ्व, उत्साह>उच्छाह,

तद्+नगरम्>तन्नगरम्
तद्+च>तच्च,
तत्+टीका>तट्टीका

एवं

फूत्कार>फुक्कार>फुंकार,
भक्त>भत्त>भात,
उद्घाटन>उग्घाडण>उघाड़न(ा)।

पालि के बाद संधियुक्त पद, सूप्तिङन्त पद और स्वतन्त्र शब्द में ध्वनि-संयोजन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रह गया।

संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण भाषा में एक गड़बड़ी-सी मच गयी, जिसकी विवेचना अगले प्रकरण में की जायगी।

जिन व्यंजन-संयोगों के स्थान पर पालि और प्राकृत में द्वित या दीर्घ व्यंजन किए गए थे, वे पंजाबी, लहँदी आदि भाषाओं में प्राकृत रूप में अब भी विद्यमान हैं। हिन्दी ने सरलता की दिशा में एक पग और आगे बढ़ कर उनके स्थान पर सामान्य एकल व्यंजन कर दिये, जिसका अर्थ यह हो गया कि यहाँ से उस कोटि के परिवर्तनों की वैसी ही गुंजायश निकल आयी, जैसी कि संस्कृत-प्राकृत के सामान्य व्यंजनों में थी और जिसका उल्लेख अभी किया जाने वाला है। किन्तु, यह सब भविष्य के गर्भ में है।

५.३.३. **स्वरभक्ति**---संयुक्त व्यंजनों के समीकरण सिद्धान्त के अपवादस्वरूप भी संयोग नहीं बने रह सके। ऐसी स्थिति में स्वरभक्ति द्वारा संयोगों में वियोग लाकर सरलता लाने की चेष्टा की जाती रही। अनुकरण करते समय आज भी हिन्दी प्रदेश के अनपढ़ या कमपढ़ लोग अपरिचित व्यंजन-संयोगों का विभाजन स्वरभक्ति द्वारा कर लेते हैं, संयुक्त व्यंजन नहीं रहने देते। उदाहरणार्थ—

संस्कृत में **मनोरथ**<**मनोऽर्थ**, मुसल<मुस्र, पुरुष<वैदिक पूर्ष।

प्राकृत में सलाह<श्लाघ, किलेस<क्लेश।

हिन्दी में **आसरा**<आश्रय, **सनेह**<स्नेह, **मिसिर**<मिश्र, **परब**<पर्व, **बरत**< ब्रत, **मूरख**<मूर्ख।

भारतेन्दु-युग से पहले के हिन्दी साहित्य में यह प्रवृत्ति सब कालों की अपेक्ष

अधिक है। कवि जब भी कोई संस्कृत का शब्द लेना चाहते तो उसे बोलचाल के उच्चारण में ढाल लेते थे और संयुक्त व्यंजनों को स्वरभक्ति द्वारा फाड़ देते थे

५.३.४. सामान्य व्यंजनों के स्रोत

नीचे हम **हिन्दी के उन सामान्य व्यंजनों की सूची** दे रहे हैं जो उपर्युक्त परिवर्तनों के फलस्वरूप नाना संयोगों से अवतरित हुए हैं—

क<सं० क्य, क्र, क्ल, क्व, क्म, क्न, त्क, त्क्र, क्क, र्क, ल्क, स्क इत्यादि।

ख<सं० ख्य, ख्र, क्ष, क्ष्य, क्ष्व, क्ष्ण, क्ष्म, ख्न, स्क, स्ख, ष्क, क्ख, र्ख, र्ष्य, ष्य इत्यादि।

ग<सं० ग्य, ग्र, ग्र्य ग्ल, ग्व, ग्न, द्ग, द्ग्र, र्ग, ल्ग इत्यादि।

घ<सं० घ्य, घ्र, घ्न द्घ, ग्घ, र्घ, र्घ्य इत्यादि।

च<सं० च्य, च्म, त्य, च्च, र्च, र्च्य इत्यादि।

छ<सं० छ्य, छ्र, र्च्छ, श्च, श्र, त्स, प्स इत्यादि।

ज<सं० ज्य, द्य, र्य, य्य, ज्ज, ज्र, ज्व, ज्म, र्ज, र्ज्य इत्यादि।

झ<सं० ध्य, क्ष, ह्य इत्यादि।

ट<सं० त्र, र्त, ट्र, ट्व, ट्ट, ष्ट, ष्ट्र, ट्य इत्यादि।

ठ<सं० र्थ, ट्ठ, ठ्य, ष्ठ, ष्ट, ठ्र, स्थ इत्यादि।

ड, ड़<सं० र्द, ध्र, ड्र, ड्य, ड्ड, ड्म इत्यादि।

ढ, ढ़<सं० र्ध, ध्र, ढ्र, ढ्य, ड्ढ इत्यादि।

त<सं० त्र, त्व, त्न, क्त, क्त्र, त्त, र्त, प्त इत्यादि।

थ<सं० स्त, स्थ, त्थ, र्थ इत्यादि।

द<सं० द्र, द्व, द्न, द्य, ब्द, द्द, र्द, द्र्य, द्र्र इत्यादि।

ध<सं० ध्र, ध्व, ध्न, द्ध, ब्ध, र्ध इत्यादि।

प<सं० त्व, त्म, प्य, प्र, प्ल, प्व, प्न, प्प, र्प, ल्प इत्यादि।

फ<सं० ष्प, स्प, स्फ इत्यादि।

ब<सं० द्व, व्य, व्व, ब्र, व्र, र्व, द्व, ब्य, ब्ब, र्ब इत्यादि।

भ<सं० भ्य, भ्र, भ्व, र्भ, भ्न, द्भ, ब्भ इत्यादि।

स<सं० स्य, स्र, श्र, श्य, स्व, श्व, श्ल, स्न, र्श, र्स, र्ष इत्यादि।

इत्यादि कहने का यहाँ यह तात्पर्य है कि दो व्यंजनों के बाद तीसरा व्यंजन हो तो भी सिद्धि वही रहती है; दूसरे यह कि क आदि व्यंजनों की सिद्धि सामान्य व्यंजनों से भी अनेक प्रक्रियाओं द्वारा होती है; एवं हिन्दी के ये व्यजन संस्कृत से अक्षुण्ण रूप में भी (विशेषतः शब्द के आदि में) चले आ रहे हैं। इनका विवरण ५.२. के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

५. ४. विदेशी व्यंजन

५.४ १. अरबी-फ़ारसी—विदेशी शब्दों को भी हिन्दी अपनी ध्वनि-प्रणाली में ढालती आ रही है। भारतेन्दु-काल से पहले हिन्दी साहित्य में इनके प्रचलित बोल-चाल के रूप प्रयुक्त होते थे। बाद में मूल के, या कम से कम उर्दू के, निकट उच्चारण रखने की चिन्ता प्रधान रही है। अरबी-फ़ारसी के /से/ और /स्वाद/ उर्दू में आकर /स/ में ढल गये; /ज़े/ /ज़ाल/ /ज़्वाद/ और /ज़ोय/ चारों /ज़/ हो गये; तोय /त/ का सा हो गया : /हे/ (हुत्ती) /ह/ की तरह और /क़ाफ/ /क/ की तरह उच्चरित होने लगा। /ऐन/ (व्यंजन) का उच्चारण /अ/ स्वर की तरह हो गया। हमज़ा (व्यंजन) भी य-व-श्रुति के रूप में रह गया। /ख़/ /ग़/ /ज़/ /फ़/ के सम्बन्ध में इस प्रकरण के आरम्भ में (पृ० १००) देखिए। जिन ध्वनियों के नीचे विन्दु लगा कर नागरी लिपि में भेद कर लिया गया है, उनके अतिरिक्त ध्वनियों में उच्चारण का संकेत करने के लिए हम दो विन्दु और रेखा देकर काम चला सकते हैं से =/स़/, स्वाद=स़/, ज़ाल =/ज़/, ज़े =/ज़/, ज़ोय=/ज़/, ज़्वाद /ज़/, तोय /त़/, हे=/ह़/, ये=/य़/।

संयुक्त व्यंजनों को हिन्दी ने प्रायः स्वरभक्ति लाकर सरल किया, जैसे गर्म > **गरम**; क़द्र> **कदर**; **हुक्म** >**हुकुम** इत्यादि।

अन्त्य /ह/ /का/ /आ/ हो गया जैसे **किनारा**, **बस्ता**, **सादा**, **वरना** आदि में; किन्तु स्वराघातयुक्त अक्षर का यह /ह/ सुरक्षित रहा, जैसे **दरगाह**, **राह**, **मल्लाह** आदि में।

बोलचाल में /व/ का /ब/, /य/ का /ज/ और /श/ का /स/ मिलता है। प्राय शिक्षित लोग शुद्ध उच्चारण करते हैं।

उपर्युक्त नियमित परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ छिटपुट शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनमें परिवर्तन की दिशा तो स्पष्ट है किन्तु व्यापकता नहीं है। उदाहरणतया—काग़ज़ >**कागद**; मज़दूर>**मजूर**; नक़्द>**नगद**।

अरवी-फ़ारसी के स्वर प्रायः सुरक्षित हैं, किन्तु लिखाई में चिह्नों का प्रयोग कड़ाई से न होने के कारण कुछ शब्दों में हेरफेर हो गया है, जैसे **निमाज** (फ़ा० नमाज़), **मसला** (फ़ा० मसअलह) में।

ध्वनि-परिवर्तन की अन्य विचित्र दिशाओं की जानकारी के लिए हिन्दी (कोष्ठ में अरबी-फ़ारसी) शब्दों की निम्नलिखित सूची रोचक होगी—

उकील (वकील), **साह** (जी) (शाह), **दरखास** (दरख़्वास्त), **गुलबन्द** (गुलूबन्द), **हवाल**(अहवाल), **साहब**(साहिव), **मुहल्ला**(महल्लाह), **दप्तर** (दफ़्तर), **जलूस** (जुलूस), **पेंच** (पेच), **मामला** (मुआमिलह), **लहमा** (लमहह), **माफी** (मुआफ़ी), **नजीक** (नज़दीक)

५.४.२. अँग्रेज़ी—अँग्रेज़ी के उच्चारण में अपेक्षाकृत कुछ अधिक क़ायापलट हुई है। अँग्रेज़ी की बहुत ही कम ध्वनियाँ ऐसी हैं, जो हिन्दी में पायी जाती हैं। उन सब ध्वनियों को हिन्दी के साँचे में ढाला गया है। जैसे—अँग्रेज़ी में /क/, /ग/, /प/, /ब/, /च/, /ज/, /ट/, /ड/ महाप्राण व्यंजन हैं; हिन्दी में इन्हें अल्पप्राण कर दिया गया है; उच्चारण-स्थान भी हमने अपना ही रखा है। /फ़/, /ज़/ को पढ़े-लिखे लोग तो शुद्ध रूप में बोल लेते हैं, किन्तु जनसाधारण इन्हें अपने /**फ**/ /**ज**/ में परिवर्तित कर देते हैं। /w/ और /v/ की क्रमशः द्वयोष्ठ्य और दन्तोष्ठ्य ध्वनियों को एक /व/ में बदल देते हैं। अक्षरान्त्य r /र/ का उच्चारण हिन्दी में प्रायः किया जाता है, जैसे **मोटर मास्टर, प्रोफ़ेसर** आदि में।

संयुक्त व्यंजन कभी तो तद्वत् संयुक्त रहते हैं, जैसे **पेट्रोल, डिग्री, स्टेशन, बक्स, मार्च** आदि में; कभी उनके बीच में स्वरभक्ति लायी जाती है, जैसे **फारम, बुरुश, गारद, बरांडी** में; और कभी आदि-अन्त्य स्वरागम द्वारा उच्चारण को सरल कर लिया जाता है, जैसे **इस्कूल, इस्टाम, बक्सा, बोल्टू** आदि में और कुछ में व्यंजन सरल हो जाता है, जैसे **कलट्टर** (<कलक्टर), **सितम्बर** (<सेप्टेम्बर) इत्यादि।

अँग्रेज़ी शब्दों में परिवर्तन की असामान्य दिशाओं के लिए निम्नलिखित शब्दों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है—

अप्रैल (एप्रिल), **काग** (कॉर्क), **जर्नैल** (जनरल), **ठेठर** (थियेटर), **दर्जन** (डज़न), **दिसम्बर** (डिसेम्बर), **बैरा** (बेयरर), **बोतल** (बॉट्ल), **मई** (मे), **रपट** (रिपोर्ट), **लंकलाट** (लांगल्कॉथ), **लालटैन** (लैन्टर्न), **सिगल** (सिगनल), **सिकत्तर** (सिक्रेटरी), **कप्तान** (कैप्टेन), **पतलून** (पैंटलून), **अर्दली** (आर्डरली), **अस्पताल** (हॉस्पिटल), **अफसर** (ऑफ़िसर), **अक्तूबर** (ऑक्टूबर), **सितम्बर** (सेप्टम्बर), **केतली** (कैटल), **तमाखू** (टोबैको), **लाट** (लार्ड), **फरवरी** (फ़ेब्रुअरी), **फलालैन** (फ़्लैनल), **रँगरूट** (रेक्रूट), **संतरी** (सेन्टिनल)।

५.५. हिन्दी व्यंजनों का वर्गीकरण और विवरणात्मक परिचय

पृष्ठ १०६ पर दी गयी सारणी का अच्छी तरह अध्ययन कीजिए। व्यंजनों के वर्गीकरण के दो आधार हैं—उच्चारण-स्थान और प्रयत्न। मुख के जिस भाग से किसी व्यंजन का उच्चारण होता है, उसे उस व्यंजन का उच्चारण-स्थान कहते हैं। हिन्दी व्यंजनों की दृष्टि से निम्नलिखित स्थान महत्त्वपूर्ण हैं—
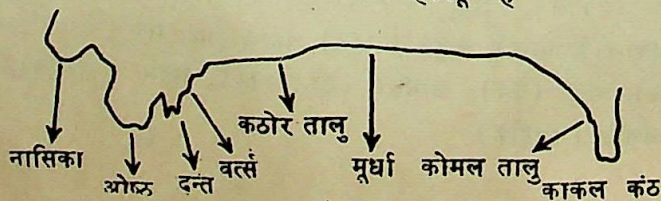
होंठों से लेकर मुख के भीतर गले तक इन स्थानों पर बोले जाने वाले व्यंजनों के नाम रखे गये हैं। इस प्रकार ह काकल्य है; क ख ग घ ङ ख़ ग़ कोमल-तालव्य; ट ठ ड ढ ण ष ड़ ढ़ मूर्धन्य; च छ ज झ ञ श तालु-वत्स्य; य तालव्य; न न्ह स ज़ ल ल्ह र र्‍ह वर्त्स्य; त थ द ध दन्त्य; फ़ व दन्त्योष्ठ्य; और प फ ब भ म म्ह व ओष्ठ्य या द्वयोष्ठ्य व्यंजन हैं। ङ ञ ण न म नासिक्य हैं। ये नासिका और मुख दोनों से बोले जाते हैं। शुद्ध रूप में क़ ख़ ग़ जिह्वामूलीय व्यंजन हैं।

व्यंजनों के उच्चारण के समय पहले (आभ्यन्तर) और पीछे (बाह्य) श्वास के कुछ प्रकार बनते हैं, जिन्हें श्वास का **प्रयत्न** कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों के सात भेद हैं—

१. क ख ग घ ङ (कवर्ग), ट ठ ड ढ ण (टवर्ग), त थ द ध न (तवर्ग) और प फ ब भ म (पवर्ग) का उच्चारण करने में जीभ किसी अवयव के साथ स्पर्श मात्र करके श्वास को थोड़ा रोकती है और फिर छोड़ देती है। इन्हें स्पर्श व्यंजन कहते हैं।

२. च छ ज झ ञ (चवर्ग) के उच्चारण में स्पर्श तो होता है, किन्तु साथ ही श्वास रगड़ (संघर्षण) करके निकलता है। इन्हें स्पर्श-संघर्षी कहते हैं।

३. श ष स ह फ़ ख़ ग़ ज़ के उच्चारण में जीभ स्पर्श नहीं कर पाती। वह ऐसी स्थिति में रहती है कि श्वास संघर्षण के साथ निकल जाता है। इन्हें संघर्षी व्यंजन कहा जाता है। इन्हें ईषत् स्पृष्ट भी कहते हैं।

४. ल ल्ह को पार्श्विक ध्वनि कहते हैं, क्योंकि इसका उच्चारण करते समय श्वास जीभ के दोनों पार्श्वों (पक्षों) से निकल जाता है।

५. र र्‍ह का उच्चारण करें तो श्वास जीभ की नोक तक लुढ़कता हुआ निकलता है। इन दो को लुण्ठित व्यंजन कहा जाता है।

६. ड़ ढ़ के उच्चारण में जीभ उठकर एक टक्कर मूर्धा से मारती है और थोड़ा आगे बढ़ जाती है। ये उत्क्षिप्त ध्वनियाँ कहलाती हैं।

७. य व के उच्चारण में मुखद्वार आधा खुला रहता है। इन्हें अल्पविवृत या अर्धस्वर कहते हैं।

बाह्य प्रयत्न के अनुसार व्यजनों के दो भेद हैं—सघोष और अघोष। वर्ग के पहले और दूसरे (अर्थात् क ख च छ ट ठ त थ प फ) और क़ ख़ फ़ श ष स अघोष हैं। शेष सब सघोष हैं।

बाह्य प्रयत्न के दो भेद और हैं—महाप्राण और अल्पप्राण। वर्ग के दूसरे और चौथे (अर्थात् ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ) तथा ह ख़ फ़ न्ह म्ह र्‍ह ल्ह महाप्राण हैं। शेष सब अल्पप्राण हैं।

५.५.२. ऊपर के आधारों पर प्रत्येक व्यंजन का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे--

क—कोमल-तालव्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे कल, वाक्।

ख—कोमल-तालव्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे खाट, राख।

ग—कोमल-तालव्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे गोल, साग।

घ—कोमल-तालव्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे घर, मेघ।

ङ—कोमल-तालव्य, नासिक्य, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे पङ्क।

च—तालु-वर्त्स्य, स्पर्शसंघर्षी, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे चाचा, नाच।

छ—तालु-वर्त्स्य, स्पर्शसंघर्षी, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे छाछ।

ज—तालु-वर्त्स्य, स्पर्शसंघर्षी, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे जज।

झ—तालु-वर्त्स्य, स्पर्शसंघर्षी, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे झाँझर।

ञ—तालु-वर्त्स्य, स्पर्शसंघर्षी, सघोष, नासिक्य, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे मञ्जन।

ट—मूर्धन्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे टट्टू।

ठ—मूर्धन्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे ठठेरा, ठाठ।

ड—मूर्धन्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे डाल, रेडियो।

ढ—मूर्धन्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे ढोल, मेंढक।

ण—मूर्धन्य, स्पर्श, सघोष, नासिक्य, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे प्राण।

ड़—मूर्धन्य, उत्क्षिप्त, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे रोड़ा।

ढ़—मूर्धन्य, उत्क्षिप्त, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे डेढ़।

त—दन्त्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे तोता।

थ—दन्त्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे थुथनी।

द—दन्त्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे दाद।

ध—दन्त्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे धुंध।

न—वर्त्स्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण नासिक्य व्यंजन; जैसे नाना।

न्ह—वर्त्स्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण नासिक्य व्यंजन; जैसे नन्हा।

प—ओष्ठ्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे पाप।

फ—ओष्ठ्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे फल।

ब—ओष्ठ्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे बल्ब।

भ—ओष्ठ्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे भाभी।

म—ओष्ठ्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण नासिक्य व्यंजन; जैसे मामा।

म्ह—ओष्ठ्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण नासिक्य व्यंजन; जैसे तुम्हें।

य—तालव्य, अर्धस्वर, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे यायावर।

र—वर्त्स्य, लुंठित, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे रोड़ी, भार।

र्ह—वर्त्स्य, लुंठित, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे र्हीं।

ल—वर्त्स्य, पार्श्विक, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे बाल।

ल्ह—वर्त्स्य, पार्श्विक, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे ल्हास।

व—दंतोष्ठ्य, अर्धस्वर, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे वह, दवा।

व—द्वयोष्ठ्य, अर्धस्वर, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे देव।

श—तालु-वर्त्स्य, संघर्षी, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे शाबाश।

ष—मूर्धन्य, संघर्षी, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे शेष, षट्कोण।

स—वर्त्स्य, संघर्षी, अघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे सास।

ज़—वर्त्स्य, संघर्षी, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे ज़ोर, मेज़।

फ़—दंतोष्ठ्य, संघर्षी, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे फ़ेल।

ग़—कोमल-तालव्य, संघर्षी, सघोष, अल्पप्राण व्यंजन; जैसे ग़रीब।

ख़—कोमल तालव्य, संघर्षी, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे ख़ून।

ह—काकल्य, संघर्षी, अघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे दुःख, राह।

ह—काकल्य, संघर्षी, सघोष, महाप्राण व्यंजन; जैसे हम, राही।

ऊपर के व्यंजनों को समान व्यंजन कहते है। इनमें ड़, ढ़, ण, ङ, ञ, ष, ह् शब्द के आदि में नहीं आते। ङ ञ केवल संयोग में आते हैं। प्रायः इनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होता है। ह् का उच्चारण विसर्ग की तरह होता है।

यह बताया जा चुका है कि श संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के शब्दों में; ष केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों में; ख़ ग़ (कभी-कभी क़ भी) अरबी-फ़ारसी में; और ज़ फ़ अरबी-फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी के शब्दों में पाया जाता है।

संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों की सूची पीछे ५. ३. के अन्तर्गत दी गयी है।

५.५.३. नये व्यंजन-संयोग—हिन्दी में संयुक्त व्यंजन दो तरह के हैं—एक तो संस्कृत के संयुक्त व्यंजन जो साहित्यिक हिन्दी में प्रयुक्त तत्सम शब्दों में व्यवहृत होते हैं। सदूरे वे जो हिंदी ने बाद में विकसित कर लिये हैं। इनमें कुछ उधार में लिये हुए विदेशी शब्दों में हैं और कुछ नये बन गये हैं। आदि में क्य (क्या, क्यों, क्यारी), क्र (क्रिस्तान), क्ल (क्लब, क्लास); क्व (क्वाँरा, क्वार्टर,) ख्य (ख्याल), ख्व (ख्वार), ग्य (ग्यान, ग्यारह), ग्र (ग्रेड, ग्रेन), ग्व (ग्वाला), च्य (च्यूड़ा, च्यूंटा), ज्य (ज्यों, ज्यादा), ज्व (ज्वार), ट्र (ट्रंक, ट्रेन), ट्य (ट्यूब), ड्य (ड्योढ़ी), ड्र (ड्रामा, ड्राइवर), त्य (त्यों, त्योहार), न्य (न्यारा), प्य (प्यार, प्याला, प्यास), प्र (प्रोनोट), प्ल (प्लेट), फ्र (फ्रेम, फ्राक), ब्य(ब्याज, ब्याह), ब्र (ब्रेक), ब्ल (ब्लॉक), म्य (म्याँव), स्क (स्कूल), स्ट (स्टूल), स्प (स्पीकर), स्य (स्याना), स्ल (स्लीपर), स्व (स्वीटर)।

अन्त्य व्यंजन-संयोग सभी विदेशी शब्दों में हैं, हिन्दी के तद्भव शब्दों में नहीं हैं। उदाहरण—

उम्र, गर्म, बर्फ, वक्त, पर्स, सिल्क, इत्र, सख्त, बक्स, कार्ड।

मध्य में आने वाले व्यंजन-संयोगों की संख्या बहुत अधिक है। उदाहरण—

हिन्दी शब्द—**इक्यावन, सत्रह, कश्मीरी, फुर्ती, कोल्हू, उल्टा, फुन्सी।**

फ़ारसी शब्द—**जल्दी, ग़ल्ती, मुख़्तार, दर्द, कस्बा, दस्तूरी, बर्फ़ी, बल्कि, नक्ली, दर्ज़ा, लश्कर, किस्मत, शर्बत, सुल्फ़ा, इस्लाम, नाश्ता।**

अँग्रेज़ी शब्द—**पट्रोल, ऐक्टर, सर्कस, डाक्टर, वास्कट, पिस्तौल, कप्तान।**

अक्षर के अन्त में /अ/ का उच्चारण न होने के कारण हिन्दी में अनेक शब्दों के बीच में संयुक्त व्यंजन बोले जाते हैं, भले ही लिखने में वे अलग-अलग होते हैं। इसी के कारण हिन्दी में उच्चारण और लिखावट का सामंजस्य नहीं रह गया। उच्चारण के उदाहरण—

नक्टा, चिक्ना, सक्ता, बक्री, लिख्ना, जग्ना, जाग्ता, हिच्की, बेच्ना, सोच्ता, कुच्ला, खुज्ली, भेज्ता, माँज्ना, बाज्रा, लट्का, टूट्ना, खिड़्की, कित्ना, पत्वार, पत्ला, आद्मी, कूद्ना, फुद्की, उप्कार, कप्टी, सप्ना, दुब्का, झुम्का, सम्धी, गम्छा, कम्ला, सर्ला, फिर्ना, बर्छी, छिल्का, कल्सा, मिल्ना, चल्ता, पस्ली, पाल्की, उल्झाव इत्यादि।

५.६. स्वर

५.६.१. सामान्य स्वर—ऐसा जान पड़ता है कि संसार की किसी भाषा की लिपि में उसके सभी स्वर अनुलिखित नहीं किये जा सकते। अँग्रेज़ी में पाँच स्वर-चिह्न कम से कम १४ समान स्वरों और अनेक स्वर-संयोगों का काम देते हैं। हिन्दी में भी **अ, आ**, आदि की कई छायाएँ हैं; ह्रस्व **ए, ओ** के लिए कोई चिह्न नहीं हैं; एवं **ऐ औ** दो-दो काम करते हैं—सामान्य स्वरों का भी और सन्ध्यक्षरों का भी। प्रायः बोलियों में स्वरों की विभिन्नता कुछ अधिक होती है और साहित्यिक तथा शिष्ट नागरिक भाषा में स्वरों का सामान्यीकरण हो जाने से संख्या अवश्य कम रहती है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक भाषा में भी समान स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ; चार संध्यक्षर ए, ओ, ऐ, औ; एक विसर्ग और दो अर्धस्वर य व थे। प्राग्वैदिक आर्यभाषा में र और ल भी अर्धस्वर थे, तब से इनकी गणना अन्तःस्थों में होती आ रही है; किन्तु इनके परवर्ती विकास से सिद्ध होता है कि वैदिक काल ही में ये व्यंजन हो गये थे। पहले /ल/ शुद्ध व्यंजन बना, फिर /र/—इसका

प्रमाण पाणिनि के ह य व र (ट्) से मिलता है। इस वर्ग का /ह/ विसर्ग है। व्यंजन /ह/ शिव सूत्र के अन्त में आता है।

समान स्वरों में आ ई ऊ ॠ की गणना पाणिनि के शिव सूत्र में नहीं हुई। ये तो मात्रा-काल की दृष्टि से **अ इ उ ऋ** के दीर्घ रूप मात्र हैं। मात्रा-काल की दृष्टि से अ इ उ ऋ के प्लुत रूपों को भी अलग स्वर मानना पड़ेगा। हो सकता है कि पाणिनि के समय तक इनमें मात्रा-काल का ही अन्तर रहा हो, किन्तु बाद में स्थान और प्रयत्न का भेद भी प्रकट हो जाने से अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ को अलग-अलग ध्वनिग्राम मान लिया गया। अ की अपेक्षा आ अधिक विवृत और पश्चवर्ती स्वर है। इ की अपेक्षा ई अधिक संवृत और अग्रवर्ती स्वर है। इसी प्रकार उ की अपेक्षा ऊ अधिक संवृत और पश्चवर्ती स्वर है। ऋ ॠ स्वतन्त्र स्वर के रूप में आगे नहीं चले। पंडित वर्ग में परम्परागत शब्दों में इनका उच्चारण परिवर्तित रूप में होता आया है।

ऋक्प्रातिशाख्य में ऋ का उच्चारण-स्थान वर्त्स माना गया है, साथ ही इसे मूर्धन्य स्वर भी कहा गया है। इसी से पता चलता है कि यह प्राग्वैदिक आर्य स्वर था, जिसका उच्चारण वैदिक काल तक आते-आते अनिश्चित होने लगा था। बाद में मध्यदेश के लोगों ने अनुकरण करते समय इसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया और इसका उच्चारण जीभ को दो बार वर्त्स से छुआकर किया जाने लगा। कुछ-कुछ ऐसा ही उच्चारण आज भी कहीं-कहीं प्रचलित है। जनसाधारण में ऋ ने अपना स्थान **अ इ उ** को दे दिया—पालि और प्राकृत में इस तरह ऋ का लोप ही हो गया। अब तो पंडित समाज में भी तत्सम शब्दों में ऋ का उच्चारण /रि/ जैसा होता है।

लृ केवल एक वैदिक शब्द क्लृप् में था। आजकल इसे /लिर/ करके बोलते हैं जिससे इसकी स्वरीय प्रकृति का कुछ भी आभास नहीं मिलता।

५.६.२. **संयुक्त स्वर**—ए ओ ऐ औ को पाणिनि ने एक वर्ग में गिना है ये चारों संध्यक्षर थे और क्रमशः इनका उच्चारण अइ, अउ, आइ, आउ कर होता था। संस्कृत में धीरे-धीरे **ए ओ** समान स्वर हो गये, जैसे वे आज भी हिन्द में हैं एवं **एक, ओर, प्रेत, ओत-प्रोत** आदि शब्दों में पाये जाते हैं। इस परिवर्तन फलस्वरूप **ऐ औ** क्रमशः **अइ अउ** हो गये। विसर्ग बना रहा, किन्तु इसके उच्चार में अवश्य अन्तर आ गया। इस तरह संस्कृत में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए अ १० समान स्वर और **ऐ औ** दो संध्यक्षर और विसर्ग थे। **ॠ** केवल सन्धि में आत था, किसी मूल शब्द में नहीं था। पालि में ऋ ॠ नहीं रहे। **ऐ औ** का स्थान क्रमश **ए ओ** ने ले लिया, किन्तु दो नये स्वर मध्यदेश की लोकभाषाओं से प्रकट हुए—

ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ। इस प्रकार पालि में १० समान स्वर थे—अ आ इ ई उ ऊ, ए ह्रस्व, ओ ह्रस्व, ए दीर्घ, ओ दीर्घ। संध्यक्षर नहीं रहे। विसर्ग का भी या तो लोप हो गया या इसके स्थान पर ओ और आ आ गए। समान स्वर प्राकृत में भी यही १० रहे। साहित्यिक हिन्दी में ह्रस्व /ए/ /ओ/ बोले तो जाते हैं, लेकिन ह्रस्व और दीर्घ /ए/ /ओ/ में कोई लिपिगत अन्तर नहीं दिखाया जाता। हिन्दी में तीन नये समान स्वरों का विकास हुआ—/ऐ/ जैसे **पैसा, रैन, ऐसा** आदि में, और /औ/ जैसे **बौना, औना-पौना, लौ** आदि में, एवं /ऑ/ जो अँग्रेज़ी के प्रभाव के कारण पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में स्थान पा गया है और **डॉक्टर, मॉडल** आदि शब्दों में दिखाया भी जाता है। अतः हिन्दी में १३ समान स्वर हैं—**अ आ इ ई उ ऊ; ह्रस्व ए ओ, दीर्घ ए ओ, ऐ औ ऑ**। बोलियों में स्वरों के उच्चारण-सम्बन्धी कई छायाभेद हैं। उदाहरण-स्वरूप ब्रजभाषा का /औ/ सामान्य हिन्दी के /औ/ से कुछ भिन्न है। किन्तु, ये छायाएँ अर्थभेदक नहीं हैं।

इन सब स्वरों के सानुनासिक रूप भी मिलते हैं, जैसे अंग, आँख, इंच, ईंट, उँगली, ऊँट, बातें, भैंस, सोंठ, सौंफ में।

अनुस्वार और अनुनासिक अलग-अलग स्वनिम हैं, जैसे हंसी, हँसी; संवार, सँवार में।

प्राकृत-काल से संयुक्त स्वरों की संख्या में वृद्धि होती गयी है। हिन्दी में पुनः स्वर-सयोगों में सन्धि कर देने के कारण यह संख्या कम हुई, किन्तु फिर भी ऐसे संयुक्त स्वरों की काफ़ी बड़ी सूची है (देखिए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १११-११४)। वेद में तितउ जैसे कुछ-एक उदाहरण स्वर-संयोगों के मिल जाते हैं, किन्तु संस्कृत में किसी शब्द में एक से अधिक स्वर एकसाथ नहीं मिलते, व्यंजन एक साथ भले ही दो, तीन, चार हो जायें। प्राकृत में एक से अधिक व्यंजन संयुक्त होकर नहीं आते, प्रायः एक से अधिक स्वर संयुक्त रूप में आ जाते हैं।

५.६ ३. परिवर्तन की स्थितियाँ—देश-काल-भेद से स्वरों की चार स्थितियाँ रहीं—१. सुरक्षितता, २. ह्रस्व से दीर्घ, दीर्घ से ह्रस्व अथवा एक स्वर का दूसरे स्वर में परिवर्तन, ३. लोप और ४. नवागम अथवा नव विकास।

जिस अक्षर पर स्वराघात बना रहा, उसका स्वर प्रायः सुरक्षित रहा है। उदाहरण—

कंकण > **कंगन;** कटाह > **कड़ाह;** ग्राम > **गाँव;** शिर > **सिर;** कीटक > कीडओ > **कीड़ा;** क्षीर > **खीर;** युक्त > **जुट;** दूर > **दूर;** केश > **केस;** क्रोश > **कोस**; इत्यादि।

प्राचीन आर्यभाषा के /ऋ/, /ऐ/, /औ/, जो आगे चल कर रहे ही नहीं, स्वराघात की स्थिति में भी परिवर्तित हो गये।

ऋ देश-भेद से अ, इ, उ में परिणत हुआ। हमारा मत यह है कि पश्चिम में इ, पूर्व में अ और दक्षिण में इससे उ का विकास हुआ। आज भी हम इस परम्परा के अवशेष देख सकते हैं—कृष्ण को पढ़े-लिखे लोग भी पश्चिम में क्रिशण, पूर्व में क्रश्न, दक्षिण में क्रुष्ण करके बोलते हैं। **अमृत** का उच्चारण 'गुरु ग्रन्थ साहब' में **अम्रत**, कबीर में **अम्रित**, और दक्षिण में **अम्रुत** रूप में मिलता है। धीरे-धीरे भाषा के साथ ये तीनों प्रवृत्तियाँ घुल-मिल कर व्यापक हो गयीं। उदाहरण—

ऋ <अ—घृष्टः >प्रा० घट्टो, घट; वृषभ >प्रा०, हिं० **बसह;** वृन्तक >बंट > बंड(ा); मृत्तिका >मट्टिआ >**मट्टी**।

ऋ >इ—अमृत >अमिअ >**अमी;** घृत >घिअ >**घी;** शृगाल >सिआल > **सिआर;** बृहस्पति >बिहप्फइ >**बिप्फै;** घृणा >घिणा >**घिन**।

ऋ >उ—पृच्छति >पुच्छइ >**पूछे;** मातृस्वसृका >माउस्सिआ >**माउसी, मौसी;** शृणोति >सुणइ >**सुने**।

कुछ विद्वानों का विचार है कि ओष्ठ्य व्यंजन के बाद ऋ का उ होता है, किन्तु अमृत से **अमी** और मृत से **मुआ**, अथवा बृहस्पति से **बिप्फै** और वृद्ध से **बुड्ढा** एवं पृच्छति से पुच्छइ, पृष्ठ से पिट्ठ (हिं० **पीठ**) इस मत का खण्डन करने के लिए पर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त मृत्तिका से **मट्टी** भी बना है, **मिट्टी** भी।

पालि में ऋद्धि, ऋक्ष और ऋण के लिए इद्धि, अच्छ और अण शब्द मिलते हैं, किन्तु बाद में ऐसा हुआ कि शब्द के आदि में /ऋ/ का /रि/ उच्चारण करके उसे रहने दिया। हिन्दी **रीछ; रुत** <ऋतु; **रिखी** <ऋषि; **रीसमूक** <ऋष्यमूक इसी प्रवृत्ति के कारण बने हैं।

ऐ का ए और औ का ओ पालि-काल से ही हो गया था—उदाहरणतया पालि में मैत्री >मेत्ती; गौतम >गोतम। अशोक के शिलालेखों में पोत्त <पौत्र, प्राकृत में एहिअ <ऐहिक; गेरिअ (हिं० **गेरू**) <गैरिक; तेल <तैल; सेवाल (हिं० **सेवार**) <शैवाल; सोहाग (हिं० **सोहाग**) <सौभाग्य; मोत्तिअ (हिं० **मोती**) <मौक्तिक; जोव्वण (हिं० **जोबन**) <यौवन।

प्राकृत में कुछ ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं जिनमें ऐ औ का अइ अउ रूप सुरक्षित है, जैसे दइच्च (<दैत्य), भइरव (<भैरव), पउर (<पौर), कउसल (<कौशल)। यह पूर्वी भाषाओं के प्रभाव का फल है। आज भी अवधी और भोजपुरी में **पैसा, जैसा, बैर, मैला** आदि शब्दों का उच्चारण **पइसा, जइसा, बइर, मइला;** और **औरत, बौना, मौत, कौन** आदि का उच्चारण **अउरत, बउना, मउत, कउन** सुना जाता है। कबीर और जायसी में इस तरह के शब्द देखे जा सकते हैं।

संयुक्त व्यंजन का पालि में दीर्घ व्यंजन करते समय उससे पहले के दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाने लगा, क्योंकि दीर्घ स्वर के बाद दीर्घ या द्वित व्यंजन का उच्चारण कठिन होता है। प्राकृत में इस प्रवृत्ति की परिणति हुई। हिन्दी ने दीर्घ व्यंजन को समान या ह्रस्व किया तो उससे पहले के स्वर को पुनः दीर्घ कर दिया; अथवा संस्कृत का जो ह्रस्व स्वर था, उसे भी दीर्घ कर दिया। किन्तु पश्चिमी भाषाओं (लहँदी, पंजाबी) में प्राकृत की प्रवृत्ति बनी रही, जिससे हिन्दी में दोनों तरह के स्वर मिल जाते हैं, उदाहरणतया—

ह्रस्व स्वर सुरक्षित—सत्य > **सच**; कल्य > **कल**; सर्व > **सब**; सप्तति > **सत्तर**; पक्व > **पक्का**; कर्पट > **कपड़ा**; मत्स्य > **मछ(ली)**; दुर्बल > **दुबला** (पूर्वी हिन्दी **दूबर**); अन्ध > **अंधा**।

ह्रस्व स्वर दीर्घीकृत—चन्द्र > **चाँद**; दन्त > **दाँत**, पृष्ठ > पिट्ठ > **पीठ**; खट्वा > खट्टा > **खाट**; पित्तल > **पीतल**; शिक्षा > सिक्खा > **सीख**; मिष्ट > मिट्ठ > **मीठ(ा)**; निद्रा > निद्द > **नींद**; दुग्ध > दुद्ध > **दूध**।

दीर्घ स्वर सुरक्षित अथवा पुनःस्थापित—वार्ता > बत्ता < वात; लाक्षा > लक्खा > लाख; कार्य > कय्य > कज्ज > **काज**; राज्ञी > रण्णी > **रानी**; शीर्ष > सिस्स > **सीस**।

दीर्घ स्वर ह्रस्वीकृत—मार्ग > मग्ग > **मग**; शून्य > **सुन्न**; व्याख्यान > वक्खाण > **बखान**; भाण्डागार > भण्डआर > **भण्डार**; कूष्माण्ड > **कुम्हड़ा**।

जब पालि में ह्रस्व ए ओ का प्रचार हुआ तो इनमें और इ उ में बहुत कम भेद रह गया। अतः तब से प्राकृत की तरह हिन्दी में अभेद की यह प्रवृत्ति रही है; पुष्कर > पुक्खर, पोक्खर > **पोखरा**; तुण्ड > तुंड, तोंड > **तोंद**; सुखकर > **सोहर**; निमन्त्र (ण) > निमंत > **नेवता**; मूल्य > मूल्ल, मोल्ल > **मोल**; बिल्व > बिल्ल, बेल्ल > **बेल** इत्यादि।

५/६.४. स्वर-सम्बन्ध—प्रत्येक भाषा में स्वरों के परस्पर सम्बन्ध की कुछ कड़ियाँ होती हैं। भारतीय आर्यभाषाओं में ० **अ आ; इ ई ए ऐ य; उ ऊ ओ औ व**—ये तीन प्रमुख वर्ग पारस्परिक सामंजस्य और सहज विनिमय के माने जा सकते हैं—प्रत्येक वर्ग की एक अपश्रुति या स्वर-श्रेणिता है। वैदिक के निम्नलिखित शब्दों की परीक्षा कीजिए—

पतामि, अपप्तम्, अपाति, में आ, ०, अ का परस्पर विनिमय हुआ है।

आप्तुमः, आप्नोमि; आहुति, हूति, धोति, धौतरि में उ ऊ ओ औ का परस्पर विनिमय; और गीत, गायति में ई, आय का परस्पर विनिमय हुआ है। ऊपर पोखर, बेल आदि रूप इस स्वर-सामंजस्य का परिणाम हैं। अन्य परिवर्तन—

इ, **ई** > ए, जैसे विभीतकः > बहेडओ > **बहेड़ा**; छिद्र > **छेद**;

उ, ऊ>**ओ**, जैसे ताम्बूल>**तंबोल;**

ऐ>**ई**, जैसे धैर्य>**धीरज;**

य>**इ**, जैसे व्यतीत>**बितीत**; छाया>**झांई**;

य>**इ**, वैदिक त्रयधा>त्रिधा;

य>ए, जैसे प्रा० कयल (सं० कदली)>**केला;** सं० शय्या>सेज्जा>**सेज;** सं० त्रयोदश>तेरस>**तेरह;**

व>**ऊ** जैसे यज्ञोपवीत>**जनेऊ;** छुप>छिव>**छू;**

व>**ओ**, जैसे प्रतिवेशी>**पड़ोसी;** पुत्रवधू>**पुतोहू;** भाद्रपद>भद्दवअ>**भादों;** स्वपिति>सुवइ>**सोए;** लवण>लोण>**लोन;**

व>**औ**, जैसे धवल>**धौला;** भवन>**भौन;** कर्पादिका>कवड्डिआ>**कौड़ी;** सपत्नी>सवत्ती>**सौत;** कर्षपट्टी>कस्सवटी>**कसौटी;** अवतार>**औतार;**

वं>**औं**, जैसे भ्रमर>मंवर>**भौंरा;** समर्प>सवंप्प>**सौंप**।

/य/ और /व/ अर्धस्वर होते-होते बाद में स्वर ही हो गये और आसपास के स्वरों से मिल कर एक प्रकार से संधि-स्वर हो गये। प्राकृत तक के इन और दूसरे सब तरह के संधि-स्वरों या स्वर-संयोगों को संक्षिप्त करके समान स्वरों में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति का अपभ्रंश से आरम्भ हो गया था—जैसे सं० चतुर्थः<प्रा० चउत्थो>अप० चोत्थो; सं० द्विगुण>प्रा० दूउण>अप० दूण; सं० स्वर्णकार>प्रा० सोण्णआर, अप०>सोण्णार।

५.६ ५. संधि-स्वर—यह ज्ञातव्य है कि संस्कृत में संधि-स्वर नहीं थे। प्राकृत के ही संधि-स्वरों को अपभ्रंश ने छाँट कर समान स्वरों में परिवर्तित करना आरम्भ किया। हिन्दी ने इस प्रवृत्ति को नियम के रूप में आगे बढ़ाया और निम्नलिखित ध्वनि-रूप सिद्ध हुए—

अ+अ>**ए** जैसे कदली>कअलि>**केल(ा)**,

अ+अ>**ऐ**, जैसे मदन>मअण>**मैन**; रजनी>रअणी>**रैन;**

अ+अ या आ+अ के बीच में कभी-कभी य- अथवा व-श्रुति भी लायी गयी, जैसे गतः>गओ>**गयो, गया**; राजा>**राआ**>**राया**, राय; कातर>काअर>**कायर;** राजा>राआ>राव;

अ या आ+इ>ए, जैसे बदिर>बइर>**बेर**;

अ या आ+इ>ऐ, जैसे बलिवर्द>बइल्ल>**बैल**; उपविष्ट>उवइट्ठ>**बैठ;** महिष>भइंस>**भैंस;** तादृश>ताइस, तइस>**तैसा;** पदिर>पइर>**पैर;** ज्ञातिगृह>नाइहर>**नैहर**

अ या आ+उ **ओ** या **औ**; जैसे मयूर>मऊर>**मोर**; भ्रातृजाया>भाउज्जिआ>**भौजाई**; वातुल>बाउल>**बौर** (ा); पादऊन>पाअऊन>**पौना**;

आ+आ>आ, जैसे चक्रवाकः>चक्कवाआ>**चकवा**;

इ+अ या आ>ई (अन्तिम), जैसे मौक्तिक>मोत्तिअ>**मोती**; यूथिका>जूहिआ>**जुही**; शाटिका>साडिआ>**साड़ी**; मक्षिका>मक्खिआ>**मक्खी**। शब्द के मध्य में **इ आ** के बीच में विकल्प से य-श्रुति लायी गयी है—जैसे, शृगाल>सियाल>**सियार**; नारिकेल>नारिअल>**नारियल**;

उ, ऊ+अ>ऊ (अन्तिम), जैसे भल्लूक>भल्लुअ>**भालू**; उल्लूक>**उल्लूअ**>**उल्लू**; लड्डुक>लड्डुअ>लड्डू।

शब्द के बीच में होने से व-श्रुति से भी काम लिया गया है, जैसे द्यूत>जूअ>**जुवा** आदि।

इस प्रक्रिया का एक परिणाम यह भी हुआ कि संस्कृत के शब्दों की अक्षर-संख्या, जो प्राकृत में आकर व्यंजन-लोप के कारण कम हो रही थी, हिन्दी तक आते-आते स्वर-संधि के कारण और भी कम हो गयी। तुलना कीजिए—

सं० पाद ऊन=पा द ऊ न (चार अक्षर); प्रा०, अप० पा ऊ न (तीन अक्षर); हिं० **पौन** (एक अक्षर)।

सं० उपविष्ट—उ प विष् ट (चार अक्षर); उ व इट्‌ ठ (चार अक्षर), ब इ ट्‌ठ (तीन अक्षर); **बैठ** (एक अक्षर)।

५. .६. **स्वर-लोप**—हिन्दी में अक्षरों की संख्या का ह्रास विशेषतः स्वरों के लोप के कारण हुआ। शब्द के अन्त में -अ, -इ, **-उ** और विसर्ग का लोप हो गया। उदाहरणतया—

पुत्र>पुत्त>**पूत** (हिन्दी में उच्चारण **पूत्‌**); बिल्व>बेल्ल>**बेल** (=**बेल्‌**); रात्रि>रत्ति>रात (=**रात्‌**); अक्षि>अक्खि>**आँख**; लघु>हलु>**हल(का)**; इक्षु>इक्खु>**ईख** (=**ईख्‌**); गुरुः>**गुरु**; हरिः>**हरि**।

टिप्पणी—कुछ बोलियाँ अब भी ऐसी हैं, जिनमें अन्त्य -अ, -इ, -उ, का उच्चारण होता है। हिन्दी बोलियों में -इ, -उ ब्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी और भोजपुरी में भी पाये जाते हैं। उदाहरण—**मीचु** (<मृत्यु), **राति** (<रात्रि)। आगे चल कर प्रायः पुंल्लिग एकवचन शब्द उकारान्त और स्त्रीलिंग एकवचन शब्द इकारान्त हो गये, जैसे **नरु**, **रोगु**, **देसु**; **बाँहि**(<वाहु, **बाँह**), **बाइ** (<वायु), **पीठि** (<पृष्ठ)। वर्तमान काल में खड़ीबोली के प्रभाव से यह अन्त्य -उ तथा -इ सामान्य भाषा में प्रयुक्त नहीं होते।

अन्त्य दीर्घ स्वरों का भी क्रमशः लोप हो गया, जैसे संध्या>संझा>**साँझ**;

बाला > **बाल;** भिक्षा > भिक्खा > **भीख;** घृणा > घिण्णा > **घिन;** सपत्नी > सवत्ती > **सौत;** नारी > **नार;** वल्ली > **बेल;** भगिनी > भइणी > भैण > **बहन;** रजनी > रयणी > **रैन;** श्वश्रू > सस्सू > **सास** ।

विसर्ग के स्थान पर प्राकृत में -ओ हो गया था, जैसे बालकः < बालओ, घोटकः > घोडओ, गतः > गओ । वह अब भी ब्रजभाषा, बुन्देली, राजस्थानी आदि हिन्दी बोलियों में विद्यमान है, जैसे **बालो, घोड़ो, गयो** आदि में । यह अन्त्य /ओ/ अपभ्रंश में /उ/ हो गया; यह भी कुछ बोलियों में अभी तक विद्यमान है, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है । ग्रामीण खड़ीबोली में -ओ और -उ दोनों के अवशेष मिल जाते हैं, किन्तु सामान्य और साहित्यिक हिन्दी में -ओ का **-आ** और -उ का लोप हो गया है । पूर्वी हिन्दी में इस -ओ का -उ होकर लोप हो गया, जैसे **घोड़, बड़, खोट, नीक** आदि में ।

इस लोप का कारण यह है कि शब्द के जिस अक्षर पर स्वराघात पड़ता है वह पहले से अधिक स्पष्ट हो जाता है और उसके बाद का अक्षर निर्बल हो जाता है, जैसे कुक्कुर > **कूकर** । अन्त्य स्वरों के लुप्त हो जाने का यही कारण है ।

जिस प्रकार स्वराघात के बाद का स्वर निर्बल होकर धीरे-धीरे लुप्त हो गया, उसी प्रकार स्वराघात से पूर्व का स्वर भी निर्बल अथवा लुप्त हो गया । उदाहरण— अरघट्ट > **रहट**; अरिष्ट > **रीठा;** विभूति > बिभूत > **बभूत;** अधस्तात् > **हेठा;** राजपुत्र > **रजपूत;** वाराणसी > वाणारसी > **बनारस;** गभीर > गहीर > **गहिरा** > **गहरा** ।

५.६.७. **अन्य परिवर्तन** –अक्षर के निर्बल हो जाने पर दीर्घ स्वर का ह्रस्व भी हो जाता है, जैसे हाथ, किन्तु **हथकड़ी**; काठ, किन्तु **कठफोड़ा**; बात, किन्तु **बतरस**; आठ, किन्तु **अठखेली**; सात; किन्तु **सतरह** ।

अन्य उदाहरण—आभीर > **अहीर**; शिरीष > **सिरिस**; आखेट > **अहेर**; आषाढ़ > **असाढ़**; पुत्रवधू > पुत्तोहू > **पतोहू**; सुपुत्र > **सपूत**; विभीतकः > बहेडओ > **बहेड़ा**; परीक्षा > **परख** ।

इसी स्वराघातहीनता के कारण अक्षर के निर्बल हो जाने पर, कभी-कभी तो कोई स्वर काम देने लगा, जैसे—

पश्चात् > पच्छा > पिच्छे > **पीछे**; शाल्मली > सिम्बलि > **सेमल**; शय्या > **सेज**; हरिद्रा > हलद्दा > **हलदी**; ललाट > **लिलार**; पंजर > **पिंजरा**; नकुल > **नेवला**; नमन > **निवना**, इत्यादि ।

स्वरों के समानीकरण और विषमीकरण का कारण भी एक अक्षर में किसी स्वर की प्रबलता और साथ के अक्षर में दूसरे स्वर की निर्बलता है । उदाहरण—

समानीकरण—**इम्ली** < अम्लिका; **उंगुल** < अंगुलि; **लोहू** < रुधिर ।

विषमीकरण—**गेहूँ**< गोधूम; **कपूत**< कुपुत्र।

इस तरह स्वर-लोप के कारण विचित्र प्रकार के स्वरों का आगम होता है। हमने संयुक्त व्यंजनों के प्रसंग में देखा कि स्वरभक्ति के द्वारा कई स्वर (प्रायः ह्रस्व) व्यंजन-संयोगों के बीच में लाये जाते हैं, जैसे--

जन्तर, मन्तर, जनम, जतन, पूरब, पूरुब, किलेस, मूरख, मूरुख आदि।

कभी-कभी (विशेषतः स्-व्यंजन से संयुक्त) व्यंजन-संयोगों को आदि स्वरागम द्वारा विभक्त किया जाता है। उदाहरणतया--

उस्तुति, अस्तुति, इस्टेशन, इस्थिति, (अ)स्थिर, इष्टाम आदि। बीच में स्वर-भक्ति के कारण अक्षरों की संख्या अक्षुण्ण रही है, और आदि में स्वरागम के कारण एक अक्षर की वृद्धि हुई है।

५.४.८. अनुनासिक स्वर—अन्त में हम अनुनासिक स्वरों की चर्चा करना चाहते हैं। संस्कृत में दीर्घ स्वर के साथ और ह य व र ल श ष स से पहले ह्रस्व स्वर के साथ सानुनासिकता के उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे--तांश्चक्रे, मां कथयति; किंशुक, नपुंसक, संहार इत्यादि में; किन्तु मध्य आर्यभाषा-काल से अनुनासिक स्वरों में वृद्धि हुई है।

प्रथम श्रेणी में वे अनुनासिक स्वर आते हैं, जो नासिक्य व्यंजन+व्यंजन के विकास से प्राप्त हुए, जैसे—

दन्त > **दाँत**; मङ्गल > **मंगल**; शृङ्खला > **साँकल**; पञ्च > **पाँच**; चञ्चु > **चोंच**; दण्ड > **डाँड़**; मुण्डन > **मूँड़ना**; चन्द्र > **चाँद**; कम्पति > **काँपे**; अंक > **आँक**; सन्ध्या > **साँझ**; अन्त्र > **आँत**; स्कन्ध > **कंधा**; कङ्काल > **कंगाल**; पुञ्ज > **पूँजी**, इत्यादि।

दूसरी कोटि में उन्हीं अनुनासिक स्वरों को ले लीजिए, जो अन्तःस्थ और ऊष्म व्यंजनों के पहले संस्कृत में थे, और बाद में सुरक्षित रहे हैं; जैसे **मांस, उँहूँ, काँसा** (< कांस्य) आदि में।

तीसरी श्रेणी में उन अनुनासिक स्वरों को ले लें, जो नकार या मकार की जगह आ गए हैं, जैसे **उंचालीस**< ऊनचत्वारिंशत्, **कोंहड़ा**< कूष्माण्ड, **भैंस**< महिषी; **कँवल** < कमल इत्यादि में।

सहवर्ती (सम्पर्कज) अनुनासिकता को, जो पड़ोस में पड़े नासिक्य व्यंजन के कारण आ जाती है, अलग श्रेणी में लेना होगा। उदाहरण--मेघ > **मेंह**; मार्ग > **माँग**; नग्न > नग्ग > **नंग(ा)**; श्मश्रु > **मूँछ**; मार्जार > **मंजार**; महार्घ > **महँगा**। प्राचीन हिन्दी साहित्य और लोक-उच्चारण में **नांम, कांम, कांन, मींन, मौंन, भौंन, चूँम** आदि रूप मिलते हैं।

अन्त में हम स्वतः आगत अनुनासिकता का उल्लेख करना चाहते हैं। यह बताना तो कठिन है कि इस प्रकार की अकारण अनुनासिकता का उत्स क्या है, किन्तु पूर्वी बोलियों में अनुनासिकता की अधिकता को देख कर अनुमान लगाया जा सकता है कि यह आग्नेय कुल की भाषाओं के प्रभाव से सम्भव है। तुलना कीजिए—

पश्चिमी हिन्दी—**सोच, बेच, पूछ, सच, कहार, बहूटी, ठोकना**; और पूर्वी हिन्दी—**सोंच, बेंच, पूंछ, साँच, कँहार, बहूँटी, ठोंकना**।

हिन्दी के अन्य उदाहरण—अश्रु>अप० अंसु>**आँसु**; श्वास>**साँस**; भ्रू>**भौं**; यूका>**जूं**; अक्षि>**आँख**; उष्ट्र>**ऊँट**; सर्प>**साँप**; वक्र>वंक>**बाँका**; आपाक>**आँवाँ**; छाया>**छाँह**; पक्ष>**पंख**; उच्च>**ऊँचा** इत्यादि।

५.६.६. सामान्य स्वरों के स्रोत—इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी स्वरों के विभिन्न स्रोत हैं, यथा—

अ—<अ (पल), <आ (आभीर), <उ (अगुरु), <इ (हरिद्रा), <ऋ (मृत्तिका), <ए (नारिकेल); <स्वरभक्ति (रत्न), <ओ (शोभाञ्जन)।

आ—<आ (जाल), <अ (हस्त), <प्रा० अ+अ (सुण्णआर<स्वर्णकार) <विसर्ग (कः) या प्रा०-ओ (घोडओ), <प्रा० आ+आ (कोट्ठाआरिअ <कोष्ठागारिक)।

इ—<इ (गर्भिणी), <ई (दीपावली), <अ (अम्लिका), <ऋ (घृणा)।

ई—<ई (क्षीर), <इ (इक्षु), <ऋ (शृङ्ग)।

उ—<उ (क्षुर), <ऊ (सूची), <अ (अंगुलि)।

ऊ—<ऊ (कर्पूर), <उ (पुत्र), <ऋ (पृच्छति), <औ (पौष)।

५.७. हिन्दी स्वरों का वर्गीकरण और वर्णनात्मक परिचय

५.७.१. समान स्वर—हिन्दी को निम्नलिखित स्वर संस्कृत की परम्परा से प्राप्त हुए हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ।

ऋ केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होता है। इसका स्वरत्व अब नहीं रह गया। हिन्दी में प्रायः इसका उच्चारण रि होता है।

ए ऐ ओ औ संस्कृत में तो सयुक्त स्वर थे, किन्तु हिन्दी में ये समान स्वर हैं। संयुक्त स्वर अलग हैं जिन्हें ५.७.२. के अन्तर्गत देखिए।

स्वरों के वर्गीकरण के निम्नलिखित आधार हैं —

१. उच्चारण-स्थान के अनुसार स्वरों के निम्नलिखित भेद हैं—

अ आ—कोमल-तालव्य ए ऐ—कंठ-तालव्य

इ ई—कठोर-तालव्य ओ औ—कंठोष्ठ्य

उ ऊ—ओष्ठ्य

२. मात्रा के अनुसार स्वरों के दो भेद हैं—ह्रस्व (लघु) और दीर्घ (गुरु)। अ इ उ ह्रस्व हैं, एवं आ ई ऊ ए ऐ ओ औ दीर्घ हैं। बोलियों में ह्रस्व एँ और ओँ भी हैं।

अंग्रेजी का ऑ प्रायः पढ़े-लिखे लोगों ने अपना लिया है। बॅड् (bed), सॅट् (set) आदि का एँ भी प्रचलित है।

३. ध्वनि केवल मुख से निकलती है अथवा मुख और नासिका दोनों से—इस विचार से स्वरों के दो भेद हैं—अननुनासिक तथा सानुनासिक। उदाहरण—

अब, आग, इस, ईद, उल्लू, ऊसर, एकड़, ऐब, हो, और;

अंग, आँच, इंच, ईंट, उँगली, ऊंचा, एँडवा, मैं, हों, भौंरा।

४. जीभ की स्थिति की दृष्टि से हिन्दी स्वरों के तीन वर्ग हैं—अग्र स्वर (इ ई ए ऐ), मध्य स्वर (अ), और पश्च स्वर (उ ऊ, ओं औ, आ, ऑ)।

५. मुखविवर कितना खुला रहता है, इस दृष्टि से हिन्दी के स्वर चार प्रकार के हैं—संवृत (मुंह थोड़ा भिचा हुआ) ई ऊ; अर्धसंवृत इ उ; अर्धविवृत अ ए ओ; विवृत (मुंह खुला) ऐ औ आ ऑ। देखिए नीचे का चित्र।
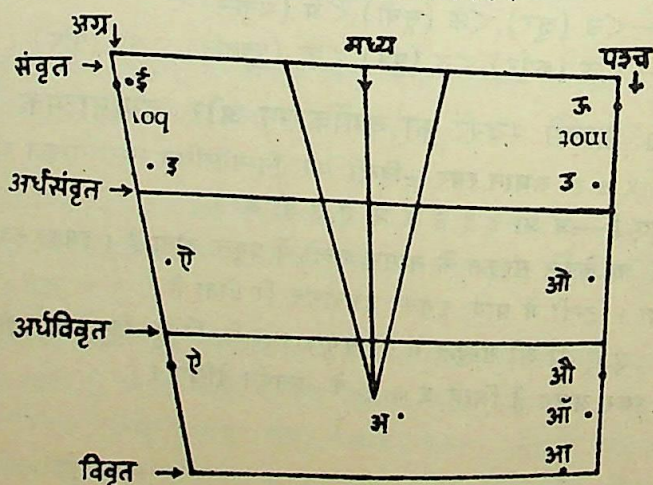
६ ओष्ठों की स्थिति की दृष्टि से स्वरों के तीन भेद हैं—वृत्ताकार (गोल होंठ वाले) स्वर उ ऊ ऑ ओ औ; अवृत्ताकार स्वर इ ई आ ए ऐ; एवं उदासीन अ।

ऊपर के आधारों के अनुसार स्वरों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है जैसे—

अ—कोमल-तालव्य, ह्रस्व, अननुनासिक, मध्य, अर्धविवृत, उदासीन स्वर।

आ—कोमल-तालव्य, दीर्घ, अननुनासिक, पश्च, विवृत, अवृत्ताकार स्वर।

ई—कठोर-तालव्य, दीर्घ, सानुनासिक, अग्र, संवृत, अवृत्ताकार स्वर।

ऊ—ओष्ठ्य, दीर्घ, अननुनासिक, पश्च, संवृत, वृत्ताकार स्वर।इत्यादि. इत्यादि

५ ७.२. संयुक्त स्वर

हिन्दी में स्वर-संयोगों की संख्या संस्कृत, अरबी-फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं की अपेक्षा बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ—

अई—नई, कई, गई।
अऊ—गऊ (गाय)।
अए—नए, गए।
आई—भाई, नाई, ताई
आउ—बाउला।
आऊ—खाऊ, उड़ाऊ।
आए—पाए, पिलाए।
आओ—खाओ, जाओ।
इआ—छिआलीस।
इए—चलिए, बैठिए।
इओ—पिओ, जिओ
उआ—हुआ, जुआरी।
उई—मुई।
उए—हुए, छुए।
उओ—साधुओ।
ऊआ—सूआ।
ऊई—रूई।
एई—लेई, खेई।
एऊ—कलेऊ, जनेऊ।
एए—सेए, खेए।
एओ—खेओ।
ओआ—बोआ, खोआ।
ओई—कोई, बोई।
ओऊ—सोऊँ।
ओए—रोए, बोए।
ओओ—बोओ, रोओ।

भइआ, सोइए, कउआ, जाइए, खेइए, आदि में तीन-तीन स्वरों का संयोग भी पाया जाता है।

संयुक्त स्वरों की तालिका

	अ	इ	उ	आ	ई	ऊ	ए	ओ
अ					✓		✓	
इ				✓			✓	✓
उ				✓	✓		✓	✓
आ			✓		✓	✓	✓	✓
ई								
ऊ				✓	✓			
ए					✓		✓	
ओ				✓	✓	✓	✓	✓

५.७ बलाघात

५.६.६. के अन्तर्गत हमने देखा कि बलाघात से पहले या पीछे के स्वर प्राय: बहुत स्पष्ट और व्यक्त होता है। **काला, नीली, दूलू** का उच्चारण करके देखिए। का, नी, दू पर अधिक बल होने के कारण इन शब्दों का प्रथम स्वर तो स्पष्टत: दीर्घ है; किन्तु ला, ली, लू के स्वरों में बलाघातहीनता के कारण दीर्घता बहुत कम हो गयी है।

छन्दों की मात्राएँ गिनने में बलाघातहीनता के कारण कई अक्षर ह्रस्व मान लिये जाते हैं। जैसे '**आपहिं मोसन यह कह्यो, गोरस लेहु गोपाल**' में गोपाल का **गो** दीर्घ होते हुए भी '**पाल**' पर बल पड़ने के कारण ह्रस्व होकर '**गु**' सा पढ़ा जायगा। हिन्दी में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें दीर्घ (द्विमात्र) अक्षर का उच्चारण ह्रस्व (एकमात्र) अथवा ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण मानना पड़ता है।

एकाक्षरी शब्दों में बलाघात केवल वाक्यों में ही हो सकता है, जैसे—मैं ही जाऊँगा, वह **भी** जायगा। दो या दो से अधिक अक्षर वाले शब्दों में बलाघात अंत के दो अक्षरों में उस एक पर होगा जो दीर्घ हो। यदि दोनों अक्षर दीर्घ या ह्रस्व हों तो उपांत्य अक्षर पर बलाघात होगा। उदाहरण—

'बारिश, 'माला, बु'ला, कि'सान, च'टक, 'कटु, बन'वारी, चह'चहाना ।
इस नियम में निम्नलिखित अपवाद हैं—

द्वित या संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती अक्षर पर बलाघात होता है, जैसे 'पद्धति, **'पत्ता, 'तस्मा, पर'मेश्वर, 'विद्या, में**। यदि एक शब्द में दो संयुक्त व्यंजन हों तो बल दूसरे के पहले अक्षर पर पड़ता है, जैसे **आश'चर्य, लज्जा'वन्त** में।

विसर्ग या /ह/ के पहले भी बलाघात होता है, जैसे **स्व'त: अन्'त:करण, क'चहरी** में।

जब किसी शब्द का उपसर्ग के द्वारा विस्तार होता है तो उसके प्रातिपदिक रूप का बलाघात बना रहता है, जैसे **'हित, स'हित** में, **गति, अधो'गति** में, **मान, अभि'मान** में।

स्वाभाविक बलाघात का स्थानान्तरण कर देने से भाषा बड़ी विचित्र लगती है। अनभिज्ञता और अनभ्यास के कारण अहिन्दी भाषी इसी तरह की विचित्र भाषा बोल जाते हैं। उदाहरणस्वरूप आप ही **काला, नीला** और **दूलू** में **का, नी** और **दू** पर बल न देकर **ला, ली,** और **लू** पर बलाघात देकर पढ़ें। आपको यह विचित्रता खटक जायगी। कभी-कभी बलान्तरण के कारण अर्थभेद भी हो जाता है, जैसे **टाँगा 'चला** (अकर्मक), **टाँगा च'ला** (सकर्मक) (अर्थात् चलाओ), 'दवा (सं० में जंगली आग), द'वा (फ़ारसी में ओषधि); **'सहित** (साथ), **स'हित** (हित के साथ)।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक भाषा में हमें संगीतात्मक स्वराघात मिलता है और संस्कृत-काल से बलात्मक स्वराघात मिलने लगता है। सामवेद को छोड़कर ऋग्वेद आदि में संगीतात्मक स्वराघात दिखाने के लिए जो रीति अपनायी गयी है, उसके अनुसार उदात्त (या उच्च) स्वर पर कोई चिह्न नहीं रहता, स्वरित (समान स्वर) के ऊपर खड़ी रेखा और अनुदात्त (निम्न स्वर) के नीचे बेड़ी रेखा लगायी गयी है, जैसे स्वस्तये' चरा' मि, देवगो' पा में। संस्कृत और प्राकृत में बलात्मक स्वराघात (या बलाघात) के कारण अर्थभेद देखा जाता है, जैसे ग'रः (विष) 'गरः (गलना); 'वेग (ज़ोर) वे'ग (विजय-साधन)। किन्तु, बलाघात को चिह्नित करने की पद्धति स्थापित नहीं की गयी। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बलाघात ही पाया जाता है, पश्चिमी भाषाओं में अधिक, पूर्वी भाषाओं में कम।

संक्षेप

हिन्दी ध्वनियाँ प्रायः संस्कृत, प्राकृतादि के माध्यम से आयी हैं। टवर्गीय ध्वनियाँ क्रमशः बढ़ती रही हैं। ड़, ढ़ नयी ध्वनियाँ हैं। क़, ख़, ग़, ज़, फ़ का शुद्ध उच्चारण शुद्धतावादी लोगों में ही मिलता है। ऑ नया स्वर है जो अँग्रेज़ी से आया है। संस्कृत की ध्वनियाँ शब्द के आदि में श ष य व को छोड़कर प्रायः सुरक्षित रही हैं; किन्तु मध्यग ध्वनियों में से क ग च ज त द नहीं रहीं; ख, घ, थ, ध, और भ का प्राकृत में ही ह हो गया था। ट का ड; ड का ड़; ठ का ढ; ढ का ढ़, प का व, ण का पूर्व में न; म का वँ; य का ज या ए; व का ब या ओ; श, ष का स, कभी स का ह हो गया है। ब, र, ल सुरक्षित रहे हैं। अन्त्य व्यंजन पालि में ही लुप्त हो गये थे। संस्कृत के संयुक्त व्यंजन भी पालि में द्वित हो गये थे। हिन्दी में इन्हें सरल व्यंजन कर दिया गया और पहले अक्षर के स्वर को क्षतिपूर्ति में दीर्घ कर दिया गया। महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, सघोषीकरण, समानीकरण, विपर्यय आदि घटनाएँ कई शब्दों में हुई हैं। स्वरों में ऐ औ पालि में ही नहीं रहे थे। किन्तु, प्राकृत में स्वर-संयोग अधिक हो जाने के कारण हिन्दी में स्वर-संयोग प्रचुर संख्या में हैं।

विदेशी ध्वनियों को प्रायः हिन्दी ध्वनियों के रूप में ढाला जाता रहा है। कुछ एक शब्दों में विचित्र परिवर्तन भी हुए हैं।

उच्चारण और अर्थ भेद की दृष्टि से जहाँ वैदिक में संगीतात्मक स्वराघात था, वहाँ बाद की भाषाओं में बलाघात एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

हिन्दी में व्यंजनों के वर्गीकरण के दो आधार हैं—स्थान (ओष्ठ से काकल तक) और प्रयत्न (स्पर्शन, संघर्षण, लुठन आदि ; घोष-अघोष ; अल्पप्राण-महाप्राण)। स्वरों के वर्गीकरण के छह आधार हैं—स्थान, मात्रा, जीभ-मुखविवर-होंठ की स्थिति और नासिक्यता। हिन्दी में संयुक्त ध्वनियों की भी पर्याप्त संख्या है।

६. शब्द-भण्डार

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल से ही हमें हिन्दी भाषा में चार प्रकार के शब्द प्राप्त होते हैं—तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। इनमें से जनसाधारण की भाषा में तद्भव और साहित्यिक भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता है।

६.१. तत्सम

साहित्यिक स्तर पर आकर और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनते हुए हिन्दी को संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय सदा लेना पड़ा है—इस युग में भी, इससे पिछले युगों में भी। किन्तु, अब और तब की प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर है। चन्दबरदाई, कबीर, सूर, तुलसी, भूषण, बिहारी, सेनापति और पद्माकर तक देख जाइए। इन कवियों ने संस्कृत के सैकड़ों शब्द लिये हैं, किन्तु उनमें बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनको सामान्य स्तर की भाषा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता रहा है, जैसे अधिकता के स्थान पर **अधिकाई**, प्रवृत्ति>**परबिरती**, वर्षा>**बरसा**, वानर>**बानर**, यथायोग्य> **जथाजोग**, स्वर्ग>**सुरग**, ज्ञान>**ग्यान**, दर्शन>**दरसन**, श्लोक>**सलोक**, इत्यादि। ऐसे शब्दों को अर्धतत्सम कहा जाता है। आज का साहित्यकार सामान्य स्तर से ऊपर उठ कर संस्कृत के शब्दों को अपने शुद्ध तत्सम रूप में लिखना ही उचित समझता है। खड़ीबोली हिन्दी के विकास के साथ विशेष रूप से तत्सम शब्दों की संख्या-वृद्धि होती रही है। हिन्दी ने अपना शब्द-भण्डार एक निश्चित और सुदृढ़ क्रम से प्राचीन आर्य-भाषा के कोष से भरा है। संस्कृत-शब्दावली की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के अनेक कारण हैं—राजनीतिक जागृति और सांस्कृतिक उत्थान, शिक्षा के प्रसार और यातायात के विस्तार के साथ सार्वदेशिक सामान्य स्तर की चिन्ता, अहिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी को सुबोध और सुगम बनाने की चेष्टा, ललित साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य की माँग और पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा, आदि आदि।

तत्सम शब्द दो प्रकार के हैं—परम्परागत और निर्मित। परम्परागत वे शब्द हैं जो संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध हैं। दूसरे वे शब्द हैं, जो नये विचारों और व्यापारों को अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत व्याकरण के अनुसार समय-समय पर गढ़ लिये गये हैं। वैज्ञानिकों की माँग को पूरा करने के लिए सैकड़ों-हज़ारों पारिभाषिक शब्द संस्कृत

स्रोतों से बनाये गये हैं, यद्यपि वे संस्कृत अभिधानों में नहीं मिलते। साहित्यकारों ने, विशेषतया छायावादी युग और उसके बाद के कवियों ने भी सैकड़ों शब्द गढ़े और न जाने कितने अन्य लेखकों, विचारकों और विद्वानों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार तत्सम शब्दावली का निर्माण किया है।

'परम्परागत' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे शब्द सदा से चले ही आ रहे हैं। वास्तव में हिन्दी में इनका पुनरुद्धार हुआ है। किन्तु, यह ठीक है कि ऐसे शब्द उठाये गये हैं संस्कृत के वाङ्मय से।

वैदिक शब्द-भण्डार का कितना अंश आर्य है और कितना अनार्य, इस पर अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ। हिन्दी भाषा के इतिहास को समझने के लिए यह विषय महत्त्वहीन तो नहीं हैं, किन्तु मुख्यतः यह विषय भारत-यूरोपीय भाषाविज्ञान से सम्बद्ध है और प्राग्वैदिक भाषाओं की जानकारी के बिना इस पर कुछ कह सकना संभव नहीं है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक शब्द-भण्डार में से कितना रिक्थ हिन्दी को प्राप्त हुआ है। यजुर्वेद में आये हुए क अक्षर से आरम्भ होने वाले निम्नलिखित शब्दों की परीक्षा कीजिए—

कक्षा, कक्ष, कण्ठ, कण्ठ्य, कथा, कदा, कनिष्ठ, कन्या, कपर्दिन, कपिंजल, कपोत, कर्कन्धु, कर्ण, कर्त्तन, कर्त्ता, कर्म, कलश, कल्याण, कवि, काम, काम्य, काव्य, काष्ठा, किल्विष, कुक्कुट, कुक्षि, कुंज, कुमार, कुम्भ, कुलाल, कुलंग, कुल्या, कूजन, कूर्म्म, कृत, कृपा, कृमि, कृषि, कृष्ण, केतु, केश, केसर, क्रम, क्रान्त, क्रीडा, क्रीत, क्रूर, क्रोध, आदि।

एवं, ऐतरेय ब्राह्मण के अ- वर्ण के अन्तर्गत कुछ शब्दों को देखिए—

अकाल, अक्षर, अक्षरशः, अक्षि, अंगुली, अग्नि, अग्र, अंक, अंग, अंगार, अतः, अति, अतिक्रमण, अतिथि, अतिवाद, अथ, अद्य, अधर, अधः, अधि, अधिजात, अधिपति, अधिराज, अनन्त, अनादृत, अनारब्ध, अनु, अनुकृति, अनुगमन, अनुचर, अनूचित, अनुद्धृत, अनुमति, अनुरूप, अनुवाद, अन्त, अन्ततः, अन्तर, अन्तरिक्ष, अन्तर्धान, अन्ध, अन्न, अन्नाद्य, अन्य, अन्यतर, अन्यत्र, अन्यथा, अन्वित, अप, अपर, अपराजित, अपराह्ण, अपरिमित, अपहत, अपहृत, अपान, अपाप, अपि, अपुत्र, अपूप, अपूर्व, अप्रतिम, अप्रतिष्ठित, अप्रतीत, अप्रिय, अभय, अभि, अभिक्रान्ति, अभिजित, अभितप्त, अभिप्रेत, अभिभूत, अभिमुख, अभिशस्त, अभिषिक्त, अभिषेक, अभिहित, अभीष्ट, अभ्यस्त, अमति, अमर्त्य, अमृत, अरण्य, अरुण, अर्चन, अर्जन, अर्थ, अर्ध, अलङ्कार, अलोभ, अल्प, अव, अवधि, अवर, अवरोध, अवरोह, अवसाद, अवान्तर, अविच्छिन्न, अविज्ञात,

अविद्या, अविमुक्त, अव्यवस्था, अव्रत, अशरीर, अशान्त, अश्रद्धा, अश्लील, अश्वत्थ, अष्टम, अष्टादश, असंभाव्य, असुर, असृष्ट, अस्त, अस्तु, अस्थि, अस्वादु, अहिंसा, अहित।

इनके साथ ही वेद के कुछ शब्द वर्गीकृत कर के नीचे दिये जा रहे हैं, इनको भी ध्यान में रख लीजिए—

एक, द्वौ, त्रयः, पञ्च, सप्त, दश, पंचदश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, नवम, दशम, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र.........;

वायु, अग्नि, धूम्र, वर्षा, विद्युत्, पवन;

सूर्य, चन्द्रमा, तारक, पृथिवी, क्षेत्र, आकाश, नक्षत्र, गिरि, नदी, धारा, गुहा, अन्तरिक्ष, समुद्र;

दिन, रात्रि, दिवस, सायं, प्रातः, उषा, ऊषा, मुहूर्त्त, ऋतु, मास, पक्ष, वेला;

अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगाशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश-लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा, रेवती, अभिजित;

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर;

दुग्ध, दधि, मधु, घृत, रस, सुरा, क्षीर, पुष्प, फल, ओषधि, अन्न, यव, गोधूम;

वर्ण, गोत्र, जाति;

सुवर्ण, रजत, रत्न;

कृषि, क्षेत्र, दर्भ, हल, चक्र, रथ;

जीवन, मृत्यु;

धर्म, जप, तप, मन्त्र, यज्ञ, कर्म्म, सुख, दुःख, पाप, पुण्य, दान, दया, ज्ञान, विज्ञान, उपासना, श्रद्धा, प्रज्ञा, ध्यान, धारणा, समाधि, शान्ति;

पशु, गौ, गर्दभ, गोमृग, उष्ट्र, धेनु;

पक्षी, क्रौंच, श्येन;

कूर्म, सर्प, पिपीलिका;

शमी, खदिर;

पात्र, कलश, चित्र, पंक्ति;

पिता, माता, भ्राता, पुत्र, वधू, अतिथि, आचार्य, गुरु, पति, पत्नी, बाल, कुमार, किशोर, युवा, तरुण, वृद्ध;

सम्राट्, राजा, मन्त्री, पुरोहित, परिषद्, सेना, प्रजा, प्रजापति, मानव, मनुष्य, पुरुष, स्त्री, मित्र, शत्रु, दाता;

रथकार, मालाकार, मणिकार, गोपाल, अविपाल, अजपाल, नाविक;

वणिक्, भिषक्, कुम्भकार, लोहकार, गणक, अनुचर;

हृदय, हस्त, चरण, शिर, पाद, मुख, जिह्वा, अंगुलि, ग्रीवा, इन्द्रिय, कर्ण, नेत्र, चक्षु, वाक्, त्वचा, अंग, शरीर;

रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, अश्रु;

मन, प्राण, बुद्धि, चित्त;

मद, अहंकार, क्रोध, काम, ओज, सत्य, ज्योति, विद्या, वीर्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वाद, शब्द;

ऋद्धि, सिद्धि;

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण;

गम्भीर, घोर, क्रूर, साधु, सम, समान, ज्येष्ठ, प्रत्यक्ष, चारु, भीरु, पक्व, पूर्व, सर्व, कपिल, नूतन, नव, प्रिय, सनातन, नित्य;

जन्म, वर्धन, क्षय, नाश;

देवी, देवता, असुर, इन्द्र, अग्नि, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, हर, हरि, रुद्र;

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इत्यादि ।

वेद में इस प्रकार के हज़ारों शब्द हैं जो आज अक्षुण्ण रूप में हिन्दी—कम से कम साहित्यिक हिन्दी—की निधि हैं । संसार की किसी भाषा में ३-४ हज़ार वर्ष से चले आते हुए शब्द अविकृत रूप में इतनी बड़ी संख्या में नहीं मिलेंगे ।

देववाणी के इन शब्दों का कई बार लोप हो चुका है और कई बार (जब-जब अपनी भाषा को साहित्यिक स्तर पर आकर समृद्ध और सशक्त अभिव्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती रही है)उन्होंने प्रादुर्भूत होकर भारतीय भाषाओं की श्रीवृद्धि की है। उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो सदा के लिए लुप्त हो गये हैं और कितने ही ऐसे हैं जो सहस्रों वर्ष गुप्त रहने के बाद पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में पुनरुद्धृत किये गये हैं ।

किसी भाषा के शब्द-भण्डार की स्थिति उस भाषा के बोलने वालों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर है । स्थितिशील समाज की भाषा स्थित्यात्मक और प्राचीन बनी रहती है, गतिशील समाज की भाषा विकासोन्मुख और नवीन होती जाती है । जो पदार्थ, विचार या व्यापार(जैसे **घर, तन, जन, धन, खाना, पीना, रोना** आदि) युग-युग से चले आते हैं, उनसे सम्बद्ध शब्द भी उस समाज में इन दो स्थितियों—पश्चगामी तथा अग्रगामी—के अनुसार अपनी परम्परा से जुड़े हुए चलते ही रहते हैं । शब्द के

ह्रास अथवा विकास की प्रक्रिया भी समाज की आवश्यकता के अनुसार चलती है। जब समाज से कोई पदार्थ, विचार अथवा व्यापार लुप्त होता है तो तत्सम्बन्धी शब्दों का भी लोप हो जाता है। जब वही पदार्थ, विचार या व्यापार कभी फिर प्रयोग में आने लगता है तो भाषा प्रायः चार साधनों से उसके लिए शाब्दिक प्रतीक तैयार करती है—प्रथम, पुराने शब्दों का पुनरुद्धार करके; दूसरे, किसी ज्ञात भाषा में उसी पदार्थ, विचार या व्यापार के प्रतीक शब्द से प्रेरणा पाकर (प्रायः अनुवाद के रूप में) अपनी भाषा के तत्त्वों के संयोजन से नये शब्द का निर्माण कर के; तीसरे, वस्तु या व्यापार के शब्द, रस, रूप, गन्ध आदि द्वारा सुझाये हुए तात्कालिक और ऐच्छिक ध्वनि-प्रतिबिम्बों (जैसे अनुकरणात्मक शब्दों) का संयोजन कर के; और चौथे, किसी अन्य भाषा से उधार ले कर के। जब कोई बिल्कुल नया पदार्थ, विचार या व्यापार सामने आता है तो उसके लिए उपर्युक्त दूसरे, तीसरे और चौथे उपायों से काम लिया जाता है। वैदिक से संस्कृत, संस्कृत से पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और फिर हिन्दी के काल तक आते-आते हम इन सभी प्रक्रियाओं का समावेश पाते हैं। हमने देखा कि सैकड़ों शब्द जिनका सम्बन्ध हमारी मूल संस्कृति से है, वैदिक काल से बराबर चले आ रहे हैं। इनमें उच्च संस्कृति-सम्बन्धी शब्द और शिक्षित वर्ग में प्रचलित शब्द (अर्थात् स्थित्यात्मक) प्रायः तत्सम रूप में सुरक्षित हैं। जनसंस्कृति-सम्बन्धी (अर्थात् गत्यात्मक) शब्द तद्भव रूप में परिवर्तित हो गये हैं। संस्कृति से जो बात उठ गयी, उससे सम्बन्धित शब्द भी भाषा से उठ गए; जैसे वैदिक दिद्य (एक चमकदार हथियार), हध्र (बाड़े की रोक), उशिज (एक तरह का पुरोहित), मेनि (एक घातक अस्त्र), निष्ठाव (अन्तिम पंच), इत्यादि शब्द संस्कृत-काल तक नहीं चले। इसी प्रकार संस्कृत के आवसथ्य (एक यज्ञीय अग्नि), आवापक (एक प्रकार का भूषण), आवायाज् (जो यज्ञ द्वारा निवारण करे), आतापि (एक पक्षी), आच्छु (एक वृक्ष), इत्यादि सैकड़ों शब्द प्राकृतों में नहीं चले। प्राकृत के दियाहम (एक प्रकार का पक्षी), पारय (एक सुरापात्र विशेष), पारत्ति (कुसुम विशेष), पेम्मा (छन्द विशेष), पोअलय (आश्विन मास का एक पर्व, खाद्य विशेष), रासाणंदिअ (छन्द विशेष), आदि शब्द हिन्दी में नहीं रह गये।

पर्यायवाची शब्दों में भी प्रायः एकाध बचा रह जाता है, अन्य में से कुछ-एक साहित्य में तो कभी-कभी प्रयुक्त होते हैं, किन्तु लोक में उनका व्यवहार छूट जाता है। वैदिक निघंटु में आकाश के लिए अंबर, व्योम, वियत, बर्हि, धन्व, अन्तरिक्ष, आकाश आदि और पृथ्वी के लिए गौ, गमा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणी, क्षिति, अवनि, उर्वी, पृथ्वी, मही, भू, भूमि, पूषा, इला, अदिति, आदि अनेक

शब्द थे। कभी-कभी पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद कर देने से उन्हें जीवित रहने का अवसर मिलता है। **घोष, स्वर, शब्द, स्वन्**; अथवा **दुःख, खेद, कष्ट, क्लेश** आदि इसी तरह के शब्द हैं। आज हिन्दी में **कलम** और **लेखनी, काग़ज़** और **पत्र, श्रेणी** और **कक्षा, दर्द** और **पीड़ा, कीचड़** और **दलदल, प्रथम** और **पहला** आदि सैंकड़ों समानार्थक शब्द मिल जाते हैं। इन जोड़ों में से एक को या तो लुप्त हो जाना होगा, या अपने अर्थ में वैशिष्ट्य लाना होगा।

समान ध्वनि भिन्नार्थक शब्दों में भी एक का लोप हो जाता है। वैदिक के असुर (स्वामी, दैत्य), अरि (भक्त, शत्रु), कारु (गवैया, कारीगर), रजः (स्थान, धूलि), परुष (मटमैला, गाँठदार), फल्गु (लाल, खोखला), अन्धः (रस, अंधा), आदि शब्दों में प्रथम अर्थ लुप्त हो गया, दूसरा शेष रहा।

कभी नयी भाषाओं से संपर्क हो जाने के कारण नये शब्द अपना लिये जाते हैं पुराने छूट जाते हैं। उदाहरणस्वरूप वैदिक अश्व, अश्मन्, श्वान, वृष, अवि, उक्षन् वाह (रथ), रै, सहाः, दम (वेश), द्रु, उदन्, असृक्, अद्, गृभ्, वक्ष, यज्, विज् आदि शब्द धीरे-धीरे व्यवहारच्युत् हो गये क्योंकि इनकी जगह क्रमशः घोटक, प्रस्तर, कुक्कुर, षण्ड, मेष या एडक, बलीवर्द, शकट, धन, बल, वाटिका या गृह, वृक्ष, जल, रक्त या रुधिर, खाद्, प्राप्, वृध्, पूज, कम्प् आदि ने ले ली। हिन्दी में अनेक भारतीय शब्दों को अरबी, फ़ारसी, अँग्रेज़ी आदि के शब्दों ने दबा लिया अथवा संस्कृत के पुनरुत्थान के फलस्वरूप नयी लहर में तद्भव और देशी शब्द बह गये और उनका स्थान संस्कृत के शब्दों ने ग्रहण कर लिया—उदाहरणतया अरबी-फ़ारसी के **सरदी, गर्मी, बादाम, अनार, हवा, अर्क, शर्बत, शराब, गुलाब, जुलाब**; अँग्रेज़ी के **पेन, बटन, लाइन, क्लर्क, कप्तान, मास्टर, डेरी**, आदि; अथवा संस्कृत के **संघ, सभा, समाज, सम्मेलन, यथा, तथा, एवं, अनुसार** आदि। संस्कृत से दब कर लुप्त होने वाले शब्दों में हम उनकी भी गणना करेंगे जो संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश के द्वारा आती हुई परम्परा में बढ़ रहे थे। जैसे प्रा० मुइंग, दसण, पयास, चाय, नाण, भाण, आण, दइच्च, किवा, वेज्ज, कम्म, अस्स, उदु, वेज्हु, दिअर आदि सैकड़ों शब्दों को कोश में देख कर आज पहचानना भी कठिन है कि यह तो **मृदंग, दर्शन, प्रकाश, त्याग, ज्ञान, ध्यान, आज्ञा, दैत्य, कृपा, वैद्य, कर्म, अश्व, ऋतु, विष्णु** और **देवर** ही के विकसित रूप थे। हमारे देखते-देखते **आस** की जगह **आशा, बरस** की जगह **वर्ष, जरूर** की जगह **अवश्य, किताब** या **पोथी** की जगह **पुस्तक** और इसी तरह के बीसियों संस्कृत के शब्द तद्भव, देशी और विदेशी शब्दों के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं।

शब्द-लोप का एक प्रमुख कारण यह भी है कि कालक्रम से घिसते-पिटते अनेक शब्द इतने दीन-हीन, निष्प्राण और स्वत्वरहित हो गये कि उनकी सत्ता को बचाना संभव नहीं रहा; जैसे—प्रा० अईअ>अतीत अथवा अतीव; अउअ>अयुत; अइआअ>अतिकाय; आइ>आदि, आजि (संग्राम); आइय>आचित, आदृत:; इइ> इति; उइअ>उदित, उचित; उउ>ऋतु।

एकाध व्यंजन के सहारे भी अनेक शब्द सुरक्षित न रह सके; जैसे प्रा० अत्त <आत्मन्, अर्त्त. आत्त (गृहीत), आप्त, आत्र, अत्र; अद्द<अब्द, आर्द्र, अर्द (मारना); अयण<अतन, अयन, अदन; अत्थ<अर्थ, अस्त, अस्त्र, अत्र, आदि-आदि। ऐसे शब्दों का अर्थ-निर्णय करना भी कठिन हो गया था।

संस्कृत और साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ हिन्दी में धीरे-धीरे तद्भव शब्दों की संख्या घटती रही है और एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब हिन्दी हिन्दी नहीं रहेगी।

ऊपर की चर्चा से यह विचार नहीं बना लेना चाहिए कि शब्द-भण्डार का ह्रास बहुत जोरों से होता रहा है। बात कुछ उलटी-सी है। हम तो देखते हैं कि वैदिक की अपेक्षा संस्कृत का शब्द-भण्डार अधिक सम्पन्न है। इसका कारण यह है कि संस्कृत को वैदिक की सम्पत्ति भी दाय में प्राप्त हुई और उसने देशी-विदेशी स्रोतों से शब्दों का ग्रहण भी किया और उपसर्ग-प्रत्यय आदि साधनों से पुरानी धातुओं से नये-नये शब्द भी गढ़े। यह ठीक है कि वैदिक काल की इतनी ही शब्द-सम्पत्ति न रही होगी, जितनी हमें ग्रन्थों के द्वारा प्राप्त हुई है। किन्तु, संस्कृत-काल के भाषाभाषियों को तो वह सम्पत्ति लगभग पूरी-पूरी मिली होगी। और फिर संस्कृत के पक्ष में भी तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि उसकी शब्द-सम्पत्ति प्राप्य मात्रा से कई गुना अधिक रही होगी। इसी तरह प्राकृत-काल का शब्द-भण्डार इतना ही नहीं था, जितना प्राकृत साहित्य से संकलित किया गया; किन्तु अपभ्रंश ने और हिन्दी की नाना बोलियों ने तत्कालीन प्रचलित शब्दावली का बहुत बड़ा अंश रिक्थ के रूप में पाया, इसमें सन्देह नहीं है। जो क्षति, प्रयोग के ह्रास या शब्द-लोप से भाषा की हुई, उससे अधिक पूर्ति प्राचीन शब्दों का पुनरुद्धार करके, नये-नये शब्दों का निर्माण करके, देश-विदेश की विविध भाषाओं से उधार ले कर, की गयी है—यह अलग बात है कि हिन्दी के उस सारे शब्द-भण्डार का संकलन नहीं हुआ और न ही आकलन-विकलन का तुलनात्मक अध्ययन ही किया गया है जिससे हम जान सकते कि वैदिक काल के बाद समय-समय पर कितनी क्षति हुई और कितनी अभिवृद्धि हुई। किन्तु, ज्ञात सामग्री के आधार पर साहित्य और ज्ञान-विज्ञान तथा साधारण व्यवहार का

माध्यम होने के नाते आज की हिन्दी पूर्ववर्ती आर्यभाषाओं से कई गुना समृद्ध है। इसने संस्कृत के तत्सम शब्दों का ६०-७० प्रतिशत भंडार अपना लिया है (विशेषत: साहित्यिक और शिक्षित वर्ग की भाषा ने) और नवनिर्माण द्वारा शेष ३०-४० प्रतिशत शब्दों की क्षतिपूर्ति कर ली है। इसके अतिरिक्त तद्भव, देशी एवं विदेशी शब्दावली है, जो मिल-मिला कर तत्सम शब्दावली से बहुत अधिक है। शुद्ध संस्कृत से भिन्न इस शब्दावली के सम्बन्ध में कुछ टिप्पण देना आवश्यक है।

६·२· तद्भव

अनेक कारणों से, जिनका विवेचन पिछले प्रकरण में किया गया है, संस्कृत-प्राकृत आदि की ध्वनियाँ घिस-पिट कर हिन्दी तक आते-आते परिवर्तित हो गयी हैं। परिणामतः पूर्ववर्ती आर्यभाषाओं के शब्दों के जो रूप हमें प्राप्त हुए हैं, उन्हें तद्भव कहा जाता है। हिन्दी प्रदेश की बोलियों में आनुपातिक दृष्टि से सबसे अधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। कोई शब्दकोश उठा कर देखिए, अथवा देखिए (प्रकरण ६) संक्षिप्त तद्भव-कोश। ध्वनि-विकास के प्रकरण में इन शब्दों का इतिहास दिया जा चुका है। साहित्य में भी १९वीं शती से पहले तद्भव शब्दों की ही प्रधानता थी। सच तो यह है कि तब तक जनभाषा ही साहित्यिक भाषा थी। खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के साथ हिन्दी में कृत्रिमता और पंडिताऊपन का प्रवेश होता है। कबीर, जायसी, तुलसी, बिहारी, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद और पंत की भाषा में तद्भव शब्दों का क्रमिक ह्रास स्पष्ट लक्षित होता है। आज की परिनिष्ठित हिन्दी शब्द-भण्डार की दृष्टि से है ही तत्सम रूप-प्रधान। फिर भी शैली की विविधता और वातावरण की अनुकूलता के नाते तद्भव शब्दों का व्यवहार बराबर होता रहता है, कोई शब्द अव्यवहार्य नहीं हो गया। कभी-कभी अर्थभेद के कारण शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप अनिवार्य से हो गये हैं; जैसे—**आत्मा** और **आप**; **गर्भिणी** और **गाभिन**; **चक्र** और **चाक**; **रश्मि** और **रस्सी**; **वंश** और **बाँस**; **स्थान** और **थान**।

हिन्दी के प्रायः सभी सर्वनाम तद्भव हैं। संज्ञापदों की संख्या सबसे अधिक है, किन्तु इनका व्यवहार देश, काल, पात्र आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत घटता-बढ़ता रहता है। क्रियापद भी प्रायः सभी तद्भव हैं, परन्तु साहित्यिक या उच्च हिन्दी में इनका स्थान **करना**, **होना** क्रिया के साथ संस्कृत का कृदन्त रूप ले लेता है; जैसे **परिचित होना** (जानना), **स्वीकार करना** (सकारना, मानना), **ह्रासमान होना** (घटना), **विकृत करना** (बिगाड़ना), **उल्लंघन करना** (लाँघना), आदि। भारतेन्दु युग से पहले की साहित्यिक हिन्दी में ठेठ क्रियापदों का प्राचुर्य है। यह सच है कि विशेषणों के लिए हिन्दी को संस्कृत का मुँह ताकना पड़ा है—संस्कृत में विशेषण

पदों का निर्माण भी सहज में हो जाता है। तद्भव विशेषण हिन्दी में कम हैं। अव्ययों में **यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, अब, तब, जब, कब, चाहे, मानो, तक, ज्यों, क्यों, आगे, पीछे, नीचे**, ऊपर, फिर, **कैसे, जैसे, ऐसे, वैसे, तो, ही, भी, और** आदि शब्द कभी स्थानच्युत नहीं किये जा सकते। **तथा, यथा, अतः, पुनः** आदि कुछ संस्कृत अव्यय शैली के लिए व्यवहृत होते हैं। **यदि** का तद्भव रूप **जे** नहीं चल सका।

६.३. विदेशी

१०वीं-११वीं शती से आधुनिक आर्यभाषाओं का काल आरम्भ होता है। तभी से लगभग एक सहस्राब्दी तक हिन्दी प्रदेश पर विदेशी शासन का प्रभाव रहा है। विदेशी शिक्षा, शासन, धर्म, संस्कृति और फ़ैशन के साथ विदेशी शब्द भी हिन्दी में प्रविष्ट हुए हैं। फ़ारसी के प्रभाव को लगभग ६०० वर्ष तक और अँग्रेज़ी के प्रभाव को २०० वर्ष तक हिन्दी ने ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी मुसलमान यहाँ की जनता में बिलकुल घुलमिल गये, अतः हिन्दी के विदेशी शब्द-तत्त्व में अँग्रेज़ी की अपेक्षा फ़ारसी का (अरबी-तुर्की के शब्द भी प्रायः फ़ारसी के माध्यम से आये हैं) अनुपात अधिक है। अनुमानतः २-३ हज़ार शब्द हिन्दी के भण्डार में इस स्रोत से प्राप्त हुए हैं। इनमें तुर्की के शब्द कम हैं; अरबी के उससे अधिक और फ़ारसी के सबसे अधिक हैं। इनमे से कुछ ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग केवल मुसलमानों में होता है और हिन्दी साहित्य में भी विशिष्ट वातावरण में, विशिष्ट पात्रों द्वारा इनका प्रयोग कराया जाता है—जैसे **दोज़ख़** (नरक), **बहिश्त** (स्वर्ग), **ख़ुदा** (परमेश्वर), **अल्लाह** (परमात्मा), **नमाज़**, (उपासना), **रोज़ा** (उपवास), **ईद** (पर्व), **इमाम** (पुरोहित), **कलमा** (मन्त्र), **ख़ैरात** (दान), **मज़हब** (धर्म), **मुल्ला** (पण्डित), **मुसल्ला** (आसन), **हज** (तीर्थयात्रा) इत्यादि। शासन-सम्बन्धी शब्दों की संख्या अधिक है और समय-समय पर इनका व्यवहार होता रहा है, किन्तु अब नयी शब्दावली के प्रचार से इनमें बहुत से लुप्त होने लगे हैं, जैसे **फ़ौज** (सेना), **सरकारी** (राजकीय), **वज़ीर** (मन्त्री), **मुलज़िम** (अभियुक्त), **नायब** (सहायक), **मातहत** (अधीन) इत्यादि। इसी तरह प्रत्येक क्षेत्र में सैकड़ों शब्दों का जीवन खतरे में पड़ गया है। किन्तु, एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे शब्दों की भी अवश्य है जिनको किसी तरह से पदच्युत् करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा; जैसे—**तोप, बन्दूक, मोर्चा, सिक्का, सिपाही, जमेदार, सूबेदार, वकील; दवात, स्याही, जिल्द; कारीगर, कारखाना, दर्ज़ी, कैंची, गज, हलवाई, हकीम, मिस्तरी, बजाज, मजबूर, दलाल, जुलाहा, सर्राफ़, साबुन; तम्बूरा, तबला, शहनाई, सरोद,**

शतरंज; कुरता, कमीज़, चादर, रज़ाई, रूमाल, सलवार; प्याला, सुराही; आलू-बुख़ारा, पिस्ता, बादाम, अनार, अमरूद; समोसा, बालूशाही, बरफ़ी, जलेबी, क़ुलफ़ी, क़ीमा, मेज़, कुरसी, हुक्का; शीशा, इत्र, ख़ुरमा।

कुछ शब्दों की अर्थवत्ता इतनी विशिष्ट और सटीक हो गयी है कि इनका ठीक-ठीक पर्याय ढूंढ़े नहीं मिलता। अन्य उदाहरण—**सिफ़ारिश, ख़ुशामद, चापलूसी, तमीज़, बीमा, बेगार, शिकायत; ताज़ा, नक़द, फ़ालतू, बराबर, बेईमान, बेकार, मुफ़्त, सादा; ख़ूब, बिलकुल, अलावा; कि, बल्कि, ताकि, बस** इत्यादि।

संसार में बहुत कम भाषाएँ हैं जिनके विदेशी शब्द-तत्त्व में क्रियाविशेषण, क्रियापद, समुच्चयबोधक, विस्मयबोधक सभी तरह के शब्द हों। हिन्दी ऐसी ही एक भाषा है जिसने फ़ारसी का इतना कुछ पचा लिया है, यद्यपि संज्ञापदों की संख्या ही सबसे अधिक है। इसके अलावा हिन्दी ने फ़ारसी के बे-, **ग़ैर-** आदि उपसर्ग और **-ई** (जैसे महँगी, ठण्ढी आदि में), **-गिरी** (जैसे गुंडागिरी), **-दान** (जैसे फूलदान, मच्छरदानी), **दार-** (जैसे थानेदार, साझेदार), **-वार** (जैसे नम्बरवार, पंक्तिवार), **-वान** (जैसे गाड़ीवान, कोचवान), **-बन्द** (जैसे हथियारबन्द) आदि प्रत्यय भी अपनाये हैं। अँग्रेज़ी से ऐसे कोई तत्त्व ग्रहण नहीं किये गये।

इस प्रसंग में एक बात और बता देने की आवश्यकता है। भारतेन्दु युग से पहले अरबी-फ़ारसी शब्दों के हिन्दीकृत रूप प्रयुक्त होते रहे हैं। कबीर की शब्दावली में **असमान, अकलि, कागद, सखी, जबाब, नीसान, नजीक, बखसि, परेसानी, भिस्त, सुरतान, हवालु** वास्तव में जनभाषा के शब्द थे। किन्तु, वर्तमान समय में यथासम्भव शुद्ध प्रयोग रखने का प्रयत्न होता रहा है। कथा-साहित्य में काव्य की अपेक्षा यह प्रवृत्ति कुछ अधिक है।

१९वीं शती से हिन्दी में अँग्रेज़ी शब्दों का समावेश आरम्भ हुआ। साहित्य में, विशेषतः गद्य साहित्य में, इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। पहले तो अँग्रेज़ी के शब्द अपने तत्सम रूप में ले लिये जाते थे, किन्तु भारतेन्दु युग के बाद प्रायः शब्दों का अनुवाद प्रस्तुत किया जाने लगा। साहित्य की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनूदित शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में हुआ है, जिससे संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या में वृद्धि हुई है। साथ ही साहित्य और ज्ञान-विज्ञान में अँग्रेज़ी के शब्द भी अपनाये गये हैं। अंग्रेजी अपनी भौतिक चकाचौंध और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के कारण हिन्दी प्रदेश के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गयी है। जिस व्यक्ति की शिक्षा का स्तर जितना ऊँचा है; उतना ही अधिक अनुपात उसकी भाषा में अँग्रेज़ी का है। ऐसे ही लोगों के द्वारा साधारण जनता में विदेशी शब्दों का प्रसार होता रहा है।

हमारे साहित्य में, विशेष करके प्रसादोत्तर साहित्य में, अँग्रेज़ी के बहुत से ऐसे शब्द भी पाये जाते हैं जो जनसाधारण में प्रचलित नहीं हैं और हिन्दी के शब्द-भण्डार का अंग भी नहीं बन पाये हैं।

अँग्रेज़ी के हिन्दी में प्रचलित शब्द चार-पाँच सौ से अधिक नहीं हैं। इनमें शासन-सम्बन्धी शब्दों की संख्या अधिक है, जैसे—**अपील, अर्दली, इस्टाम, कांस्टेबिल, गारद, जज, कोर्ट, बोर्ड, जेल, पुलिस, मजिस्ट्रेट, रपट, वारंट, सम्मन,** आदि। नये-नये आविष्कारों और नयी-नयी भौतिक वस्तुओं और संस्थाओं के प्रचार के साथ उनसे सम्बद्ध शब्द भी प्रचारित हुए हैं, जैसे **रेल, बोगी, इंजन; अस्पताल, वार्ड, प्लस्तर, बिल्डिंग, पुलटिस, डाक्टर, कम्पौंडर; इंजीनियर, ओवरसियर; पोस्टमास्टर, क्लर्क, अफ़सर, सुपरडंट; बैंक, चेक; कोट, वास्कट, पतलून, निकर, कफ़, कालर, बटन, पाकेट, बूट, स्लीपर, स्वीटर; गिलास, ट्रंक, प्लेट, लालटैन, पम्प, ट्यूब, मसीन, मोटर, बस, लारी, रेडियो, साइकिल, ग्रामोफोन, फोटू, केमरा; ब्रांडी, सोडा, बोतल, सिगरट, माचिस, बिस्कुट, केक; टेबल, डेस्क, बेंच, कापी, पिन,** आदि-आदि।

इनके अतिरिक्त ऐसे शब्द हैं जिनका प्रचलन वैज्ञानिकों, कारीगरों, प्रोफ़ेसरों और विभिन्न विभागीय कर्मचारियों में सीमित रूप से होता है, जैसे—**नट, बोल्टू, रेंच; फार्म, वार्ड, टूर्नमेंट, पीरियड, क्लास, रिजल्ट; अप, डाउन** आदि।

यह बात उल्लेखनीय है कि जनसाधारण की भाषा में लगभग सभी अँग्रेज़ी से आगत शब्द संज्ञापद हैं; और संज्ञापदों में भी प्रायः जातिवाचक हैं। शिक्षित समाज के बाहर भाववाचक संज्ञापद नहीं मिलेंगे। अँग्रेज़ी का कोई विशेषण, क्रियापद **अथवा** अव्यय भी सामान्य हिन्दी में प्रचलित नहीं है।

कुछ सीधे और कुछ अँग्रेज़ी के माध्यम से हिन्दी को पुर्तगाली, .फ्रांसीसी और डच शब्द भी प्राप्त हुए हैं। उनके उदाहरण—

पुर्तगाली—**अनानास, अचार, आलमारी, आलपीन, आया, कमीज, काजू, कनस्तर, कमरा, काज, क्रिस्तान, किरच, गमला, गिरजा, गोदाम, चाबी, तम्बाकू, नीलाम, परात, परेक, पाव (रोटी), पादरी, पिस्तौल, फ़ीता, .फ्रांसीसी, बाल्टी, मस्तूल, संतरा** आदि।

.फ्रेंच—**अँग्रेज, कार्तूस, कूपन** आदि।

डच—**तुरुप, बम** (टाँगे का)।

एशिया की भाषाओं में चीनी से **चाय** और **लीची**, जापानी से **झम्पान** और **रिक्शा**, तिब्बती से **डांडी** आदि शब्द लिये गये हैं।

यहाँ नितान्त पारिभाषिक विदेशी शब्दावली के विषय में कुछ कहना उचित

नहीं समझा गया, क्योंकि उसके **प्रचलन** में जनता का नहीं, सरकार और विद्वन्मंडली का अधिकार है।

६·४· देशी

देशी के अन्तर्गत उन शब्दों को लिया जाता है जिन्हें संस्कृत से सिद्ध या संदर्भित नहीं किया जा सकता। कुछ विद्वान् कहते हैं कि देशी वे शब्द हैं जो भारतीय अनार्य भाषाओं से आये हैं। उनके विचार से **काफ़ी** (तमिल **काप्पी**), **चुरुट** (तमिल **शुरुट**), **टुंडा** (संथाली **टुंट**), **कोड़ी** (संथाली **कुड़ी**), **पिल्ला** (तेलगू), **पिरिच** (द्रविड़ **पिरिस**) आदि को देशी कहा जायगा। किन्तु, हमारा प्रश्न यह है कि तब अनुकरणात्मक शब्दों—जैसे **पापड़, चिड़चिड़ा, बड़बड़, गड़बड़ाना** आदि—को क्या संज्ञा दी जायगी? प्राकृत वैयाकरण ऐसे शब्दों को देशज कहते आये हैं। यह बात भी ठीक नहीं कि देशी वे शब्द हैं जिनका उद्गम प्राचीन आर्यभाषा से सिद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ तद्भव शब्द इतने अधिक विकृत हो गये हैं कि उनको अपने संस्कृत मूल से जोड़ना सम्भव नहीं जान पड़ता। दूसरे, संस्कृत की कुछ शब्दावली ऐसी भी हो सकती है जो अभिधानों में नहीं आ पायी, किन्तु जो लोकभाषा में चलती रही है। संस्कृत की अपूर्ण जानकारी के कारण अनेक शब्द असिद्ध रह गये हैं, किन्तु उन्हें देशी तो नहीं कहना चाहिए।

संस्कृत ने भी देशी भाषाओं से बहुत से शब्द अपनाये हैं। इनकी एक बहुत लम्बी और उपयोगी सूची टी० बरो ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत लैंग्वेज', १९४५, के अध्याय ८ में दी है। उसमें से कुछ उद्धृत किये जा रहे हैं।

आग्नेय कुल की भाषाओं से—अलाबु (लौकी), उन्दुरु (चूहा), कदली (केला), कर्पास (कपास), जम्बाल (कीचड़), जेमति (जीमना), **ताम्बूल** (पान), **मरिच**, **लांगल** (हल), सर्षप (सरसों) आदि।

द्रविड़ कुल से—अगुरु, अनल, अर्क, अलस, आरभट (फ़िसादी), उञ्छ् (पोंछना), उलप (झाड़ी), उलूखल, एड (भेड़), कज्जल, कटु, कठिन, करीर, कलुष, काक, काच, कानन, कुटि, कुटिल, कुट्ट् (कूटना), कुण्ड, कुंडल, कुद्दाल, कुन्तल, कुवलय (कमल), केतक, कोटर, कोण, कोरक, खल, गण्ड, घुण, घूक, चिक्कण (चिकना), चतुर, चन्दन, चपेटा, चुम्ब्, चूडा, ताडक या तालक (ताला), तामरस (कमल), ताल, तूल, दण्ड, नक्र, निबिड, नीर, पण, पण्डित, पल्ली, पालि, पिटक, पिण्ड, पुट, बक, बल, बिडाल, बिल, बिल्व, मयूर, मल्लिका, मसि, महिला, माला, मीन, मुकुट, मुकुल, मुक्ता, मुरज, लाला, वलय, वल्ली, शकल, शंठ, शव, शूर्प, हेरम्ब (भैंस) इत्यादि।

एक और विद्वान्, प्रिलुस्की, ने सिद्ध किया है कि संस्कृत के कपोल, नारिकेल, भेक, जंघा, कपोत, हलाहल, दाडिम, कदंब, शिम्ब, निम्ब, जम्बु, गुड आदि शब्द मी मुंडा से आये हैं।

पहले प्रकरण में हम बता आये हैं कि आर्यों को यहाँ के आदिवासियों की भाषा के अनेक तत्त्व अपनाने पड़े होंगे। अब इस प्रश्न पर ठीक ढंग से विचार किया जाना चाहिए कि क्या हिन्दी के जो शब्द--जैसे आक (मदार), काजल, कड़ुआ, केवड़ा, घुन, डण्डा, जाँघ, नीम आदि--संस्कृत से सिद्ध किये जा सकते हैं, वे अनार्य नहीं रहे ? क्या इन्हें देशी नहीं कहा जायगा ?

प्राकृत ने भी अपने समय में अट्टक (हिं० अटकना), कोरा, (हिं० कोरा), खिल्ला, (हिं० खीला), गोड्ड (हिं० गोड़), गोद्द (हिं० गोद), ढुंढ (हिं ढूंढ़ना), फिक्का (हिं० फीका), लोट्ट (हिं० लोटना), लुक्क (हिं० लुकना) आदि बहुत से शब्द अनार्य भाषाओं से लिये, जो हिन्दी में आज भी चल रहे हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। इस दिशा में अभी खोज करने की आवश्यकता है। हिन्दी ने सीधे तो बहुत ही कम शब्द अनार्य भाषाओं से अपनाये हैं किन्तु मध्यकालीन आर्यभाषाओं के माध्यम से आयी हुई एक बहुत बड़ी संख्या इसमें विद्यमान है।

हिन्दी में एक अनुकरणात्मक शब्द बनाने की प्रवृत्ति प्रमुख है। ये सब देशी कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने और देशी सम्पत्ति का मुख्य भाग हैं, उदाहरणतया---**टें टें, काँय, काँय, चूँ चूँ, खुसर पुसर, भड़ भड़, बक बक, ठक ठक, पोंपों, डकार, झनकार, फटकार, डगमग, जगमग, तड़ातड़, गड़बड़, झिलमिल, ढुलमुल, लचक, थपक, ठनक, झक, धक्का टक्कर, झुमका, बिदकना, पटकना, सटकना, खटकना,** आदि आदि।

कई शब्द प्रतिध्वनि के रूप में गढ़ लिये गये हैं, जैसे **सामने, पड़ोस** या **पास** से पहले क्रमशः **आमने, अड़ोस**, और **आस**, अथवा **गोल, रोटी, मेल, चुप, नंगा,** आदि के बाद क्रमशः **मटोल, वोटी, जोल, चाप, धड़ँगा** आदि।

कभी-कभी प्रतिध्वनित शब्द स्वतन्त्र अर्थसत्ता स्थापित कर लेते हैं. जैसे **उलटा-सुलटा, टुंड-मुंड, डील-डौल** में **सुलटा, मुंड** और **डौल**।

कभी-कभी स्वर-भेद अथवा व्यंजन-भेद करके शब्दों का एक परिवार-सा बना लिया जाता है, जैसे तुण्ड के आधार पर **तोंद, टोंट, टोंटी, ठोडी, टुंडा; पुट** के अधार पर **पोट, पाट, पेट, पेड़** इत्यादि।

कई बार भाषा-दारिद्र्य के कारण और आवश्यकता पड़ने पर, बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष अपने-अपने शब्द गढ़ लेते हैं और समाज द्वारा ग्रहण किये जाने पर ऐसे शब्दों में से अनेक उस भाषा की सम्पत्ति बन जाते हैं; जैसे—**काका, बाबा, मामा, भाभी, बीबी, दीदी, नाना, चाचा, लाला, फूफी; टुच्चा, नाठी, गीदी, लोटा, मुस्टंडा, भोंदू** आदि इस प्रकार की देशी गढ़न के नमूने हैं।

दोग़ले शब्दों को भी इसी कोटि में रखना चाहिए। उदाहरण--- **चोरदरवाज़ा** (हिं० + **फ़ारसी**), **जेबघड़ी** (फ़ारसी + हिन्दी), **तिमाही** (हिं० + फ़ारसी), **दिलचला** (फ़ा० हिं०), **फूलदान** (हिं० + फ़ा०), **रेलयात्रा** (अँग्रेज़ी + संस्कृत) इत्यादि।
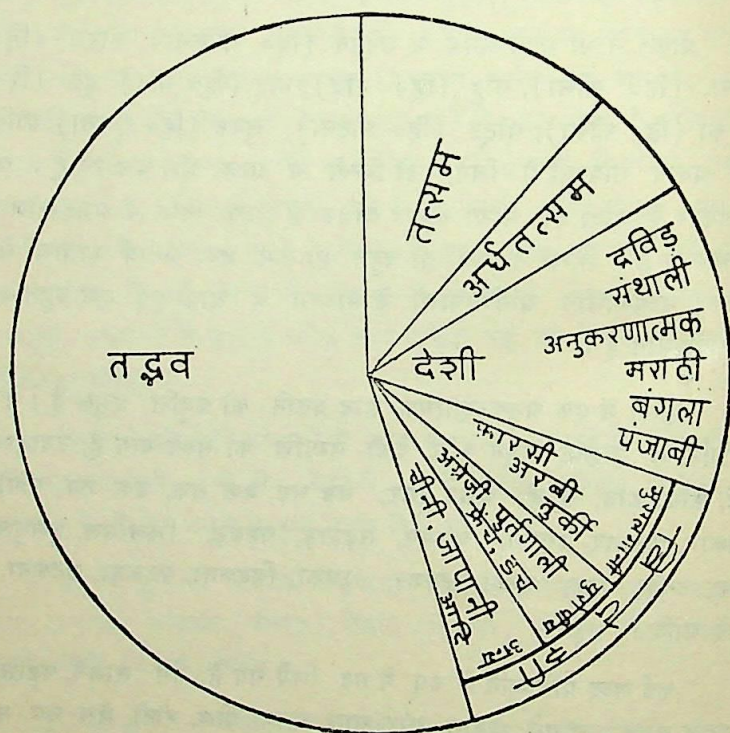
हिन्दी में शब्दों का अनुपात

६.५. शब्द-विस्तार

पिछले प्रकरण में हमने देखा कि संस्कृति और समाज के विकास के साथ भाषा का शब्द-भण्डार विकसित होता है। परम्परागत शब्दावली के अतिरिक्त नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अथवा नवीन वस्तुओं, विचारों और व्यापारों को नाम देने के लिए भाषा कभी तो अपने प्राचीन कोष में नाना तत्त्व जुटा कर उनमे

अपना काम लेती है, कभी इतर भाषाओं से सहायता ले लेती है और कभी तात्कालिक स्फूर्ति से प्रादुर्भूत ध्वन्यात्मक अथवा प्रतीकात्मक शब्दों की सृष्टि करती है। किन्तु, किसी भाषा के लिए नये शब्दों का सृजन करना इतना सहल काम नहीं होता। यदि हम इस बात की छानबीन करने लगें कि २०वीं शती में कितने नये शब्द--देशज अथवा विदेशी--हिन्दी में प्रविष्ट हुए, तो हमें १००-२०० से अधिक शब्द नहीं मिलेंगे; और उनमें भी बहुत से ऐसे होंगे जिनकी सामान्यता और व्यवहार्यता सन्दिग्ध मानी जायगी। प्रायः भाषाएँ, विशेषतया हिन्दी की तरह की भाषाएँ, जिनकी जड़ें शताब्दियों-सहस्राब्दियों से किसी पुरानी भाषा में पड़ी हों, अर्थ-विस्तार द्वारा अपनी शब्द-निधि को समृद्ध बनाया करती हैं। यह अर्थ-विस्तार तीन ढंग से परिणत होता है--(क) पुराने शब्दों को नये-नये अर्थ देकर, जैसे--पत्र। जब पत्तों पर लिखा जाता था, तब तो वह 'पत्र' था ही, किन्तु जब मशीन से बना कर काग़ज़ पर लिखा जाने लगा तो भी वह 'पत्र' कहलाता रहा; चिट्ठी भी पत्र है और अखबार भी पत्र। एक ही शब्द के नाना अर्थ हो गये; (ख) कभी दो-तीन शब्दों के जोड़ से नया शब्द नया अर्थ लेकर निकल पड़ा; जैसे **हथकड़ी**, **नैनसुख** (कपड़ा), **पंचांग**, **गोधूलि**, **समाजवाद**, इत्यादि; और (ग) प्रायः पुराने शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन करके अथवा आगे-पीछे, बीच में ध्वनियाँ जोड़ कर शब्द और अर्थ दोनों में नयी बात ला दी गयी है; जैसे चंड से **चंडी**, **चंडू**, **चंडाल**, **प्रचंड**, **चंट**, **चाँटा**; अथवा नड से **नल**, **नली**, **नाल**, **नाला**, **नाली**, **नड़ी**, **नाड़ी**, **प्रणाली**, **नलका**, **नलुवा**, **नलिन**, **नलिनी** इत्यदि। किसी भी भाषा में जब इन तीनों प्रक्रियाओं की गति द्रुत होती है तभी उसकी शक्ति बढ़ती है। अँग्रेज़ी के समृद्ध और समर्थ होने का यही कारण है, और प्राचीन काल में ग्रीक, लैटिन और विशेषतया संस्कृत की सबलता और सम्पन्नता इसी कारण से थी। हिन्दी में यदि संस्कृत से प्राप्त रिक्थ न हो तो इसकी दरिद्रता और हीनता प्रकट होने लगती है।

६.५.१. समास--हिन्दी में समासयुक्त शब्द बनाने की अपनी प्रवृत्ति अत्यन्त न्यून मात्रा में है। उदाहरणतया--

अव्ययीभाव--**निडर, निधड़क, भरपेट, बेखटके, हाथोंहाथ, दिनोंदिन, रातोंरात मन ही मन, एकाएक, धड़ाधड़।**

तत्पुरुष--**मनमाना, दईमारा, मुँहमाँगा, मदमाता, ठकुरसुहाती, घोड़ागाड़ी, रसोईघर, हथकड़ी, रोकड़बही, देशनिकाला, कामचोर, बनमानुस, घुड़दौड़, बैलगाड़ी, पनचक्की, मृगछौना, अमचूर, आपबीती, कानाफूसी, कठफोड़ा, कनकटा, मुंहचोरा, बटमार, चिड़ीमार, घुड़चढ़ा, पनडुब्बी।**

नञ् तत्पुरुष—**अनबन, अनचाहा, अनदेखा, अनजाना, अटूट, अनगढ़, अकाज, अनहोनी**;

कर्मधारय तत्पुरुष—**मझधार, भलामानस, कालापानी, छुटभैया, भलाबुरा, ऊँचनीच, खटमिट्ठा, मोटा-ताजा, अधमरा**;

द्विगु तत्पुरुष—**पंसेरी, दोपहर, तिपाई, चौमासा, सतसई, अठवाड़ा, छदाम, दुपट्टा**;

लुप्तपद तत्पुरुष—**दहीबड़ा, गुड़म्बा, जेबघड़ी, चितकबरा, गीदड़भबकी**;

द्वन्द्व—**गाय-बैल, दालभात, घटी-बढ़ी, दूधरोटी, खानपान, हुक्कापानी, भूल-चूक, कपड़े-लत्ते, घासफूस, मारपीट, लूटमार, दियाबत्ती, सागपात, कूड़ा-कचरा, बालबच्चा, मेलमिलाप, कीलकाँटा, मोलतोल, पान-तमाखू, घरबार, आगा-पीछा, कहा-सुनी, लेनदेन, चाल-ढाल, थोड़ा-बहुत**;

बहुव्रीहि—**कनफटा, मिठबोला, दुधमुँहा, सिरकटा, टुटपुँजिया, बड़भागी, बहुरूपिया, बारहसिंगा, पतझड़, लमटंगा, बालतोड़, हाथीपाँव, भौंरकली, अनमोल, दुनाली, चौकोर, सतलड़ा, मारामारी, बदाबदी, कहाकही, कहासुनी, खींचातानी, रंगबिरंगा, टेढ़ामेढ़ा, उलटा-पुलटा** आदि समासयुक्त शब्द बहुत ही सीमित संख्या में प्राप्त होते हैं और वे भी रूढ़ से हो गये हैं; ऐसा नहीं है कि संस्कृत की तरह आप स्वेच्छा से और आवश्यकतानुसार समास बनाते चलें। **मेज़-कपड़ा, फूल-क्यारी, पानी-टंकी, बुरामानस, भरजेब, अनकरनी**, आदि शब्द व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी हास्यास्पद लगते हैं, क्योंकि हिन्दी में नये-नये समास असंगत और विचित्र दिखायी देते हैं। साहित्यिक हिन्दी के विकास के साथ (विशेषतया २०वीं शती के आरम्भ से) इस बहुत उपयोगी प्रवृत्ति का ह्रास हो गया है। अब तो केवल संस्कृत शब्दों को समासयुक्त करना समीचीन माना जाता है। उदाहरण—

अव्ययीभाव—**यथाक्रम, यथारीति, यथावसर, यथाविधि, यथासंभव, यथा-शक्ति, यथासमय, यथास्थान, आजन्म, आजीवन, आमरण, यावज्जीवन, प्रतिदिन, प्रतिवर्ष**।

तत्पुरुष—कर्म त०—**स्वर्गप्राप्त, राज्याश्रित, सिंहासनारूढ़, भावागत**; करण त०—**ईश्वरत्त, कविकृत, मदांध, कष्टसाध्य, गुणहीन, पितृसदृश, वाक्कलह**; सम्प्रदान त०—**देवबलि, बलिपशु, देशभक्ति, विद्यागुरु**; अपादान त०—**रोगमुक्त, जन्मान्ध, धर्मच्युत, जातिभ्रष्ट, कर्तव्यविमुख**, सम्बन्ध त०—**राजपुरुष, दासीपुत्र, देवालय, नरेश, विद्याभ्यास, सेनानायक, वाचस्पति, पितृभक्त**; अधिकरण त०—**कलाप्रवीण, अरण्यरोदन,**

कविश्रेष्ठ, गृहप्रवेश, धर्मवीर, जलमग्न, देशाटन; उपपद त०—**जलचर, हलधर, रोगहर**; कर्मधारय त०—**पूर्णेन्दु, परमानन्द, महाजन, शीतोष्ण, दुर्वचन**; द्विगु त० —**त्रिभुवन, पंचवटी, त्रिकाल**; नञ् त०—**अधर्म, अन्याय, अनाचार**; लुप्तपद त०—**पर्णशाला, छायातरु।**

द्वन्द्व—**राधाकृष्ण, ऋषिमुनि, जायापति (दम्पति), अन्न-जल, आचार-विचार, जीव-जन्तु।**

बहुव्रीहि—कर्म ब०—**प्राप्तोदक, शाकप्रिय**; करण ब०—**धृतचाप, कृतकार्य, दत्तचित्त**; सम्प्रदान ब०— **दत्तधन**; अपादान ब०—**लुप्तपद**; सम्बन्ध ब०—**चतुर्भुज, नीलकंठ, पीताम्बर**; अधिकरण ब०—**स्वरांत, चक्रपाणि**; मध्यपदलोपी ब०—**गजानन, मुद्राराक्षस, कोकिलकंठा**; नञ् ब०—**अनाथ, असार**; व्यतिहार ब०—**मुष्टामुष्टि, दंडादंडि**; अव्ययपूर्व ब०—**विधवा, विफल, निर्धन।**

६.५.२. **उपसर्ग**—शब्द और अर्थ के विस्तार में संस्कृत के इक्कीस उपसर्ग और थोड़े से गति-शब्द अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। किसी शब्दकोश में इनसे आरम्भ होने वाले शब्दों की गणना करने से जान पड़ेगा कि वास्तव में संस्कृत की सामर्थ्य और सम्पन्नता का रहस्य क्या है—इनसे सहस्रों शब्द बने हैं और बन रहे हैं। कुछ-एक धातुओं को लेकर देखें कि शब्दों का कितना विशाल परिवार उपसर्गों और गति-शब्दों की सहायता से बन गया है—

कृ से **आकार, प्रकार, अधिकार, प्राकार, अनुकार, उपकार, प्रत्युपकार, अपकार, प्रतिकार, विकार, किंकर, संकर, आकर, प्रकर, निकर, परिकर, सुकर, दुष्कर, सत्कार, नमस्कार, साक्षात्कार, आविष्कार, तिरस्कार, पुरस्कार, स्वीकार, अलंकार, सहकार, अनुकरण, निराकरण;**

चर से **आचार, उच्चार, अतिचार, अभिचार, व्यभिचार, संचार, विचार, उपचार, प्रचार, दुराचार, आचरण, विचरण, पुरश्चरण, परिचर, सहचर;**

भू से **अभाव, विभाव, अनुभाव, विभव, अनुभव, प्रभव, प्रभाव, पराभव, संभव, उद्भव, परिभव, अभिभव, सद्भाव, प्रादुर्भाव, आविर्भाव, स्वभाव;**

हृ से **आहार, विहार, व्यवहार, प्रहार, संहार, उद्धार, परिहार, अपहरण, उद्धरण, अध्याहार;**

गम् से **निर्गम, आगम, उद्गम, निगम, सुगम, दुर्गम, दुर्गति, अवगत, अनुगामी, संगत, तथागत, आगत, विगत, प्रगति, प्रतिगमन, प्रत्यागमन, अधोगति, अग्रगामी;** इत्यादि।

ये उपसर्ग कभी तो अर्थवृद्धि करते हैं, कभी अर्थ में परिवर्तन ला देते हैं। उदाहरण—

उपसर्ग	अर्थ	अर्थवृद्धि	अर्थ-परिवर्तन
अति	(उल्लंघन, अधिकता)	अतिक्रम, अत्यन्त, अतिनिद्रा	अतिसार, अतीत
अधि	(ऊपर)	अधिराज, अधीक्षक	अध्याय, अध्ययन, अधिकार
अनु	(पीछे, साथ)	अनुगामी, अनुज, अनुनासिक	अनुरोध, अनुवाद, अनुग्रह
अप	(दूर, उल्टा)	अपहरण, अपव्यय, अपयश	अपराध, अपवर्ग
अपि	(निकट)	अपिकर्ण, अपिकक्ष	अपिधान
अभि	(ओर)	अभिगमन, अभिरुचि	अभ्यागत, अभिनय, अभिमान
अव	(दूर, नीचे)	अवतार, अवनति, अवरोध	अवसर, अवस्था, अवधि
आ	(तक, कम)	आजीवन, आमोचन, आदीर्घ	आहार, आवेश, आज्ञा
उद्	(ऊपर)	उद्गम, उन्नति, उच्चारण	उद्यान, उत्सव, उत्कण्ठा
उप	(पास)	उपासन, उपयोग	उपक्रम, उपहार
दुर्	(बुरा)	दुराचार, दुराग्रह	दुर्ग, दुर्भिक्ष
दुस्	(कठिन)	दुष्कर, दुःसह, दुष्काल	दुश्शंस
नि	(नीचे)	निपात, निक्षेप	निगम, निकाय, निधि
निर्	(बाहर, बिना)	निर्गम, निर्दोष	निर्देश, निर्णय
निस्	,,	निष्कासन, निस्सन्देह	निश्चय, निष्ठा
परा	(पीछे)	पराजय, पराकोटि	पराभव, परामर्श
परि	(चारों ओर)	परिखा, परिचर्या	परिवार, परिणय
प्र	(अधिक)	प्रणाम, प्रबोध, प्रच्छन्न	प्रस्ताव, प्रधान, प्रवीण
प्रति	(ओर, वापस)	प्रतिगमन, प्रत्यक्ष	प्रतिमा, प्रतिज्ञा
वि	(विशेष, अलग)	वियोग, विज्ञान, विकल	विकार, विचार, विभव
सम्	(अच्छी तरह)	संतुष्ट, संरक्षक	संशय, संस्कार

सम् (उपसर्ग), सम्यक्, और सम (गति-शब्द), समान, के अर्थभेद को स्पष्ट कर लेने की आवश्यकता है। तुलना कीजिए : **संकुल** (घना), **समकुल** (समान कुल वाले); **संकर** (मिश्रण), **समकर** (समान रूप में कर लगाने वाला); **संचर**(गमन), **समचर** (एक-सा आचरण करने वाला); **संदेश** (संवाद), **समदेश** (समतल प्रदेश); **संभार** (समूह), **समभार** (बराबर का भार); **सम्मति** (राय), **सममति** (शान्ति); इत्यादि।

एक से अधिक उपसर्ग भी लगते हैं। उदाहरण—

अतिव्याप्ति, अध्यवसाय, अनुसंधान, अन्वाख्यान, अभिविहित, अभिसंधि, अभ्युत्थान, उदासीन, उपनिवेश, उपालम्भ, उपोद्घात, आसंग, दुरध्यवसाय, दुरुपचार, दुराग्रह, दुरभिसंधि, दुर्निवार, दुष्परिणाम, निस्संदेह, निरपराध, निराकार, निर्निमेष, निर्विकार, परिसंख्या, पर्यवसान, प्रणिपात, प्रासाद, प्रत्युपकार, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्याख्यान, प्रत्युत्पन्न, विनिश्चय, विपर्यय, व्यतिरेक, व्यभिचार, व्यवसाय, व्युत्पत्ति, संनिश्चय, समाचार, समुन्नत, सुदुष्कर, सुनिश्चित, सुविख्यात, स्वागत।

६.५.३. **गति-शब्द**—संस्कृत वैयाकरणों ने गति-शब्दों की संख्या पचास के लगभग बतायी है, किन्तु इनमें अधिकतर स्वतन्त्र शब्द हैं और दूसरे शब्द के साथ इनका समास हो जाता है। नीचे हम ऐसे शब्दों के उदाहरण दे रहे हैं जो हिन्दी में रूढ़ हैं—

अ (अभाव, निषेध)—**अज्ञान, अधर्म, अनीति, अलौकिक, असुख, अमर**; (स्वर से पहले **अन-**) **अनाचार, अनादि, अनिष्ट, अनुपम, अनेक।**

अग्र (आगे) – **अग्रज, अग्रगामी, अग्रणी, अग्रसर, अग्रहायण, अग्रिय।**
अन्तः (भीतरी, मध्यगत)—**अन्तःपुर, अन्तःस्थ, अंतरंग, अंतरीय, अंतर्हित, अंतर्यामी, अंतर्गत, अंतराल, अन्तःसाक्ष्य, अंतःकरण, अंतर्धान।**
अपर (और पीछे)—**अपराङ्मुख, अपरलोक, अपराह्ण।**
अधस् (नीचे)—**अधोगति, अधोभाग, अधःपतन, अधस्तल।**
अन्य (दूसरा)—**अन्यकाम, अन्यमनस्क, अन्यतम, अन्यत्र, अन्यतः, अन्यथा, अन्योन्य।**
अलम् (पूरा)—**अलंकार, अलंकृति।**
आविः (प्रकट)—**आविर्भाव, आविष्कार।**
इति (पूर्ण)—**इतिकर्तव्य, इतिहास,** इत्यादि।
उत्तर (पिछला, ऊपर का)—**उत्तरकाल, उत्तरपक्ष, उत्तरांग, उत्तराधिकार, उत्तरार्ध, उत्तरोत्तर, उत्तरीय, उत्तरपट।**

उभय (दोनों)—उभयपद, उभयलिंग, उभयथा।

कु (स्वर से पहले कद्, बुरा)—कुकर्म, कुपुत्र, कुपथ, कुरूप, कुमति; कदाचार, कदन्न, कदर्थ, कदर्य।

किं (क्या)—किंचन, किंकर्तव्यता, किंवा, किन्नर, किंचित्, किन्तु, किंकर, किंवदन्ती।

चिर (देर)—चिरकाल, चिरंजीव, चिरायु।

तद् (वह)—तत्काल, तद्देशीय, तदर्थ, तदाकार, तद्गुण, तद्भव, तत्पर, तत्सम, तल्लीन, तन्मय।

तथा (वैसे, तो)—तथापि, तथैव, तथागत, तथाविध, तथास्तु।

तिरस्—(छुपाव)—तिरोभाव, तिरोहित, तिरस्कार।

दूर—दूरतः, दूरदृष्टि, दूरवर्ती, दूरगामी।

न (नहीं)—नास्तिक, नपुंसक, नक्षत्र, नगण्य।

नाना (अनेक)—नानाकार, नाना प्रकार, नानाविध, नानारूप।

पुनः (फिर)—पुनरुक्ति, पुर्नविवाह, पुनरागमन, पुनरुत्पादन, पुनश्चर्वण, पुनर्जन्म, पुनःसिद्ध।

पुरः (आगे)—पुरस्कार, पुरोहित, पुरोगामी, पुरश्चरण।

पुरा (प्राचीन)—पुराकथा, पुरातत्त्व, पुराविद्, पुरातन, पुरावृत्त।

प्राक् (पहले का)—प्राक्कथन, प्राक्कर्म, प्राक्तन, प्राक्कालिक।

प्रादुः (उत्पन्न)—प्रादुर्भाव, प्रादुष्कृत।

बहिः (बाहर)—बहिरंग, बहिर्गामी, बहिर्मुख, बहिष्कार।

बहु (बहुत)—बहुगुण, बहुभावी, बहुमुखी, बहुमूल्य, बहुवचन, बहुधा, बहुरत्न, बहुश्रुत।

मिथ्या (झूठा)—मिथ्याकर्म, मिथ्याचार, मिथ्यावाद, मिथ्याहार।

यत् (जो)—यदर्थ, यदृच्छ, यत्किंचित्।

यथा (जैसे)—यथाकाम, यथानाम, यथाकाल, यथाविधि, यथार्थ, यथासंभव, यथारुचि।

स, सह (साथ)—सलवण, सवर्ण, सगोत्र, सजीव, सरल, सफल; सहकारिता, सहचर, सहानुभूति, सहगान, सहोत्पत्ति, सहजन्मा।

सत् (अच्छा)—सत्कार्य, सत्कार, सदगति, सत्पुरुष, सत्पथ, सत्संग, सदर्थ सच्चरित, सज्जन।

साक्षात्—साक्षात्कार।

सु (अच्छा)—**सुमधुर, सुफल, सुकुमार, सुगन्ध, सुदर्शन, सुनीति. सुलोचना, सुभद्रा, सुलभ, सुवर्ण, सुशील।**

स्व, स्वी, स्वयं (आप)—**स्वतन्त्र, स्वभाव, स्वस्थ, स्वाध्याय, स्वदेश, स्वजन; स्वीकार, स्वीकृति; स्वयंभू, स्वयंवर, स्वयंसिद्ध, स्वयंसेवक।**

६.५.४. **हिन्दी उपसर्ग तथा गति-शब्द**—हिन्दी शब्दों के साथ प्रयुक्त उपसर्ग और गति-शब्द सीमित संख्या में हैं। संस्कृत पर अधिकाधिक निर्भर होने के कारण हिन्दी की अपनी शक्ति क्षीण हो गयी है। निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय हैं—

अ (नहीं)—**अजान, अथाह, अबेर, अलग, अकाज।**

अन (")—**अनबन, अनमोल, अनपढ़, अनगिनत।**

अध (अर्ध)—**अधकच्चा, अधपई, अधपक्का, अधमरा, अधसेरा।**

उन (ऊन-)—**उनचास, उन्नीस, उन्नासी।**

औ (**अव-**)—**औगुन, औघट, औढर।**

दु (दुर्)—**दुबला, दुकाल, दुलार।**

नि (निर्)—**निकम्मा, निडर, निधड़क, निहत्था, निलज्ज, निहंग।**

कु (बुरा)—कुचाल, कुढब, कुपूत।

सु/स (अच्छा)—**सपूत।**

वास्तव में इस प्रकार के शब्द पूरे के पूरे तद्भव हैं, हिन्दी की निर्माण-शक्ति के परिणामस्वरूप नहीं हैं। निम्नलिखित फ़ारसी-अरबी शब्द भी रूढ़ि से प्राप्त हैं, हिन्दी ने विदेशी उपसर्ग लगा कर बहुत ही कम शब्द गढ़े हैं—

अलबत्ता, कमजोर, कमउम्र, खुशबू, दरअसल, दरबार, दरख़ास्त, ग़ैरसरकारी, ग़ैरहाजिर, ग़ैरहिन्दू, बदहजमी, बदनाम, बदमाश, बरदाश्त, बाक़ायदा, नालायक़, नापसन्द, नाराज़, नादान, बेचारा, बेईमान, लाचार, लावारिस, सरकार, सरदार, सरहद, हमदर्दी, हर जगह इत्यादि। हिन्दी ने कुछ ही शब्दों—**कमसमझ, नासमझ, बेसमझ, बडौल, बेमन, बेढब, सरपंच, हरघड़ी, हरकाम** आदि—में प्रयोग चलाया ही था कि यह प्रवृत्ति समाप्त हो गयी।

६.५.५. **प्रत्यय**—संस्कृत में कृत् (क्रिया में लगने वाले) और तद्धित (क्रिया से भिन्न शब्दों में लगने वाले) प्रत्ययों की सहायता से शब्द-निर्माण करने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दी आज इससे अधिकाधिक लाभ उठा रही है। निर्मित शब्दों के अनुसार वर्गीकरण करते हुए नीचे हम इनका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

६.५.५.१. संज्ञाएँ

क. भाववाचक (गुण, धर्म, कर्म, भाव)—(i) कृत् प्रत्ययों की सहायता से

-अ (गुणसहित) **श्रम, वेद, क्रोध, सर्ग, काम, शोक, जय, खेद, (सं)चय, रव, वाद, स्पर्श।**

-अ (वृद्धिसहित) **भाग, नाद, तार, वाह, प्रसार, अनुवाद, विचार, विहार, विकार, संसार।**

-अन (गुणसहित) **आगमन, आक्रमण, गायन, चयन, दान, परीक्षण, पालन, भोजन, भवन, मरण, रक्षण, शयन, वचन, सहन।**

-अन (वृद्धिसहित) **मादन, वाहन, वारण, मारण।**

-अना (-अन का प्रसार, स्त्रीलिंग) **अर्चना, घटना, तुलना, गवेषणा, रचना, वंदना, वेदना।**

-अस् (हिन्दी में स् लुप्त) **तप, तेज, मन, सर, वय, यश।**

-आ (स्त्रीलिंग) **इच्छा, भिक्षा, निन्दा, जरा, क्रीड़ा, पृच्छा, पूजा, व्यथा, कथा, चिन्ता, सज्जा, अवज्ञा, परीक्षा, सेवा, शिक्षा, दीक्षा।**

-इ (स्त्रीलिंग) **कृषि, रुचि।**

-ति (स्त्रीलिंग) **कृति, कीर्ति, गति, उक्ति, जाग्रति, संगति, व्याप्ति, दृष्टि, सृष्टि, वृद्धि, तृप्ति, रीति, स्तुति, प्रीति, शक्ति, स्थिति, स्मृति, मति, रति, युक्ति, उपलब्धि, वृद्धि।**

-थ (स्त्रीलिंग -था) **शपथ, तीर्थ, गाथा।**

-न (स्त्री० -ना) **तृष्णा, प्रश्न, स्वप्न, यत्न।**

-नि (-ति का ही रूप) **ग्लानि, हानि।**

-या (स्त्रीलिंग) **क्रिया, चर्या, मृगया, विद्या, शय्या, समस्या।**

-सा (स्त्रीलिंग, इच्छाबोधक) **चिकीर्षा, जिज्ञासा, चिकित्सा, दित्सा, पिपासा, मीमांसा, लालसा।**

(ii) तद्धित प्रत्ययों की सहायता से

-अ (वृद्धिसहित, विशेषण से) **कौशल, गौरव, मौन, लाघव, शौच, शैशव, सौष्ठव, मार्दव, यौवन।**

-इमा (स्त्रीलिंग, विशेषण से) **गरिमा, नीलिमा, अणिमा, महिमा, रक्तिमा, लघिमा।**

-ता (स्त्री०, विशेषण से) **उपयोगिता, आवश्यकता, कटुता, गुरुता, मधुरता, नवीनता, लघुता, समता, मूर्खता, समीपता।**

(संज्ञा से) कविता, मानवता, मनुष्यता, जनता, दासता।

-त्व (पु०, विशेषण से) गुरुत्व, लघुत्व, दीर्घायुत्व।

(पु०, संज्ञा से) पुरुषत्व, ब्राह्मणत्व, बन्धुत्व, दासत्व, पुंस्त्व, भ्रातृत्व।

-य (वृद्धिसहित, विशेषण और संज्ञा से) चातुर्य, आधिपत्य, पांडित्य, धैर्य, दारुण्य, काठिन्य, दाक्षिण्य, स्वास्थ्य, वाणिज्य, शैथिल्य।

ख कर्तृवाचक— (i) कृदन्त

-० वेदविद्, वृत्रहन्।

-अ (गुणसहित) चोर, दीप, ग्राह, चर, देव, फलद, बुध, व्याध, सर्प।

-अक (गुणसहित) कारक, गायक, आलोचक, पाचक, पाठक, पालक, मुद्रक, रक्षक, नर्तक, दायक, याचक, सम्पादक, लेखक, शिक्षक।

-अन पावन, मोहन, नन्दन, साधन, सूदन, रावण, करण, स्पन्दन।

-इ अरि, हरि, कवि।

-इष्णु वर्धिष्णु, सहिष्णु, जिष्णु, प्रभविष्णु।

-इन् (हिन्दी में -ई) कामी, त्यागी, वादी, संयमी, दानी, द्वेषी, प्रवासी, हितैषी, लोभी, योगी, संन्यासी।

-उ इच्छु, भिक्षु, साधु।

-उक इच्छुक, भिक्षुक, कामुक, भावुक।

-तृ (हिन्दी में -ता, स्त्री० -त्री) नेता, नेत्री, दाता, दात्री, वक्ता, जेता, कर्ता, कर्त्री, धाता, धात्री, हर्ता, भर्ता, श्रोता, भोक्ता।

-उ भानु, धेनु, कृशानु।

(ii) तद्धितान्त

-इन् (हिन्दी मे -ई) क्रोधी, दंती, धनी, योगी, शास्त्री, सुखी, हस्ती।

-मी स्वामी, वाग्मी।

-र कुंजर।

ग. अपत्यवाचक (उसका बेटा, शिष्य या वंशज) [तद्धितान्त]—

-० (केवल वृद्धि) काश्यप, कौरव, दौहित्र, पाण्डव, पार्थ, पार्वती, राघव, सौमित्र, वासुदेव।

-इ मारुति, दाशरथि (राम)

-एय (वृद्धिसहित) कौन्तेय, गांगेय, भागिनेय, राधेय, वैनतेय।

-य (वृद्धिसहित) चातुर्मास्य, जामदग्न्य, दैत्य, शांडिल्य।

घ. ऊनवाचक (छोटा) [तद्धितान्त]—

-क पुत्रक, बालक, नौका, वृक्षक, भिक्षुक।

-कल्प कुमारकल्प, कविकल्प, विद्वत्कल्प।

ङ. समुदायवाचक [तद्धितान्त]—

-क अष्टक, सप्तक, पंचक।

च—करणवाचक [कृदन्त]—

-त्र (गुणसहित) अस्त्र, नेत्र, पात्र, शस्त्र, शास्त्र, श्रोत्र, क्षेत्र, वस्त्र, होत्र, मन्त्र, वक्त्र।

-इत्र खनित्र, चरित्र, पवित्र।

-उ चक्षु, धनु, वपु।

छ. स्त्रीप्रत्यय (स्त्रीलिंग बनाने के लिए) [तद्धितान्त]—

-आ कान्ता, बाला, शाला, निर्मला, मृदुला।
[पुलिङ्ग में -क हो तो क से पहले इ हो कर -आ लगता है जैसे बालिका, नायिका, अध्यापिका, पाठिका]।

-ई देवी, राज्ञी, ब्राह्मणी।

-आनी मातुलानी, इन्द्राणी।
[-वन् हो तो -वरी हो जाता है—पीवरी]।

ज. विविधार्थ संज्ञाएँ—

-अन्त जयन्त, वसन्त, हेमन्त।

-इ अर्चि, आहुति, ज्योति, दवि।

-उ इषु, मनु, वायु, रिपु, सिन्धु।

-उन मिथुन, शकुन।

-ऊ चमू, वधू, श्वश्रू।

-तु ऋतु, जन्तु, तन्तु, धातु, वस्तु, वास्तु, हेतु।

-म कर्म, चर्म, धर्म, धाम, धूम, ब्रह्म, भीम, सीमा।

-मि भूमि, रश्मि।

-मी लक्ष्मी।

-यु मृत्यु, अभिमन्यु।

-रु दारु, मेरु।

६.५.२ विशेषण

बहुधा विशेषण संज्ञा का काम भी देते हैं और कुछ केवल सज्ञार्थ हो गये हैं। विशेषण बनाने वाले प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक है–

(i) कृदन्त

-अक कारक, चिन्तक, ग्राहक, जनक, नायक, निन्दक, पाचक, रंजक, वाचक।

-अनीय आदरणीय, करणीय, चिन्तनीय, दर्शनीय, निन्दनीय, माननीय, रमणीय, विचारणीय, शोचनीय, स्मरणीय। देखिए नीचे -य भी।

-आलु कृपालु, दयालु, शयालु।

-इन् देखिए संज्ञार्थ के अन्तर्गत (पृ० १५२)

-इल स्वप्निल।

-उ ऋजु, मृदु, स्वादु (देखिए कर्तृवाचक संज्ञार्थ -उ भी)।

-ऊक जागरूक।

-उर भंगुर, भिदुर।

-त (भूतकालिक) [वातावरण के अनुसार -इत, -ट, -ध और -न भी इसी के रूप हैं]---कृत, ख्यात, गत, च्युत, त्यक्त, त्रस्त, ध्वस्त, भक्त, भुक्त, भूत, मृत, लुप्त, श्रुत; नष्ट, दृष्ट, भ्रष्ट, हृष्ट, धृष्ट; दग्ध, मुग्ध, वृद्ध, सिद्ध; कथित, कम्पित, गृहीत, जागृत, विदित, शंकित, संतुलित; खिन्न, जीर्ण, पूर्ण, भग्न, भिन्न लग्न, लीन, विकीर्ण। अनियमित—शुष्क, पक्व।

-तव्य कर्तव्य, गन्तव्य, ज्ञातव्य, द्रष्टव्य, दातव्य, भवितव्य, वक्तव्य।

-त्रिम कृत्रिम।

-मान क्रियमाण, चीयमान, जाज्वल्यमान, देदीप्यमान, बोध्यमान, यजमान, वर्धमान, विद्यमान।

-य कार्य, खाद्य, गद्य, ग्राह्य, गम्य, चिन्त्य, त्याज्य, देय, धेय, निन्द्य, पद्य, पाठ्य, वाच्य, बाह्य।

-र नम्र, हिंस्र।

-रु भीरु।

-वर ईश्वर, नश्वर, भास्वर।

(ii) तद्धितान्त

-० केवल वृद्धि द्वारा, जैसे हारिद्र, पैप्पल, और्ण, ग्रैष्म, नैश, पार्थिव।

-इक (वृद्धिसहित) कालिक, ऐतिहासिक, दाम्भिक, दैनिक, पौराणिक, मासिक, मानसिक, वैदिक, शारीरिक, सामयिक, साप्ताहिक,............।

-इत कंटकित, अंकुरित, खण्डित, कुसुमित, कलंकित, तारांकित, तरंगित, निद्रित, पल्लवित, पुलकित, पुष्पित, प्रतिबिम्बित, फलित, मुकुलित, संबंधित।

-इम अंतिम, अग्रिम, पश्चिम।

-इय (ईय भी) क्षत्रिय, राष्ट्रिय/ राष्ट्रीय, भवदीय, नारकीय, राजकीय, देशीय, भारतीय, स्वर्गीय।

-इल पंकिल, स्वप्निल, जटिल, तुंदिल, फेनिल, सिकतिल।

-इष्ठ गरिष्ठ, स्वादिष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, पापिष्ठ।

-ईन कुलीन, ग्रामीण, नवीन, शालीन, अधीन, पारीण, प्राचीन, अर्वाचीन, समीचीन।

-ईय दे०, -इय।

-उक कामुक, भावुक।

-क आत्मक, मूलक, विषयक, नामक।

-ठ कर्मठ, जरठ।

-तन अद्यतन, नूतन, पुरातन, प्राक्तन, सनातन।

-तम कठिनतम, गुरुतम, पटुतम, महत्तम, अल्पतम, लघुतम, उत्तम, सुन्दरतम; विंशतितम, षष्ठितम।

-तर कठिनतर, गुरुतर, पटुतर, दृढ़तर, मृदुतर, लघुतर।

-तीय द्वितीय, तृतीय।

-त्य दाक्षिणात्य, नित्य, पाश्चात्य।

-म अधम, आदिम, मध्यम (स्वार्थे)।

-म पंचम, सप्तम, नवम, दशम (क्रम)

-मय जलमय, काष्ठमय, तेजोमय, मांसमय, शान्तिमय, दयामय, मधुमय, मृण्मय, सीताराममय।

-मान् शक्तिमान्, आयुष्मान्, बुद्धिमान्, मतिमान्, हनुमान्, धीमान्, श्रीमान् (दे० वान् भी)।

-य न्याय्य, रथ्य, धर्म्य, सभ्य, सौम्य, दन्त्य, गव्य, वन्य (के उपयुक्त, से सम्बद्ध)।

-युक्त न्याययुक्त, युक्तियुक्त।

-र पांडुर, मधुर, मुखर।

-ल मंजुल मांसल, वत्सल, शीतल, श्यामल (स्वार्थ)।

-लु निद्रालु, श्रद्धालु (देखिए कृदन्त विशेषण भी)।

-व केशव, राजीव (वान् का संक्षिप्त रूप)।

-वान् (मान् का रूप अ-आ के बाद प्रयुक्त) गुणवान्, धनवान् भाग्यवान्, रूपवान्, विद्यावान्, निष्ठावान्।

-विन् (हिन्दी में -वी) तपस्वी, तेजस्वी, पयस्विनी, मनस्वी, मायावी, मेधावी, यशस्वी।

-श कर्कश, रोमश, कपिश।

६.५.५.३. क्रियाविशेषण [तद्धितान्त]—

-चित् कदाचित्, क्वचित्, किंचित्। (अनिश्चित)

-तः प्रथमतः, उभयतः, अंशतः, विशेषतः, स्वतः।(से)

-तया विशेषतया, कृपया।(से)

-त्र यत्र-तत्र, सर्वत्र, अन्यत्र, एकत्र।(स्थान)

-था अन्यथा, तथा, यथा, वृथा, सर्वथा।(रीति)

-दा कदा, यदा, सदा, सर्वदा।(समय)

-धा त्रिधा, द्विधा, नवधा, शतधा।(प्रकार)

-पूर्वक दयापूर्वक, दृढ़तापूर्वक, न्यायपूर्वक, विधिपूर्वक।

-वत् पुत्रवत्, तद्वत्, विधिवत्, आत्मवत्, पितृवत्।

-शः अल्पशः, कोटिशः, बहुशः, शतशः।(करके)

-सात् अग्निसात्, आत्मसात्, जलसात्, भस्मसात्, भूमिसात्।

६.५.६. **हिन्दी प्रत्यय**—हिन्दी में प्रत्ययों की कमी नहीं है, किन्तु तत्सम शब्दावली की प्रधानता के कारण इन की निर्माणात्मक शक्ति क्षीण हो गयी है। अब इनसे स्वेच्छापूर्वक काम नहीं लिया जा सकता। जो उत्पादकता संस्कृत प्रत्ययों में है, वह हिन्दी के निजी प्रत्ययों में नहीं है। निर्मित शब्दों के अनुसार इनका विभाजन नीचे किया जा रहा है—

६.५.६.१. **संज्ञावाची**

(क) भाववाचक— (i) कृदन्त

-अ <सं० -अ; जाँच, देखभाल, पहुँच, मार, लूट, समझ।

-अ (गुणसहित) झोंक, मेल।

-अ (वृद्धिसहित) आड़, चाल, बाढ़, लाग।

-अन्त <सं० -अन्त; गढ़न्त, भिड़न्त, रटन्त, लड़न्त। (कार्य)

-आ <सं० -आ; घेरा, जोड़ा, छापा, झगड़ा, झटका, फेरा, रगड़ा।

-आई <सं० -आपिका; खुदाई, चढ़ाई, जुड़ाई, जुताई, पढ़ाई, लड़ाई, कमाई, चराई धुलाई, बनवाई, सिलाई। (कार्य और कार्य का दाम)

-अन <सं० -अन; ऐंठन, चलन, सड़न, जलन, देन, लेन, खान, पान, मुस्कान।

-आन <सं० -आपन, प्रा० -आवण; उड़ान, उठान, चलान, ढलान, थकान, मिलान लगान।

-आप <सं० -आत्म, -त्व; जलापा, पुजापा, मिलाप।

-आव (१) <सं० -आप + अक; घुमाव, चढ़ाव, चलावा, छलावा, छिड़काव, छुड़ावा, जमाव, पछतावा, पड़ाव, पहिरावा, बचाव, बुलावा, भुलावा......

-आवट <सं०-आप + वृत्ति; थकावट, दिखावट, बनावट, मिलावट, रुकावट सजावट।

-आस <सं० आशा; ऊँघास, प्यास, मुतास, रोआस।

-आहट (-आवट का दूसरा रूप) गड़गड़ाहट, आहट, घबराहट, चिल्लाहट जगमगाहट, बिलबिलाहट।

-ई <सं०, -इका; घुड़की, धमकी, बोली, मरी, हँसी।

-औता (स्त्री० -औती) <सं० पत्र-पत्री; चुकौती, चुनौती, मनौती, समझौता।

-औवल <सं० आवली; बनौवल, बुझौवल।

-त <सं० -त्व; खपत, बचत, रंगत।

-ती <(-त का प्रसार) गिनती, घटती, चुकती, फबती, बढ़ती, पावती।

-न देखिए -आन।

-नी <सं० -नीय; कटनी, करनी, छँटनी, भरनी।

(ii) तद्धितान्त

-आ <सं० -अकः; चूरा, झोंका, बोझा, खटका, धड़का।

-आई <सं० -आपिका; चतुराई, चिकनाई, ढिठाई, भलाई, पंडिताई।

-आका (ध्वन्यात्मक); धड़ाका, धमाका, भड़ाका, सड़ाका।

-आटा ("); घर्राटा, भर्राटा, सर्राटा।

-आन <सं० -आयन; ऊँचान, चौड़ान, निचान, लंबान, घमासान।

-आपा <सं० -त्व ?, आत्म; बुढ़ापा, रंडापा, (देखिए -पन)।

-आयत स० <आयतन; पंचायत, अपनायत, बहुतायत ।

-आरा <सं० कार्य; छुटकारा, निपटारा ।

-आवट (दे० पीछे) अमावट, महावट ।

-आस <सं० आशय; खट्टास, निंदास, मिठास ।

-आहट (आवट का ही रूप) कड़आहट, चिकनाहट ।

-आइंद <सं० गन्ध; घिनाइंद, सड़ाइंद ।

-ई <सं० -य, -ईय; चोरी, दलाली, किसानी, गुण्डई, खेती, महाजनी ।

-औता <सं० पात्र; कजरौटा, कठौता, बपौती ।

-क <सं० क (स्वार्थे); ठण्डक, धमक, कसक, महक ।

-ती <(दे० पीछे) कमती ।

-पन <सं -त्वन; कालापन, गँवारपन, बालपन, लड़कपन ।

ख. कर्तृ वाचक [कृदन्त)

-अंकू, आक, आकू <सं० -कर; उड़ंकू, लड़ंकू, तैराक, उड़ाक, लड़ाका ।

-अक्कड़ <प्रा० अक्क+ड़; कुदक्कड़, पियक्कड़, बुझक्कड़, भुलक्कड़ ।

-आर <सं० कार; चमार, कुम्हार, लोहार, सुनार, आदि वस्तुतः तद्भव शब्द हैं ।

-इया <सं० -इक, जड़िया, धुनिया, नियारिया, नचइया, लखिया ।

-एरा <सं० कार; कमेरा, लुटेरा ।

-ओड़ा <सं० वृत्ति ; चटोरा, भगोड़ा, हँसोड़ ।

ग. करणवाचक [कृदन्त]

-आ <सं० -अकः; घेरा, झूला, ठेला, पाँसा ।

-ई <सं० -इका ; चिपटी, गाँसी, फाँसी, रेती ।

-ना (स्त्री० -नी) <सं० -अन+अक, इका; ओढ़ना, घोटना, बेलना; चलनी, धौंकनी, कतरनी ।

-ऊ <सं० -उक; झाड़ू ।

घ. लघुतावाचक [तद्धितान्त]

-इया <सं० -इका; अँबिया, खटिया, गठरिया, डिबिया, फुड़िया ।

-ई <सं० -इका; घाटी, टोकरी, पहाड़ी, डोरी ।

-ऊ <सं० -उक; नत्थू, रामू, दादू ।

-ओला < स० पुत्रल ; **खटोला, गढ़ोला, मँझोला, सँपोला ।**

-ड़ा, ड़ी < देशी ; **चमड़ा, दुखड़ा, बछड़ा, पँखड़ी, पलँगड़ी ।**

-ली (इसी का दूसरा रूप) **टिकुली, डफली, सूपली ।**

ङ. विविधार्थ

(स्थान) **अहीराना, गोंडवाना, राजपूताना, तिलंगाना; अगाड़ी, पिछाड़ी;** (व्यवसाय) **तेली, माली, धोबी, तमोली; कमेरा, कँसेरा, लुटेरा; लठैत, बरछैत;** (कर्म) संज्ञार्थक क्रियाएँ—**खाना, पीना, गाना, बैठना;** (भूषण) **कंठी, अँगूठी, पहुँची;** (वस्त्र) **अँगिया, जाँघिया ;** (बड़ापन) **लकड़ा, घड़ा, चिमटा;** इत्यादि ।

६.५.६.२. विशेषण

-आ (भूतकालिक कृदन्त) **कटा, फटा, पड़ा, मरा;** (तद्धितान्त) **ठण्डा, प्यासा, भूखा, गेरुआ ।**

-आऊ (कृदन्त) **टिकाऊ, जलाऊ, चलाऊ, बिकाऊ, दिखाऊ :** (तद्धितान्त) **अगाऊ, पंडिताऊ ।**

-आवना (कृदन्त) **डरावना, लुभावना, सुहावना ।**

-आर (तद्धितान्त) **गँवार, दुधार ।**

-इयल (कृदन्त) **अड़ियल, मरियल, सड़ियल, ;** (तद्धितान्त) **दढ़ियल ।**

-आलू (तद्धितान्त) **झगड़ालू, लज्जालू, शरमालू, डरालू ।**

-ईला (तद्धितान्त) **छबीला, ज़हरीला, पनीला, लजीला, रँगीला, रसीला ।**

-ऐल (ऐला) (तद्धितान्त) **खपरैल, दंतैल, दुधैल, गुबरैला, बघेला, मुरेला, सौतेला ।**

-ता (वर्तमान कृदन्त) **करता, खेलता, सोता,** आदि ।

-हरा (तद्धितान्त) **इकहरा, दोहरा, चौहरा ।**

६.५.६.३. क्रियाविशेषण

-ए (सं० अधिकरण -ए) **पीछे, तड़के, सामने, लेखे, बदले, ऐसे, वैसे ।**

६.५.७. विदेशी प्रत्यय— विदेशी भाषाओं में से केवल अरबी-फ़ारसी के कुछ ऐसे प्रत्यय हिन्दी में ग्रहण किये गये जिनका प्रयोग हिन्दी शब्दों के साथ भी होने लगा, किन्तु यह प्रवृत्ति अब समाप्तप्राय है ।

कृदन्त प्रत्यय बिलकुल नहीं हैं ।

तद्धितान्त संज्ञाए—

-कार **जानकार ।**

-दान **पानदान, चायदानी, मच्छरदानी, उगालदान,** आदि ।

-वान <फ़ा० वान; **गाड़ीवान, हाथीवान ।**

तद्धितांत विशेषण--

-वार **घंटेवार, नम्बरवार ।**

-दान **अँग्रेज़ीदान, साइंसदान ।**

-दार **चमकदार, थानेदार, नातेदार, फलदार ।**

-बंद **हथियारबंद, मोहरबंद ।**

-साज **घड़ीसाज़ ।**

-आबाद **म्युराबाद ।**

-ख़ाना **डाकख़ाना, गाड़ीख़ाना ।**

फ़ारसी के तत्सम शब्द जिनमें मूल प्रत्यय जुड़े हैं, संख्या में बहुत अधिक हैं । ऐसे शब्द देना व्यर्थ होगा ।

६.५.८. **अन्तःसर्ग** द्वारा शब्दार्थ-विस्तार की प्रक्रिया कम उदाहरणों में मिलती है । संस्कृत में इससे तद्धितांत और कृदन्त दोनों प्रकार के शब्द बनते हैं, जैसे--**निमिष** से **निमेष, क्षत्र** से **क्षात्र, स्मृति** से **स्मार्त, सुहृद** से **सौहार्द, पृथु** से **पार्थ, भू** से **भाव, कृ** से **-कार, हृ** से **-हार, पुत्र** से **पौत्र, भरत** से **भारत, व्याकरण** से **वैयाकरण, पुष्यति** से **पोषयति, लिखित** से **लेखयति**। वास्तव में यहाँ पर गुणवृद्धि और स्वर-सामंजस्य का नियम लागू होता है । प्रत्ययों के अन्तर्गत यथास्थान उनका विस्तृत वर्णन दिया जा चुका है ।

हिन्दी में इस परम्परा से सकर्मक और प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनाने की रीति और अन्य छुटपुट शब्द-निर्माण करने की प्रवृत्ति विद्यमान है, उदाहरणार्थ---**लिखना लिखाना, लिखवाना; मरना, मारना; देना, दिलाना; निकलना, निकालना; लुटना, लूटना; पेट, पाट, पोट; तुण्ड, तोंद,** आदि ।

संक्षेप

व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी में चार प्रकार के शब्द हैं—तत्सम (संस्कृत के मूल शब्द और संस्कृत व्याकरण के अनुसार निर्मित ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी शब्द) जिनका अनुपात साहित्यिक हिन्दी में बहुत अधिक

बढ़ता जा रहा है; तद्भव, जो ध्वनि-परिवर्तन करके तत्सम से हिन्दी में बने हैं ; देशी (अनुकरणात्मक और देशी भाषाओं से गृहीत शब्द) ; एवं विदेशी (विशेषतया फ़ारसी और अंग्रेज़ी के द्वारा आये हुए शब्द) ।

शब्दों का विस्तार समास बनाकर एवं पूर्व-पर-प्रत्यय लगाकर होता है । उपसर्ग तथा प्रत्यय तीन प्रकार के हैं—तत्सम, तद्भव और विदेशी । उपसर्ग हैं तो थोड़े, किन्तु शब्द-निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रत्ययों से संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि नाना यौगिक शब्द बनते हैं जिनके कारण हमारी भाषा समृद्ध होती है । कुछ-एक अन्तः-सर्ग भी संस्कृत-हिन्दी शब्दों में प्राप्त होते हैं ।

७. अर्थ-विकास

७.१. अर्थ-विस्तार

पिछले प्रकरण में अर्थ-विस्तार की दो महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं का विवरण दिया गया है। उन दोनों का सम्बन्ध शब्द-भण्डार के विकास के साथ होते हुए भी वस्तुतः अर्थ-विकास से है, क्योंकि शब्द एक साधन मात्र है, अर्थ ही उसका साध्य है। नये-नये समास बनाने अथवा आगे-पीछे ध्वनियाँ लगाकर विभिन्न शब्द बनाने का उद्देश्य है नये-नये और विभिन्न अर्थों का विकास करना। अर्थ-विकास की तीसरी प्रक्रिया जिसकी ओर पृष्ठ १४४ पर संकेत किया गया है, इन दोनों से अधिक व्यापक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् पुराने शब्दों को नये-नये अर्थ देना।

शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना अर्थ-विस्तार करना प्रत्येक विकासशील भाषा का स्वभाव है और हिन्दी का क्षेत्र तो इतना विस्तृत है कि उसके लिए यह प्रक्रिया आवश्यक और स्वाभाविक है! किसी हिन्दी शब्दकोश को उठा कर देखिए, विरले ही ऐसे शब्द मिलेंगे जिनका एक ही अर्थ है। कभी-कभी तो ऐसे शब्द मिल जाते हैं, जैसे **दण्ड, और, रस, पढ़ना** आदि, जिनके आठ-आठ, दस-दस और इससे भी अधिक अर्थ हैं। आरम्भ में किसी शब्द का अर्थ एक ही होता है, किन्तु धीरे-धीरे उसके प्रयोगों में इतनी विविधता और विभिन्नता आ जाती है कि उससे सम्बद्ध अर्थों का एक परिवार-सा जुट जाता है। इस प्रक्रिया को शब्द और अर्थ का सम्बन्धान्तरण कहा जा सकता है।

शब्दार्थ-सम्बन्धान्तरण के कई भेद हैं—अर्थ-संकोच, अर्थ-प्रसार, उत्कर्ष, अपकर्ष, मूर्त्तीकरण, अमूर्त्तीकरण, अंगांगी अन्तरण, सादृश्यान्तरण, सहान्तरण, विकासमान अन्तरण, व्याकरणगत अन्तरण, इत्यादि।

७.२. अर्थ-संकोच

प्रायः शब्दों के निरुक्तार्थ या यौगिक अर्थ व्यापक होते हैं, अर्थात् उस शब्द द्वारा द्योतित गुण या व्यापार अन्य वस्तुओं में भी पाया जाता है, किन्तु संभवतः शब्द की सृष्टि के दिन से ही उसका संबंध वस्तु-विशेष या व्यापार-विशेष से जुड़ा रहता

है। निम्नलिखित शब्दों के यौगिक अर्थ और रूढ़ अर्थ की तुलना करने से अर्थ-संकोच की मूलभूत वृत्ति स्पष्ट होगी —

> **कुंजर** (जो कुंजों में विचरता है), हाथी; **धान्य** (धन से सम्बद्ध), अन्न, चावल; **सर्प** (जो सरकता है), साँप; **मोदक** (प्रसन्न करने वाला), लड्डू; **बाढ़** (बढ़ने की क्रिया), जलावेग; **लगान** (जो लगाया गया), कर।

उपसर्ग और प्रत्यय के योग से शब्दों में अर्थ-वैशिष्ट्य आ जाता है, जैसे--

> **भू** (होना) से **भाव, प्रभाव, संभव, भवन, भव्य;**
> **हृ** (ले जाना) से **आहार, प्रहार, उपहार, संहार;**
> **पुंज** (ढेर) से **पूंजी** (मूलधन);
> **मांस** से **मसूड़ा, मस्सा** इत्यादि। [देखिये पृ० १४७]

विशेषण लग जाने से शब्द में अर्थ-संकोच हो जाना सिद्ध ही है; तुल० **बार** (द्वार) और **चौबारा; पुरुष** और **राजपुरुष**; **कुआँ** और **अन्धा कुआँ**; **रोग** और **पीलिया रोग**; **काल** और **महाकाल**; **शास्त्री** और **भाषाशास्त्री**; इत्यादि। कभी-कभी विशेषण लुप्त होकर विशेष्य में और विशेष्य लुप्त होकर विशेषण में समाया रहता है; तब भी अर्थ-संकोच प्रकट रहता है। उदाहरणार्थ —

पत्र = समाचार-पत्र; **सम्पादक** = पत्र-सम्पादक; **सामग्री** = हवन-सामग्री; **मंजन** = दन्तमंजन; **कुंवर** = राजकुंवर; **जन्माष्टमी** = कृष्ण-जन्माष्टमी; **लगन** = शुभ लगन; **चाल** = खोटी चाल; **गंध** = बुरी गंध; **चलित्तर** = दूषित चरित्र; **दुलड़ा** = दोलड़ा हार; **मध्यमा** = मध्यमा परीक्षा; **गाढ़ा** = गाढ़ा कपड़ा; **खरी-खरी** = खरी-खरी बातें; **कर्तव्य** = कर्तव्य कार्य, इत्यदि।

इसी प्रक्रिया के कारण बहुत से विशेषण संज्ञा-रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसे **छोटे-बड़े, हिन्दी, सती, श्रीमती, अभिमत, अतीत, भविष्य।**

जब भाषा में दो समानार्थक शब्द इकट्ठे हो जाते हैं तो ऐसे जोड़ों में एक का अर्थ-संकोच करके उसकी भेदक सत्ता निश्चित कर दी जाती है; जैसे **भात** और **भत्ता**, **गर्भिणी** और **गाभिन**, **चून** और **चूना**, **खीर** और **दूध**, **वैद्य** और **डाक्टर**।

ऊपर हमने देखा कि समय पाकर एक-एक शब्द के अनेक अर्थ होने लगते हैं; किन्तु जब किन्हीं अर्थों में अराजकता आ जाती है तो भाषा उसे सहन न कर स्पष्टता के नाते एक अर्थ-विशेष को सुरक्षित कर लेती है, और अन्य अर्थों का त्याग कर देती है; उदाहरण--सं० **ऋक्ष** (नक्षत्र, रीछ, ऋषि), हिं० **रीछ** (भालू); सं० **गौ** (इन्द्रिय, पृथ्वी, गाय इत्यादि), हिं० **गौ** (गाय); सं० **आदर्श** (दर्पण, प्रतिलिपि, टीका, अनुकरणीय बात), हिं० **आदर्श** (अनुकरणीय बात), **आरसी** (दर्पण); सं०

आशा (दिशा, इच्छा), हिं० **आस** या **आशा** (इच्छा), सं० **अवतार** (उतार, रूप, उत्थान, अड्डा, लक्ष्य, भूमिका, अनुवाद, देवता का जन्म), हिं० **अवतार** (देवता का जन्म), आदि-आदि ।

कुछ शब्द पहले पूरी जाति के लिए प्रयुक्त होते थे, समय पाकर वे उस जाति के एक वर्ग अथवा एक भाग के लिए प्रयुक्त होने लगते हैं । संबंध-संकोच के ये उदाहरण स्पष्ट हैं—

मृग=सं० पशु, हिं० हिरन; **मुरगा**=फ़ा० पक्षी, हिं० कुक्कुट; **मदक**=सं० नशीला, हिं० अफ़ीम और पान का मिश्रण: खाजा<सं० खाद्य, हिं० एक मिठाई; **अन्न**=सं० खाया हुआ, हिं० चना, गेहूँ आदि; **लोह**=सं० धातु, हिं० लोहा ।

प्रत्येक व्यवसाय, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक विशेषज्ञ अर्थ-संकोच द्वारा पारिभाषिक शब्दावली सिद्ध करता है—**भाँवरी**, **गौना**, **अम्ल**, **पाटी**, **जीभी**, **श्राद्ध**, **लीला**, **रास**, **बरत**, **सगाई** आदि अर्थ-संकोच के उत्तम उदाहरण हैं ।

जातिवाचक संज्ञा का व्यक्तिवाचक संज्ञा बन जाना भी अर्थ-संकोच का निदर्शन है, जैसे **शिव**, **गौरी**, **पार्वती**, **भगवती**, **हनुमान**, **भारतेन्दु**, **अकबर**, **बंशीधर**, **गद्दर**, **लखदाता** इत्यादि ।

ऋषि वाजप्यायन का यह कथन सही है कि शब्द मूलतः वर्ग या जाति के द्योतक होते हैं, उनका सापेक्षिक प्रयोग उनके सम्बन्ध को सीमित कर देता है । इस बात को यों कहा जा सकता है कि भाषा में सापेक्षता लाने के लिए या सुनिश्चितता लाने के लिए अर्थ-संकोच की प्रवृत्ति बढ़ती रहती है । विकासशील भाषा में अर्थ-संकोच आवश्यक भी है । जिस प्रकार किसी भाषा में विशेषणों की अधिकता उसकी सम्पन्नता का परिचय देती है, उसी प्रकार अर्थ-संकोच से उस भाषा का व्यवहार स्थिर और समृद्ध होता है । अतः अर्थ-संकोच की अपेक्षा अर्थ-प्रसार की प्रक्रिया कम होती है, क्योंकि भाषा का लक्ष्य विचारों को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करना होता है, विशेषतया जब वह साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बन जाती है ।

७.३. अर्थ-प्रसार

आलंकारिक प्रयोग द्वारा अर्थ में प्रसार होता है, जैसे **आँख**, आलू की आँख; **चूड़ामणि** (सिर का भूषण), सर्वोत्तम; **चोला** (कुरता), शरीर; **लाठी** (लकड़ी), सहारा; **शेर** (सिंह), बलवान; **गधा** (गर्दभ), निर्बुद्धि; इत्यादि ।

व्यक्तिवाचक संज्ञा का जातिवाचक संज्ञा में प्रयोग होना भी इसी प्रकार की लाक्षणिकता के अन्तर्गत आता है, जैसे 'यशोदा हमारे घर की **लक्ष्मी** है', 'कलियुग के **भीम**', **शेखचिल्ली**, **लाल बुझक्कड़**, **दामाशाह**, **यवन** ।

कुछ शब्द सादृश्य के नाते उसी प्रकार के पदार्थों या व्यापारों के लिए प्रयुक्त होते हैं; जैसे **तेल** (मूलतः तिल से बना हुआ), **प्रवीण** (मूलतः वीणा बजाने में चतुर), **स्याही** (मूलतः काली), आदि ।

७.४. अन्य प्रक्रिया

अर्थापकर्ष—**जयचंद, बिभीषण, देवदासी, पाँड़े, महाजन, गँवार, देहाती, चमार** (जैसे 'चोर-चमार' में), **पाखंड** (मूलतः संन्यासी-सम्प्रदाय), **चाल, पीना, जमादार, भगत जी, हजरत, फिरंगी, जापानी माल, चार्वाक, सीधा-सादा, सुहागिन,** आदि के अर्थ में हीनता आ गयी है ।

अर्थोत्कर्ष—**कृष्ण** (काला), **भीष्म, भीम, मंदिर, कुम्भ, कलश, त्यौहार** <तिथि वार), **मुहूर्त, नाम, कुलीन, कपड़ा** (<कर्पट, चिथड़ा), आदि में अच्छाई और बड़प्पन का भाव आ गया है ।

मूर्त्तीकरण—**उपन्यास** (मूलतः कथन), **सुहाग** (सौभाग्य), **सामग्री** (मूलतः संचय); **बात उड़ाना, विचार बिखर गये; विरहाग्नि, विचारधारा, विद्याधन, देवता** (मूलतः देवभाव), **जनता, सफेदी** (श्वेतता), **उतराई** (उतरने का किराया), **धुलाई, रँगाई, सवारी, चेती** आदि अब मूर्त्त रूप प्रस्तुत करते हैं ।

अमूर्त्तीकरण—**काँटा** (दर्द), **लाठी** (सहारा), **भार** (ज़िम्मेदारी), **निमग्न** (मूलतः डूबा हुआ, अब व्यस्त), **गधा** (मूर्ख), **पूँछ** (उपाधि), **आँख दिखाना, माथा ठनकना, कंगाल** (<कंकाल, ढाँचा), एवं छायावादी कविता में **अन्धकार** (निराशा), **पतझड़** (दुःख), **जुगनू** (बुद्धि, चेतना), **पतवार** (साहस), **रश्मि** (ज्ञान), **शलभ** (सांसारिक मोह), **समुद्र** (आत्मा) ।

अंगांगी-अन्तरण—अर्थात् पूर्ण से अंश का अर्थ और अंश से पूर्ण का अर्थ, जैसे **बाजार मंदा है** (=गेहूँ या सोना मंदे भाव में बिकता है); **मकान** खुला है (=द्वार खुले हैं); अथवा **जलपान** (जलपान और मिष्टान्न आदि का भोजन); **रोटी बनाना** (=रोटी, तरकारी आदि बनाना) ; **फाटक** (=काँजी हाउस)।

कार्य-कारण-अन्तरण—**आँखों में धूल डालना** (धोखा देना), **मिट्टी में मिलाना** (नष्ट करना), **खाक डालना** (छिपाना); **गाल पिचकना** (कमज़ोर होना), **गर्दन हिलाना** (इन्क़ार करना)। मुहावरों और काव्य-भाषा में जो व्यंग्यार्थ है, उसी का यह एक भेद है ।

आधार-आधेय-अन्तरण—सभा (सभा का भवन), **थाली परोसना** (थाली में भोजन परोसना); **कुआँ सूख गया** (उसमें का जल सूख गया) ।

स्थान और उपज के अन्तरण--**सिरोही** (राजस्थान में एक स्थान की), तलवार; **कश्मीरा** (सब से पहले कश्मीर में बना), ऊनी कपड़ा; **बिदर** (दक्षिण में एक स्थान), बर्तन; **कालीन** (आरमीनिया में एक स्थान), गलीचा; एवं **पंचवटी** (पाँच वट वृक्ष), नासिक के समीप एक स्थान; इत्यादि।

प्रायः व्याकरण की एक कोटि के शब्द दूसरी कोटि में प्रयुक्त होते हैं तो इससे उनके अर्थों में परिवर्तन आ जाता है।

'खाना' क्रिया से **खाना** संज्ञा = भोजन;

'पालना' क्रिया से **पालना** संज्ञा = खटोला या झूला;

'ओढ़ना' क्रिया से **ओढ़ना** संज्ञा = ओढ़ने का वस्त्र।

इसी प्रकार तुलना कीजिए--**दौड़** (क्रिया, संज्ञा), **देख-भाल** (क्रिया, संज्ञा), **मार-पीट** (क्रिया, संज्ञा), **समझ** (क्रिया, संज्ञा); **दृश्य** (विशेषण, संज्ञा), **प्रतीत** (विशेषण, संज्ञा), **श्रेय** (विशेषण, संज्ञा), **मैं** (सर्वनाम, संज्ञा), **तू-तू** (सर्वनाम, संज्ञा), **भीतर** (क्रियाविशेषण, संज्ञा); **हाय-हाय** (विस्मयादिबोधक, संज्ञा); **अपने राम** (संज्ञा, सर्वनाम)।

तुलना कीजिए--**बरस बीत गये, बरसों बीत गये; पिता बालक देता है, पिता बालक को देता है।**

७.५. एकसाथ नाना प्रक्रियाएँ

कभी-कभी अर्थ के विकास में अनेक प्रक्रियाओं का हाथ रहता है। जिस प्रकार सूर्य से अनेक किरणें फूटती हैं, उसी प्रकार एक शब्दार्थ-सम्बन्ध से नाना अर्थ विकसित होते हैं, जैसे **कपाल** (खोपड़ी) के अर्थ माथा, भाग्य, भिक्षापात्र, टुकड़ा, वेदी आदि निकले। ये सब एक ही अर्थ की अनेक शाखाएँ (किरणें) हैं--
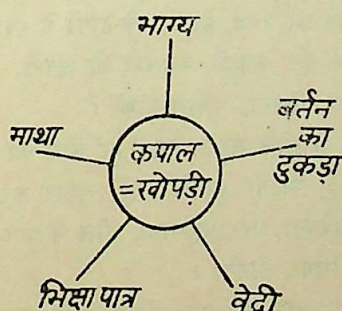
अर्थ-परिवर्तन में कभी-कभी एक शृंखला-सी बन जाती है। एक अर्थ से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा विकसित होकर क्रमशः अपने मूल से हटता

जाता है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि शब्द के मूल अर्थ और अंतिम विकसित अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं जान पड़ता। जैसे—

देवर—सं० द्विवर या दूसरा पति, मृत पति का भाई, पति का भाई, पति का छोटा भाई।

शकुन—पक्षी, शुभ पक्षी, शुभ लक्षण, लक्षण।

यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार चलती है—
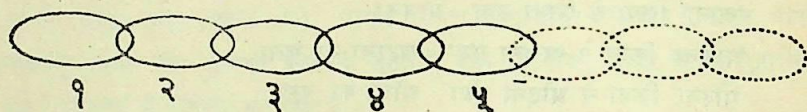
भाषा के विकास में ऐसा भी हुआ है कि एक अर्थ से विकिरण और फिर उन अर्थों में से किसी एक से शृंखला और फिर एक में से विकिरण बनती चलती है। शृंखला और विकिरण दोनों का क्रम कुछ इस प्रकार से होता है—
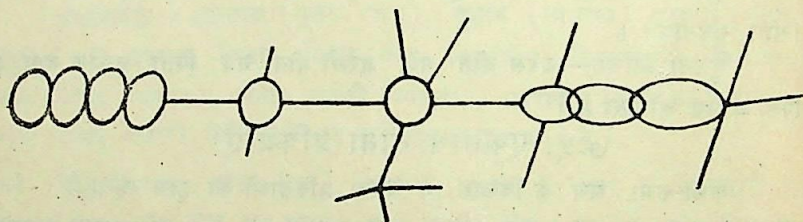
निम्नलिखित शब्दों के अर्थों पर इस दृष्टि से विचार कीजिए—

अंक—चिह्न, संख्या का चिह्न, संख्या, कलंक, पाप, डिठौन, वक्र रेखा, मोड़ हुक, एक भूषण, नाटक का एक खंड, नकली लड़ाई, गोद, बग़ल, स्थान।

अड्डा—इकट्ठा होने की जगह, डेरा, इक्के-टाँगों के रुकने का स्थान, केन्द्र-स्थान, पिंजरे में चिड़िया के बैठने की लकड़ी, कबूतरों की छतरी, जुलाहे का करघा, छीपी का गद्दा, जाली काढ़ने का चौखटा, पुलिस-चौकी।

उतारना—ऊपर मे नीचे लाना, पहनी हुई चीज़ को अलग करना, दूर करना, निकालना (मलाई आदि), घटाना (साँचे पर), तैयार करना, पका लेना, खींचना, नक़ल करना, (ऋण) चुकाना, पार पहुँचाना, तौल में पूरा करना, ठहराना, न्योछावर करना, (आरती) घुमाना, तोड़ना।

घर—मकान, परिवार, घर का सामान, वंश, जन्म-भूमि, स्थान, डिब्बा या घोंगा, खाना, चौखटा, अड्डा, ग्रह-स्थिति, दाँव, मर्यादा।

गौड़—वंग देश का उत्तरी भाग, उक्त देश का निवासी, उक्त देश का ब्राह्मण, ब्राह्मणों की जाति, राजपूतों की एक जाति, कायस्थों की एक जाति, एक राग।

खुला—जो बन्द न हो, जो बंधा न हो, जो रुका न हो, जो सँकरा न हो, जो ढका न हो, जो गुप्त न हो, जो चिपका न हो।

तिलक—बिंदी, अभिषेक, सगाई, माथे का गहना, श्रेष्ठ, व्याख्या, एक पेड़, एक प्रकार का घोड़ा, तिल्ली, साँचर नमक।

संक्षेप

मूल में भले ही एक शब्द का एक ही अर्थ रहा होगा, किन्तु क्रमशः एक से अनेक अर्थ हो गये हैं। अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थापकर्ष, अर्थोत्कर्ष, मूर्तीकरण अमूर्तीकरण, अंगांगी-अंतरण, कार्य-कारण-अंतरण, आधार-आधेय-अन्तरण, आदि प्रक्रियाओं द्वारा प्रायः शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। कुछ शब्दों के नाना अर्थ अनेक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बने हैं

८. व्याकरणिक विकास

भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास में जब हम रूप-परिवर्तन का अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है कि प्राचीन से अर्वाचीन तक आते-आते सब कुछ ही बदल गया है—आधुनिक भाषाओं ने मानो अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं के व्याकरण से कुछ ग्रहण ही नहीं किया, सब कुछ त्याग दिया है; और जो कुछ है वह नया ही नया है; किन्तु वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जायगा कि वस्तु-स्थिति नितान्त ऐसी नहीं है।

८.१. वचन

वैदिक और संस्कृत के तीन वचनों के स्थान पर पाली में ही दो वचन रह गये थे—एकवचन और बहुवचन। वास्तव में वैदिक भाषा में भी द्विवचन की जगह बहुवचन मिलता है, जैसे सुरथा मित्रावरुणा, नरा आदि में; यहाँ तक कि द्वौ (द्विवचन) के स्थान पर द्वा (बहुवचन) रूप प्राप्त होता है। इससे जान पड़ता है कि लोक में द्विवचन का व्यवहार विकल्प रूप से चल रहा था। किन्तु, संस्कृत के वैयाकरणों ने नियमितता, एकरूपता और शास्त्रीयता के नाते द्विवचन के प्रयोग को अनिवार्य माना। उनका यह आग्रह साहित्यिक भाषा में तो माना गया, किन्तु बोल-चाल की (व्यावहारिक) भाषा में धीरे-धीरे द्विवचन का नितान्त लोप हो गया। तभी तो जनभाषा होने के नाते पालि में उसका प्रयोग नहीं हुआ। तब से जनभाषाओं में दो ही वचन रहे हैं और साहित्यिक भाषा में भी संस्कृत का अनुकरण नहीं किया गया, क्योंकि प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी क्रमशः जनभाषा ही से उठ कर साहित्यिक भाषाएँ बनी हैं।

प्राचीन और मध्यकालीन आर्यभाषा में प्रत्येक संज्ञा और विशेषण का अनेक-वचनीय रूप बदल जाता था और शब्द के अंतिम वर्ण के अनुसार भिन्न होता था। हिन्दी ने इस प्रक्रिया को बहुत ही सरल कर दिया है। पुंल्लिग आकारान्त संज्ञा के **-आ** का -ए करके बहुवचन बनाया जाता है। ऐसी संज्ञा के साथ कारक-चिह्न लगाने से पहले जो विकृत या तिर्यक् -ए बनता है, उसकी जगह (तिर्यक्) बहुवचन में **-ओं** लगता है। शेष पुंल्लिग संज्ञाओं के मूल बहुवचन अथवा तिर्यक् एकवचन में कोई परिवर्तन नहीं होता, तिर्यक् बहुवचन में **-ओं** ही जुड़ता है। स्त्रीलिंग शब्दों में इ-ईकारान्त के अन्त में **-आँ** जोड़कर मूल बहुवचन तथा **-ओं** जोड़कर तिर्यक् बहुवचन

बनाया जाता है। इससे पहले -ई का ह्रस्व हो जाना हो और य-श्रुति का आना, जैसे भाइयों और लड़कियों में, एक अलग प्रक्रिया है। -इया वाली स्त्रीलिंग संज्ञाओं के -आ का क्रमशः -आँ और -ओं हो जाता है और शेष स्त्रीलिंग नामों के अन्त में -एँ -ओं जुड़ते हैं। उदाहरण--

	पुंल्लिग		स्त्रीलिंग	
	आकारान्त	अन्य	इ-ईकारान्त-इया	अन्य
मूल एकव.	लड़का	पत्थर, मुनि, हिन्दू	गति, लड़की, चिड़िया	बात, माला, बहू
मूल बहुव.	लड़के	पत्थर, मुनि, हिन्दू	गतियाँ, लड़कियाँ, चिड़ियाँ	बातें, मालाएँ, बहुएँ
तिर्यक् एकव.	लड़के	पत्थर, मुनि, हिन्दू	गति, लड़की, चिड़िया	बात, माला, बहू
तिर्यक् बहुव.	लड़कों	पत्थरों, मुनियों, हिन्दुओं	गतियों, लड़कियों, चिड़ियों	बातों, मालाओं बहुओं

संस्कृत के आकारान्त पुंल्लिग शब्द — राजा, पिता, जामाता, नेता आदि तथा सम्बन्धवाचक दादा, नाना, काका आदि, मूल बहुवचन और तिर्यक् एकवचन में अपरिवर्तित रहते हैं। तिर्यक् बहुवचन में -ओं जुड़ता है।

विशेषणों के सम्बन्ध में देखिए अगला पृष्ठ।

व्युत्पत्ति—ऊपर मूलरूप एकवचन म पत्थर आर बात व्यजनांत है, लड़का और माला आकारान्त, मुनि और गति इकारान्त, चिड़िया—इया में, लड़की ईकारान्त, हिन्दू और बहू ऊकारान्त हैं। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

१. व्यंजनान्त — विसर्ग-लोप से, जैसे देवः > देव ; अन्त्य व्यंजन-लोप से, जैसे फलम् > फल।

२. आकारान्त—अकः > अअ > आ (पुं)
　　　आ > आ (स्त्री०)

३. इकारान्त केवल तत्सम संस्कृत शब्द।

४. उकारान्त केवल संस्कृत शब्द, जैसे प्रभु, सिन्धु।

५. इया < सं० —इका।

६. ईकारान्त — सं० —ई या —इका से।

७. ऊ < सं० — उकः, —ऊकः (पुं०)
　　< सं० — ऊ (स्त्री०)

तिर्यक् एकवचन में बहुधा शून्य लगता है जो सं० —म् के लोप से प्राप्त हुआ है। आकारान्त पं० का तिर्यक रूप — ए होता है जो सभी परसर्गों से पहले प्रयुक्त होता

है । यह सं० के करण कारकीय—**ए,—एन** अथवा अथवा सम्प्रदान—**आय,—ए** से व्युत्पन्न हुआ है । अधिकरण एकवचन में भी—**ए** था, जैसे बालके (बालक में) ।—**स्य** (जैसे रामस्य) से **हे** और **ए** की संभावना कम है । केलॉग ने ही यह सुझाव दिया है । उन्होंने—**स्मिन्** (जैसे तस्मिन्) से हिं>**अहि, अइ>ए** स्वीकार किया है । किन्तु, यह भी बहुत ठीक नहीं है ।

बहुवचन—**ए** के विषय में हार्नले और केलॉग का विचार है कि तिर्यक् एकवचन—**ए** ही कालान्तर में बहुवचन में प्रयुक्त होने लग गया । चटर्जी ने करण कारकीय—**एभिः** से **एहि>एइ>ए** स्वीकार किया है । करण कारक में—**ए** प्रत्यय था, उससे भी इसे व्युत्पन्न माना जा सकता है । सं० सर्वनामों के बहुवचन में भी—**ए** था (जैसे **सर्वे, ते, एते** में) । सम्प्रदान के—**एभ्यः** (जैसे बालकेभ्यः), करण बहुव० के—**ऐ** (जैसे बालकैः), अधिकरण के—**एषु** (जैसे देवेषु) से भी—**ए** के विकसित होने की संभावना है ।

स्त्रीलिंग बहुवचन—**आँ** और—**एं** की व्युत्पत्ति सं० **आनि** (प्रा० **आइँ**) से सर्वमान्य **है—आइँ से आँ भी, एँ भी ।**

बहुवचन—**ओं** संस्कृत—**आनाम्** (प्रा० —**आँआँव**) से व्युत्पन्न हुआ है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

८.२. लिंग

तीन लिंगों की स्थिति संस्कृत में भी बहुत महत्वपूर्ण नहीं रही । नपुंसक लिंग के रूप केवल कर्ता और कर्म कारक में पुंल्लिंग से भिन्न थे । अन्य कारकों में पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग के रूपों में भेद नहीं था । कर्ता और कर्म के रूप भी एक समान थे—फलम्, फले, फलानि कर्ता में भी और कर्म में भी । प्राकृत ने अच्छा ही किया कि कर्ता-कर्म के एकवचन और बहुवचन के रूप को भी पुंल्लिंग रूपों के अनुरूप कर दिया । तब से उत्तरी अपभ्रंशों और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में नपुंसकलिंग का व्यवहार उठ गया । वास्तव में वैदिक में ही नपुंसक के स्थान पर पुंल्लिंग रूप व्यवहृत हुए मिल जाते हैं, जैसे नामानि, विश्वानि के स्थान पर नामा, विश्वा । हो सकता है कि लोगों में ऐसे प्रयोग तब से बढ़ते रहे हैं । वहीं से प्राकृत और आधुनिक भाषाओं ने भी मात्र दो लिंगों के रूप ग्रहण किये हैं ।

यदि प्राकृत ने सभी नपुंसकलिंग रूपों को पुंल्लिंग रूप दे दिया था तो हिन्दी में यह गड़बड़ कहाँ से आयी कि **सड़क** स्त्रीलिंग, **रास्ता** पुंल्लिंग; **ग्रंथ** पुंल्लिंग, **पुस्तक** स्त्रीलिंग; **नदी** स्त्रीलिंग, **नाला** पुंल्लिंग; **फूल** पुंल्लिंग, **कली** स्त्रीलिंग; **कान** पुंल्लिंग, **आँख** स्त्रीलिंग; **नाव** स्त्रीलिंग, **जहाज** पुंल्लिंग; **पानी** पुंल्लिंग, **छाछ** स्त्रीलिंग; इत्यादि । इस तरह की अनिश्चितता संस्कृत में भी थी—**नगर** नपुंसकलिंग, ग्राम

पुल्लिग; जलमुच् पुल्लिग, वाच् स्त्रीलिंग; स्त्री स्त्रीलिंग, दारा पुल्लिंग, कलत्र नपुंसकलिंग (तीनों का अर्थ एक ही है); द्वार नपुंसकलिंग, भार पुल्लिंग; मति स्त्री-लिंग, वारि नपुंसकलिंग है। स्तन पुल्लिंग है, तनु स्त्रीलिंग और ललाट नपुंसकलिंग, मधु नपुंसकलिंग, तन्तु पुल्लिंग। यही अनिश्चितता और अनियमितता क्रमशः बढ़ती गयी। इस प्रक्रिया का विकास कई कारणों से हुआ है। हिन्दी में कुछ का लिंग-निर्णय प्रत्यय अथवा अंत्य ध्वनि से होता है—**पानी, मोती, दही** आदि चार-पाँच शब्दों को छोड़ कर शेष ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग हैं, जैसे **लाठी, नदी, गली, कली, बोली, खिचड़ी** आदि; **-आहट -वट** प्रत्यय से युक्त शब्द स्त्रीलिंग हैं, जैसे **घबराहट, आहट, मिलावट, बनावट,** आदि।

कुछ शब्दों का लिंग-निर्णय रूप से नहीं, अर्थ से होता है, जैसे **बुद्धि, मति** संस्कृत में ही स्त्रीलिंग थे तो **अक्ल, सूझ, समझ** भी स्त्रीलिंग हैं; **भार** पुल्लिंग था तो **बोझ** भी पुल्लिंग है; **पुस्तक** स्त्रीलिंग है एवं **किताब** भी स्त्रीलिंग है। शायद ऐसे शब्दों के लिंग-निर्णय में अरबी-फ़ारसी का प्रभाव रहा है, और हम यों भी कह सकते हैं कि अरबी में **किताब** स्त्रीलिंग है, इसलिए **पुस्तक** भी स्त्रीलिंग हो गया। **शरारत, आफ़त,** आदि अरबी से ही स्त्रीलिंग, और **क़त्ल** अरबी से ही पुल्लिंग है, भले ही सं० **हत्या** शब्द स्त्रीलिंग है। **दिन** प्राकृत-काल से पुल्लिंग और **रात्रि** (प्रा० रात्ति, हिं० रात) संस्कृत से स्त्रीलिंग चला आ रहा है। इस तरह के अनेक कारणों से हिन्दी में लिंग-निर्णय-सम्बन्धी रूप-वैविध्य हो गया है।

पुल्लिंग से स्त्रीलिंग रूप बनाने के नियमों में आदि काल से अब तक बहुत ही कम अन्तर आया है। संस्कृत के स्त्री-प्रत्यय थे **-आ, -ई, -नी, -आनी**, जैसे **बाला, पाठिका, दासी, मानिनी, इन्द्राणी** में। हिन्दी में -ई (जिसका एक बोलीगत रूप **-इया** < -इका है),**-नी,-आनी,-इन**<-इनी हैं, जैसे **बकरी, बुढ़िया, रीछनी, नौकरानी, लुहारिन** में। चार प्रत्ययों में तीन वही हैं जो संस्कृत में थे। संस्कृत का **-आ** प्रत्यय स्वीकार नहीं किया जा सका, क्योंकि हिन्दी में -आ प्रत्यय पुल्लिग के लिए विकसित हो गया था। कुछ विद्वानों ने—इन को भी सं० —आनी से व्युत्पन्न माना है—आनी > प्रा० —आणी > णी > इण > इन।

अन्य उदाहरण :

—ई से पुत्री, सुन्दरी, बेटी, घोड़ी, नानी, चाची, कुमारी।

—इया से कुतिया, बिटिया, चुहिया, गुड़िया, पुड़िया।

—इन से सुनारिन, चमारिन, भिखारिन, पुजारिन, धोबिन, नागिन।

—नी से ऊँटनी, मोरनी, शेरनी, मज़दूरनी, जादूगरनी।

—आनी से मेहतरानी, सेठानी, पंडितानी, देवरानी, चौधरानी।

—अ+इन से ललाइन, पंडिताइन, ठकुराइन।

संस्कृत में संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम तथा कृदन्त में लिंगभेद होता है। हिन्दी में, जैसा कि ऊपर बताया गया है, लिंग-निर्णय कठिन है। विशेषण, विशेषणीय परसर्ग (का की, रा री), क्रियाविशेषण (आकारान्त से ईकारान्त) और कृदन्ती क्रिया (आकारान्त से ईकारान्त) का लिंगभेद सरल है।

८.३. विशेषण

विशेषण के रूपों में अत्यन्त सरलता आ गयी है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में विशेषण अपने विशेष्य के लिंग-वचन-कारक के अनुरूप रहता था। हिन्दी में केवल आकारान्त पुंल्लिग विशेषण पदों का रूप थोड़ा बदलता है—पुंल्लिग बहुवचन में एकारान्त और स्त्रीलिंग एकवचन तथा बहुवचन दोनों में एक समान ईकारान्त, यथा **अच्छा लड़का, अच्छे लड़के, अच्छी लड़की, अच्छी लड़कियाँ**; किन्तु कटु वचन, कटु आलोचना, कटु आलोचनाएँ अथवा सुन्दर लड़का/लड़के/लड़की/लड़कियां। पुंल्लिग में तिर्यक् रूप एकवचन-बहुवचन एकारान्त ही रहता है, उसके साथ परसर्ग भी नहीं लगता, केवल विशेष्य के तिर्यक् रूप के बाद परसर्ग जुड़ता है, जैसे **अच्छे लड़के से, अच्छे लड़कों को**। विशेषण का स्त्रीलिंग तिर्यक् रूप भी अपरिवर्तित ईकारान्त रहता है, यथा **अच्छी लड़की ने, अच्छी लड़कियों ने**। आकारान्त से भिन्न विशेषण-पदों के लिंग-वचन-कारक में कोई विकार नहीं होता।

संख्यावाचक विशेषणों में केवल ध्वनि-परिवर्तन विचारणीय है—**एक, दो** (द्वौ), **तीन** (त्रीणि), **चार** (चत्वारि), **पाँच** (पंच), **छः** (षट्), **सात** (सप्त), **आठ** (अष्ट), **नौ** (नव), **दस** (दश) आदि। क्रमवाची संख्याओं में से **पहला** (प्रथम+इल्ल), **दूसरा, तीसरा** (द्वि, त्रि+सरट्), **चौथा** (चतुर्थ) और बाद में सब का प्रत्यय **-वाँ** संस्कृत के **-मः** का विस्तार और व्यापक प्रयोग है।

विशेषण की अवस्थाओं के जो **-ईयस, -इष्ठ,** तथा **-तर -तम** प्रत्यय थे, वे भी हिन्दी में नहीं रहे। इनके बिना ही **से, में, की अपेक्षा** आदि सादे शब्दों से काम चलने लगा।

८.४. विभक्ति-रूप

इसमें भी अधिक परिवर्तन संज्ञा के कारक-रूपों में हुआ। यह परिवर्तन इसलिए भी अधिक दिखायी देता है कि संज्ञापदों का प्रयोग भाषा में अधिक होता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में आठ विभक्तियाँ थीं, भले ही वैदिक में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाता है, जिसका अर्थ इतना ही है कि लोक में विभक्तियों को कम करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। साहित्यिक भाषा में आठ विभक्तियों में शब्दों के रूपान्तर किये जाते थे। प्राकृत तक आते-आते चौथी और पाँचवीं विभक्ति लुप्तप्राय हो गयी। चौथी का काम दूसरी या

छठी से और पाँचवीं का तीसरी या सातवीं से लिया जाता था। अपभ्रंश में पहली, दूसरी और चौथी विभक्ति का भी लोप हो गया, जैसे गय कुम्भह (=हाथियों के गण्ड-स्थलों को) में। यह सब कुछ साहित्यिक भाषा तक में हो गया। जनभाषा में कारकों के संक्षेपण की प्रक्रिया और आगे बढ़ गयी थी, और इसके प्रमाण पाणिनि-काल के बाद के कुछ निम्नलिखित प्रयोगों से प्राप्त होते हैं। तस्मिन् के स्थान पर तस्य मध्ये अथवा तन्मध्ये, तस्मै के अतिरिक्त तस्य कृते अथवा तत्कृते अथवा तस्य कार्ये, तम् के स्थान पर तस्य कक्षे, तस्मिन् के स्थान पर तस्य प्रति, तस्य के बदले तस्य कार्यक्रम् इत्यादि। लगता है कि यह परिवर्तन अनार्य प्रभाव से हुआ। द्रविड़ादि भाषाएँ विभक्त्यात्मक नहीं हैं। उन में परसर्गों का प्रयोग होता है। संस्कृत के निम्न-लिखित पदों से हिन्दी के परसर्गों का विकास माना जाता है, किन्तु इससे पूरा सन्तोष नहीं होता।

१. स० एन > एण > (विपर्यय द्वारा) ने। हो सकता है कि एन पूर्वतः नेन हो। केलॉग ने लग्य > लग्गिओ > हिं० लगि, लै, ले, ने दिया है। नेपाली में ले विद्यमान है। बीम्स ने इसे ले से व्युत्पन्न माना है। ग्रियर्सन ने सं०—तन (जैसे पुरातन) से माना है जो ठीक नहीं जँचता। चटर्जी कर्णे से कण्णे, कन्ने > ने मानते हैं। विद्वानों का विचार है कि 'ने' १६वीं शती से पश्चिमी हिन्दी में प्रयुक्त होने लगा था।

२. ट्रम्प के अनुसार सं० कृतः से **कितो > किओ > को**। हार्नले, बीम्स, चटर्जी के अनुसार **कक्षं > कक्ख > काहं > कहं, कहुँ > कौं, को**।

द्रविड़ **कु** भी विचारणीय है।

३. **समं > सों > से** (बीम्स)।
संगे > संघे > से (केलॉग)
समहि > सअइ > से (चटर्जी)
समेन > सएँ > सें > से

हार्नले **संतो** से **से** बताते हैं, किन्तु इससे बाँगरू, कनौजी, राजस्थानी **सेती, संती** आदि का विकास माना जा सकता है।

४. सं० **कार्यम् > कार, केर > का** (वेबर, पिशल आदि)।
कृतः > केरआ > केरा > का (केलॉग)।
अथवा **कृतः < कवः < कअ < क**। (चटर्जी)।
कृतकः > केरकः > केरा > का (बीम्स)।

५. सं० मध्ये > मज्झे > मज्झि > माझ, माँहि > मैं, में।

६. सं० परे > पर (हार्नले)।
उपरि > परि > पर (केलॉग)

७. सं० प्रति > पइ > पै।

इन्हीं के सादृश्य से अन्य परसर्गों का विकास हुआ और भाषा योगात्मक से अयोगात्मक होती गयी। अपभ्रंश में ही सम्बन्ध कारक के लिए **केर, केरक** ; अधिकरण के लिए **माँझ, उप्परि** ; कर्म और सम्प्रदान के लिए **केहि, कहुं** ; करण और अपादान के लिए **सहुं, सो, सजो** आदि परसर्ग मिलने लगते हैं। कर्तृ कारक से **तणेन** और **तणउं** प्राप्त होते हैं जिनसे हिन्दी **ने** और पंजाबी **नुँ** की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है।

लिए लेना (क्रिया) का परसर्गीय प्रयोग है। **लग** से **लगे** और **लागे, लाइ, लगि** बोलियों में प्रयुक्त होते हैं।

परसर्ग की तरह ही **के** के बाद **आगे**<सं० अग्रे, **पीछे**<सं० पश्चात्, **नीचे**<सं० नीचैः, **ऊपर**,<सं० उपरि, **सामने**<सं० सम्मुखे, **साथ**<सं० सार्थ, **भीतर**<सं० अभ्यन्तर, **बाहिर**<सं० बहिर् आदि प्रयुक्त होते हैं।

हिन्दी अभी संज्ञा-पदों की दृष्टि से पूर्णतया आयोगात्मक नहीं हो पायी। **हाथों** (हस्ततः), **घोड़े** (घोटकेभिः), **घरां** (गृहाणाम्), **घरे** (गृहके), **घोड़न** (घोटकानाम्) आदि विभक्तियुक्त रूप छुटपुट शब्दों में बच गये हैं।

संस्कृत में न केवल आठ विभक्तियों और उनके तीन लिंगों और तीन वचनों में रूप-वैविध्य था, अपितु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, प्रातिपदिकों में अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, एकारान्त और हलन्त आदि भेद से रूपभेद हो जाते थे। इनमें भी यत्र-तत्र बड़ी जटिलताएँ थी, जैसे हरि और पति दोनों इकारान्त पुंल्लिग शब्द हैं, किन्तु करण कारक में हरि से हरिणा और पति से पत्या बनता है। वैदिक भाषा में किन्हीं रूपों के कुछ विकल्प भी मिल जाते हैं, जैसे वीर्येण, वीर्या; देवाः, देवासः; देवैः, देवेभिः; भगवस्, भगवन्; अक्षन्, अक्षणि; पथाः, पंथानः; स्वप्नया, स्वप्नेन; नावया, नावा; इत्यादि। इनके कारण जटिलता कुछ और अधिक थी। संस्कृत ने वैदिक विकल्पों में से एक को आदर्श और सिद्ध माना। यहीं से सरलीकरण की प्रवृत्ति चलती है। पालि में सप्तमी में स्मि, म्हि (<स्मिन्), षष्ठी में स्स (<स्य), और पंचमी में स्मा, म्हा (<स्मात्) सभी तरह के प्रातिपदिकों के रूपान्तर में प्रयुक्त होने लगे। प्राकृत तक आते-आते हलन्त प्रातिपदिक तो समाप्त ही हो गये, पुंल्लिग अजन्त प्रातिपदिकों के रूप भी अकारान्त के समान होने लगे, जैसे देवस्स, मुनिस्स, साधुस्स, पितुस्स। वास्तव में बाहु, मनस्, युवन्, जगत् आदि शब्द ही अकारान्त बाह, मन, जुव्वाण, जग हो गये। इस तरह पुंल्लिग शब्दों के रूपान्तर में एकरूपता आ गयी। स्त्रीलिंग अजन्त शब्द पहले तो आकारान्त और ईकारान्त हुए, तत्पश्चात् अन्त्य -आ का लोप हो जाने से प्रायः ऐसे शब्द पुंल्लिग अकारान्त की तरह रूपान्तरित होने लगे। किन्तु, वर्तमान हिन्दी में पुंल्लिग प्रातिपदिकों का रूपान्तर दो कोटियों में और स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों का भी दो कोटियों में

बँट गया है। देखिए पीछे पृ० १००।

८.५. सर्वनाम

सर्वनामों के विकास की दिशाएँ भी प्रायः वही हैं—वचन दो रह गए, एक वचन और बहुवचन। पहले नपुंसलिंग का लोप हुआ और बाद में स्त्रीलिंग का भी लोप हो गया। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में तो प्राचीन आर्य भाषा में भी लिंग-भेद नहीं था, किन्तु हिन्दी में अन्य पुरुष में भी भेद नहीं रहा, यह हिन्दी की अपनी विशेषता है। कारकीय रूपों में भी छँटाई अवश्य हुई है, किन्तु उतनी नहीं जितनी कि विशेषणों और संज्ञाओं में। हिन्दी में सर्वनामों की स्थिति और इनकी व्युत्पत्ति नीचे स्पष्ट की जा रही है—

उत्तम पुरुष—एकवचन मैं(ने), विकृत या तिर्यक् मुझ(को, से, में), सम्प्र० मुझे, सम्बन्ध मेरा;

व्युत्पत्ति—सं० अहम् > प्रा० अम्ह > मैं (का० प्र० गुरु) संभव नहीं है। ब्रज का हौं इससे व्युत्पन्न हो सकता है। सं० मया > प्रा० मइ > अप० मइं > मैं (बीम्स, केलॉग, चटर्जी)। चटर्जी—एँ की अनुनासिकता को करण कारकीय -एन के प्रभाव से मानते हैं, किन्तु यह तो पूर्ववर्ती म के प्रभाव से है।

हार्नले इसे मदीय से ग्रहण करते हैं, किन्तु यह नहीं हो सकता। शेष विद्वान् मह्यम् से व्युत्पन्न मानते हैं। प्रा० मज्झं > अप० मज्झ > हिं० मुझ। म में 'उ' तुझ के सादृश्य से आया है। मुझे का 'ए' लड़के/घोड़े के -ए के सादृश्य में नहीं है, क्योंकि मुझे का अर्थ है 'मुझको'। यह -ए सम्प्रदान कारकीय सं० -ए से आया है (जैसे आत्मने गुरवे में)।

सं० मम + अप० केरा से ममेरा > मेरा की व्युत्पत्ति सिद्ध है। स्टीवेन्सन ने मैं + द्रविड़ रे की और बॉप ने मदीय की कल्पना की थी, किन्तु ये मत मान्य नहीं हैं।

वैदिक अस्मे (सं० अस्मत्) से प्रा० अप० अम्हे > अम्ह > हम। कामता प्रसाद गुरु के अनुसार अहम् से अम्ह और उससे हम बना।

हमें का 'ए' मुझे के सादृश्य से और अनुनासिकता म के कारण है। यह भी संभव है कि अस्मासि: का वैकल्पिक रूप अस्मै (तस्मै, कस्मै की तरह) रहा हो, उससे प्रा० अम्हइं > हमें बना। अस्म केरा से अम्ह अरआ और फिर हमारा से मेरा के सादृश्य में विकसित हुआ है।

मध्यम पुरुष—एकवचन तू(ने), विकृत तुझ(को, से, में), सम्प्र० तुझे, सम्बन्ध तेरा;

—बहु० तुम, तिर्यक या विकृत तुम; सम्प्र० तुम्हें, सम्बन्ध तम्हारा।

व्युत्पत्ति—मया से मैं की तरह त्वया > तुलया > तू संभव तो है, किन्तु त्वं > तुवं > तूं, तू अधिक स्पष्ट है।

वैदिक तुह्य से तुज्झ > तुझ स्पष्ट है। पिशेल और तेसितोरी इसे युष्मं से व्युत्पन्न करके मुझ के सादृश्य से झ की कल्पना करते हैं।

तुझे का –ए मुझे के –ए के समान है। तवकेरा > तोरा और तेरा सिद्ध होते हैं।

तुम को भी कुछ लोगों ने त्वम् से व्युत्पन्न माना था। पिशेल के कहने पर विद्वानों ने स्वीकार किया है कि इसकी व्युत्पत्ति युष्मे के समानान्तर तुष्मे से कल्पित की जा सकती है। प्रा० तुम्हे > तुम्ह > तुम बना।

तुम्हें के –एँ के लिए देखिए ऊपर 'हमें'। तुष्मे से तुम्हे पालि-काल से चला आ रहा था। हिन्दी में म के कारण अनुनासिकता आ गयी।

तुम्हारा 'हमारा' के सादृश्य में बना है। तुम्ह करको > तुम्ह अरओ > तुम्हारो, तुम्हारा।

आदरसूचक आप < अप० अप्प < अशोककालीन पालि अत्पा < आत्मा। द्रविड़ में एक मूल शब्द 'अप्प' है जो माँ, बाप, भाई, बहन के लिए आदरार्थ प्रयुक्त होता है। इससे भी 'आप' का विकास संभव है।

अन्य पुरुष (संकेतवाची) एकव० वह, तिर्यक् उस (ने, को, से, का, में),

सम्प्र० उसे

—बहुव० वे, तिर्यक् उन, सम्प्र० उन्हें

—एकव० यह, तिर्यक् इस; सम्प्र० इसे

—बहुव० ये, तिर्यक् इन; सम्प्र० इन्हें

सम्बन्धवाची—जो, तिर्यक् जिस; बहुव० जो, तिर्यक् जिन; सम्प्र० जिसे, जिन्हें।

नित्यसम्बन्धी—सो, " तिस; " सो, " तिन, सम्प्र० तिन्हें।

प्रश्नवाची—कौन, " किस; " कौन, " किन, सम्प्र० किसे, किन्हें।

*व्युत्पत्ति – सः > सो > वुह (कामता प्रसाद गुरु)।

सः > सो > ओस (विपर्यय) > ओह > वोह (किशोरीदास वाजपेयी)।

अदस् > प्रा० अह > अप० ओइ > ओ, वोह (श्यामसुन्दर दास)।

स्व > ओ > ओह, वोह (ट्रम्प)।

ओषः (एषः के समान) कल्पित करके केलॉग इसे ओह से संबद्ध करते हैं। भण्डारकर इसे असौ > असो > अहो > ओह से व्युत्पन्न मानते हैं।

एष: > प्रा० **एसो** > **एहु** > **एह** > **यह** सिद्ध है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

कौन को श्यामसुन्दर दास अप० **कवण** < सं० **क:** से व्युत्पन्न मानते हैं। किन्तु **कवण** सं० **क: पुन:** से आया है। परवर्ती अपभ्रंश में **कउंण** मिलता ही है।

क्या को कामताप्रसाद गुरु सं० **किम्**, अप० **काइँ** से, प्लाट्स सं० **कीदृश:** > प्रा० **केद्दसो** > केहो , किहा से मानते हैं।

य: > **यो** > **जो** निर्विवाद है। इसी प्रकार **स:** > **सो** भी निश्चित है।

सं० **कोऽपि** > पा० > **कोपि** > प्रा० **कोवि** > अप० **कोइ**, हिं० **कोई** स्पष्ट है।

बीम्स ने **कच्चित्** की कल्पना करके **कछु** और चटर्जी ने **कश्चित्** से **किच्छ**, **किच्छु** और फिर कछु, कुछ को व्युत्पन्न किया है।

बहुवचन सं० **एते** से प्रा० **एँ** > **ये** और इसी के सादृश्य से।

तिर्यक् **उस** को सं० **अमुष्य** > प्रा० **अउस्स** से सम्बद्ध किया गया है। उसी के अनुरूप **अस्य** या **एतस्य** > प्रा० **एअस्य** से **इस** ; सं० **कस्य** से **किस** ; **यस्य** से **जिस** ; **तस्य** से **तिस** की व्युत्पत्ति मानी गयी है। इस किस, जिस, तिस की –इ– सादृश्य के नियमानुसार बनी है।

तिर्यक् बहुवचन **उन** में **न** बड़ा विवादास्पद है। **अमूनि** या **अमून्** से भी **उन** को व्युत्पन्न माना जा सकता है। **आनाम्** से **न** की व्युत्पत्ति भी सिद्ध की जाती है।

एकवचन उसे, इसे, जिसे, किसे का -**ए** और बहुवचन उन्हें, इन्हें, जिन्हें, किन्हें का -**एँ** उसी तरह से है, जैसे **मुझे** का **ए** और **हमें** का **एं**।

ने के साथ बहुवचन के उन्हों, इन्हों, किन्हों, जिन्हों का प्रयोग होता है। यह **ओं** वही है जो संज्ञा का तिर्यक् बहुवचन- **ओं**। इसे भी सं० **आनाम्** > प्रा० **आणाँ** से व्युत्पन्न माना गया है।

अपना को पिशेल **आत्मनक:** > **अप्पणअअ** से, प्लाट्स **आत्मानं** से, और हम **आत्मन:** > **अप्पणो**, **अप्पण** से ग्रहण करते हैं।

आपस का -**स** उसी तरह आया है जिस तरह इस, उस, जिस, किस का **स**।

८.६. समास

वैदिक में समास कम थे। जो समासयुक्त शब्द थे भी, वे प्राय: दो शब्दों से बने थे। संस्कृत में समासों की भरमार हो गयी। किन्तु; प्राकृत से पुन: समास इतने घटने लगे कि आज हिन्दी में इने-गिने रूढ़ समास पाये जाते हैं। हिन्दी व्यासप्रधान भाषा है। [देखिए पृ० १४४-१४५ भी]

८.७. क्रियापद

क्रियापदों के रूपान्तर में बड़ी जटिलता थी। सब क्रियापद विकरण की भिन्नता के अनुसार दस गणों में विभाजित थे और प्रत्येक गण की धातु के रूप दूसरे गण की धातुओं से भिन्न थे।

१. भ्वादि गण—अ विकरण— भू + अ + ति, भवति
२. अदादि गण—विकरणरहित— अद् + ति, अत्ति
३. जुहोत्यादि गण—विकरणरहित पर धातु में आवृत्ति—हु + ति, जुहोति
४. दिवादि गण—य विकरण— दिव् + य + ति, दीव्यति
५. स्वादि गण—नु विकरण— सु + नु ति, सुनोति
६. तुदादि गण—स्वराघातयुक्त अ— तुद् + अ + ति, तुदति
७. रुधादि गण—बीच में न— रुध् से रु + ण + ध + ति, रुणद्धि
८. तनादि गण—उ विकरण— तन् + उ + ति, तनोति
९. क्र्यादि गण—बीच में ना— क्री + ना + ति, क्रीणाति
१०. चुरादि गण—अय विकरण— चुर् + अय + ति, चोरयति।

इनमें प्रधानता भ्वादि गण की थी। गणपाठों में संकलित १९६० धातुओं में से १०५९ धातुएँ भ्वादि गण की थीं, ३१५ चुरादि गण की। चुरादि गण में अय का ध्वन्यात्मक विकास जिस दिशा में हुआ उससे इस गण और प्रथम गण के रूपान्तर समान हो गये। तुदादि गण (१४३ धातु) और प्रथम गण में कोई विशेष अन्तर था ही नहीं; पालि में ही तुदादि गण और भ्वादि गण की धातुएँ अभिन्न हो गयीं और अदादि गण की ७२ धातुएँ भी भ्वादि गण के समान हो गयीं। पंचम और नवम गण एक-से हो गये। शेष जुहोत्यादि, रुधादि और तनादि गणों में कुल ६० धातुएँ रह गयीं। सादृश्य के आधार पर ये भी भ्वादि गणीय धातुओं की तरह रूपान्तरित होने लगीं। प्राकृत तक आते-आते गणों का एकदम अभाव हो गया। इसी से हिन्दी में इतनी सरलता पायी जाती है।

यहाँ पर प्रसंगवश यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि शब्दकोशों की सब की सब १९६० धातुएँ भाषा में प्रयुक्त नहीं होती थीं। इनमें से केवल ८०० वैदिक और संस्कृत दोनों साहित्यों में और ६०० से कुछ ऊपर केवल संस्कृत साहित्य में प्राप्त हैं। अर्थात्, २०० धातुएँ संस्कृत-काल में प्रचलित न रह सकीं। पाली और प्राकृत से हिन्दी तक आते-आते इनकी संख्या और भी कम हो गयी है। हिन्दी में दो-ढाई सौ तद्भव धातुएँ हैं। बहुत-सी धातुएँ देशी भाषाओं से आयी हैं; जैसे **रोकना**, **लड़ना**,

भिड़ना, लेना, लेटना, पीटना, मुड़ना, फेंकना, मरोड़ना, फैलना, मुरझाना, सड़ना, सूजना, झिटाना, इत्यादि। कुछ अनुकरणात्मक धातुएँ गढ़ी भी गयीं हैं, जैसे **कड़-कड़ाना, खटखटाना, गुनगुनाना, घुर्राना, चिलचिलाना, छलछलना, तलमलाना, फड़-फड़ाना, बिलबिलाना, फूकना, तड़पना, मचलना, रगड़ना, सटकना, खटकना, मटकना, फटकना, भटकना**, इत्यादि। नामधातुएँ भी अनेक हैं, जैसे **अपनाना, अलगाना, बताना, लतियाना, हथियाना**। बोलियों में इनकी संख्या कुछ अधिक है। साहित्यिक हिन्दी में संस्कृत संज्ञा अथवा कृदन्त के साथ करना या होना लगाकर क्रिया बना लेने की प्रवृत्ति व्यापक होती जा रही है, जैसे **स्वीकार करना, खण्डित करना, प्रवृत्त होना, ग्रहण करना, भ्रांत होना, विकासमान होना**। दो-दो तीन-तीन धातुओं के योग से क्रियाओं की अर्थवत्ता का विकास किया गया है, जैसे **आ जाना, कर देना, खा चुकना, ले आना, दे बैठना, लेट पड़ना**। सकर्मक और प्रेरणार्थक धातुएँ बनाकर के भी हिन्दी ने अपने कोश की संवृद्धि की है, जैसे **छूटना से छोड़ना, छुड़ाना, छुड़वाना; मरना से मारना, मरवाना**। इस प्रकार हिन्दी में प्राचीन संस्कृत की अपेक्षा धातुओं की संख्या बहुत अधिक हो गयी है। हमने स्वयं जो धातुकोश तैयार किया है, उसमें इनकी संख्या ३६०० के लगभग है। इनमें ३३% से अधिक मूल धातुएँ है, शेष यौगिक हैं। मूल धातुओं में ६-७% तद्भव हैं, ८-१०% कोशगत धातुओं के तद्भव रूप हैं, और शेष तत्सम हैं।

८.७.१. काल-रचना—द्वितीय प्रकरण में हमने देखा कि प्रयोगों, लकारों, पुरुषों और वचनों के रूपभेद के कारण संस्कृत में काल-रचना बड़ी कठिन और जटिल थी। पालि और प्राकृतों ने इसे बहुत कुछ सरल किया, किन्तु हिन्दी के विकास से पहले क्रियाएँ प्रायः संयोगात्मक ही बनी रहीं। एक-एक धातु के रूपों की संख्या निम्न-लिखित थी—

	प्रयोग		लकार		पुरुष		वचन		रूप
संस्कृत	६	×	१०	×	३	×	३	=	५४०
पालि	५	×	८	×	३	×	२	=	२४०
प्राकृत	६	×	२	×	३	×	२	=	७२

रूप कम हो जाने के कारण हिन्दी को वियोगात्मक ढंग से अपनी काल-रचना का विकास करना पड़ा। इसके लिए कृदन्त रूपों और 'अस्ति-भवति' (होना) सहा-यक क्रिया की सहायता ली गयी। वर्तमान हिन्दी में काल-रचना का आधार नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा—
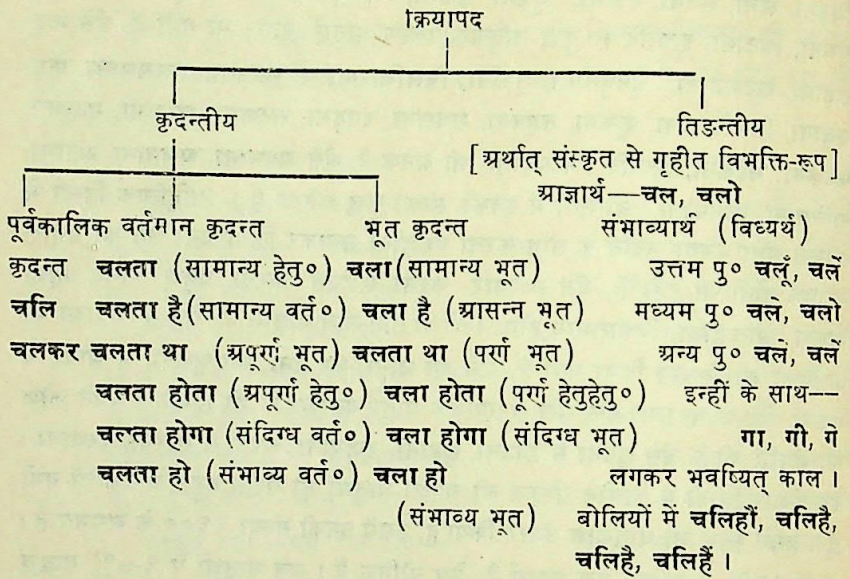
इनके अतिरिक्त धातु के साथ 'रहा है' जोड़ने से तात्कालिक वर्तमान, और 'रहा था' जोड़ने से अपूर्ण भूत का रूप सिद्ध होता है; जैसे, चल रहा है, चल रहा हूँ; चल रहा था, चल रहे थे, आदि।

कृदन्त (वर्तमान और भूत) एक प्रकार के विशेषण हैं। आकारान्त होने के कारण ये लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं। हिन्दी की क्रियाओं में लिंग-भेद हो जाने का यह प्रमुख कारण है।

८.७.१.१. **कृदन्तों का विकास**—संस्कृत की सूत्र-शैली में वाक्य की संरचना नाम और विशेषण के योग से सम्पन्न होने लगी थी। क्रिया की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। भाषा में क्रियाओं का भी विशेषण (कृदन्त) रूप अधिक प्रयुक्त होने लगा, और यह एक सामान्य शैली बन गयी। महाभाष्यकार ने देखा कि 'कृदन्तरुचयः उदीच्याः'। क्रियापदों की जटिलता ने भी इस पद्धति को प्रोत्साहित किया। अश्वमारुक्षत् के स्थान पर अश्वमारूढः, सोऽवोचत् की जगह उक्तं तेन, मालामग्रथ्नात् की जगह मालां ग्रथितवान् अधिक सरल हो गया। इसमें पुरुष-भेद से रूपभेद करने की आवश्यकता भी नहीं रह गयी। लगता है कि कृदन्तों का क्रियापदीय प्रयोग द्रविड़-प्रभाव के कारण भी प्रोत्साहित हुआ। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में और प्राकृत की अपेक्षा हिन्दी में यह प्रयोग अधिक व्यापक होता गया। कृदन्तों से निम्नलिखित क्रिया-रूप विकसित हुए—

(क) भूतकृदन्तीय **-तः** प्रत्यय से हि० भूतकाल, जैसे गतः से **गया**, उपविष्टः से **बैठा**, कृतः से **किया**। इनके सादृश्य पर अन्य शब्दों के रूप सिद्ध होते गये—**पाया, खाया, सोचा, मिला, बुलाया** इत्यादि ।

(ख) भूतकृदन्तीय **-इत** प्रत्यय हिन्दी बोलियों में पूर्वकालिक कृदन्त या असमापिका क्रिया, जैसे चलित से **चलि**, खादित से **खाइ**, मिलित से **मिलि**। इनके सादृश्य पर **करि, जानि, जाइ** आदि सब रूप बनते गये। खड़ीबोली हिन्दी में यह रूप भी लुप्त हो गया। इसकी जगह धातु के बाद 'कर' प्रयुक्त होने लगा।

(ग) वर्तमानकृदन्तीय **-अन्त** से हिन्दी सम्भाव्य वर्तमान क्रिया, जैसे भवन्त से **होत, होता**; जानन्त से **जानत, जानता**; इत्यादि ।

(घ) पूर्वी हिन्दी के भूतकालिक **दीन, लीन** आदि रूप भूतकृदन्तीय **-न** (जैसे **मग्न, रुग्ण, भिन्न**) से बने हैं।

(क) और (ग) वर्ग के कृदन्तीय रूपों के साथ सहायक क्रिया— **है, था, होगा,** आदि—लगाकर अनेक काल-रूप सिद्ध होते हैं, जैसे—**किया, है, करता है; किया था, करता था; किया होता, करता होता, किया होगा, करता होगा**। भविष्यत् प्रत्यय **-गा** का विकास गतः से हुआ है—यह घटना बहुत पुरानी नहीं है।

८.७.१.२. **सहायक क्रिया**—हिन्दी में सहायक क्रिया का बड़ा महत्त्व है। इसके बिना काल-रचना का पूरा विस्तार सम्भव नहीं है। इसलिए इस प्रसंग में इसके भिन्न-भिन्न रूपान्तरों पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। ये रूपान्तर नीचे दिये जा रहे हैं—

	वर्तमान	भूत	भविष्यत्	विध्यर्थ	भूत संभावनार्थ
उत्तम पु०	**हूँ, हैं**	**था, थे**	**हूँगा, होंगे**	होऊँ, हों	**होता, होते**
मध्यम पु०	**है, हो**	**था, थे**	**होगा, होगे**	**हो, होओ**	**होता, होते**
अन्य पु०	**है, हैं**	**था, थे**	**होगा, होंगे**	**हो, होंगे**	**होता, होते**

इनमें **था, थे; होता, होते; -गा, गे** कृदन्तीय हैं, अतः इनके स्त्रीलिंग रूप **थी, थीं; होती, होतीं; गी, गी** होंगे।

क्रिया के साथ सहायक रूप में, किन्तु स्थिति के परिचायक स्वतंत्र रूप में इनका प्रयोग होता है, जैसे **मैं अच्छा हूँ, वह अस्वस्थ था, तुम कहाँ हो, तू होता तो क्या कर लेता, वे चिरायु हों।**।

सहायक क्रियाओं की व्युत्पत्ति **अस्, भू** और **स्था** धातुओं के रूपों से हुई है।

आस्मि > आम्हि > हू अथवा भवामि > होऊँ, हूँ,,

अस्ति > अत्थि > (अथवा असति >) अहइ > अहै, है;

भवति > होइ > हो, होवे;

स्थित > थिअ > था अथवा सन्त, असन्त > अहन्त, हन्तो, हतो, थो, था। **भवन्त** से **होता**, **भूत** से **हुआ**, आदि स्पष्ट हैं।

८.७.१.३. **तिङन्त रूप**—यहाँ काल-रचना की उस प्रणाली की व्याख्या कर देनी चाहिए जो प्रचीन लकार-रूपों से हिन्दी ने ग्रहण की है—

(क) वर्तमानकालिक रूपों से वर्तमान इच्छार्थक, जैसे चलामि से **चलूं**, चलसि से चले, चलति से **चले**, चलामः से **चलें**, चलथ से **चलो**, चलन्ति से **चलें**।

ग्रियर्सन ने विध्यर्थक **चल**, **चलो**; **चले**, **चलें**; **चलूं**, **चलें** को भी इन्हीं से व्युत्पन्न माना है। **चल**, **पढ़**, **लिख** आदि को प्राचीन आर्यभाषा के **चल**, **पठ**, **लिख** ही से सिद्ध करना होगा। इसी तरह चलानि से **चलें**, और चलतु से चलो की सिद्धि स्पष्ट है।

हिन्दी विध्यर्थक रूप के साथ कृदन्तीय **-गा** जोड़ने से भविष्यत् काल के रूप बनते हैं—**जाऊँगा**, **जायेंगे**; **जायेगा**, **जाओगे**; **जाओगी** आदि। **-गा** < गतः, कृदन्तीय है, इसलिए बहुव० **-गे**, स्त्री० **-गी**, रूप भी बनते हैं।

(ख) प्राचीन आर्यभाषा के भविष्यत्कालीन रूप व्रजभाषा और कुछ अन्य बोलियों में विद्यमान हैं—चलिष्यामि से **चलसों**, **चलिहों**; चलिष्यामः से **चलसों**, **चलिहों**; चलिष्यसि से **चलसी**, **चलिहै**; चलष्यथ से **चलसो**, **चलिहौ**; चलिष्यति से **चलसी**, **चलिहै**; चलष्यन्ति से **चलसें**, **चलिहैं**।

[बँगला, असमी और उड़िया में अनार्य प्रभाव के कारण कृदन्तों में लिंग-भेद नहीं पाया जाता, इसलिए कि वे आकारान्त नहीं रहे।]

८.७.२. **कर्मवाच्य**—प्राचीन आर्यभाषा के कर्मवाच्य रूप—क्रियते, दीयते आदि—से अपभ्रंश में -इज्जइ प्रत्यय का विकास हुआ। उसी से मारवाड़ी **पढ़ीजे**, **मरीजे** आदि बने। हिन्दी में **कीजिए**, **लीजिए**, **दीजिए**, **चाहिए** आदि रूप तो विद्यमान हैं, किन्तु कर्मवाच्य रूप विश्लेषणात्मक ढंग से **जाना** धातु के क्रियारूप जोड़ कर बनाये जाते हैं, जैसे **पढ़ा जाता है**, **लिखी जाती थी**, **सोचा गया** इत्यादि।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, हिन्दी का कर्तरि प्रयोग **मैंने पुस्तक पढ़ी** प्राचीन कर्मणि प्रयोग 'मया पुस्तकम् पठितम्' से परिवर्तित होकर बना है। भावे प्रयोग में अलग रूप नहीं हैं। **मुझसे खाया नहीं जाता** अर्थ में भले ही भावे प्रयोग के अनुरूप हो, किन्तु इसका रूप वही है जो कर्मणि प्रयोग का।

८.७.३. **सकर्मक और प्रेरणार्थक** क्रियाएँ बनाने की विधि संस्कृत के स्फुटति से स्फोटयति, करोति से कारयति, आदि के गुण या दीर्घ रूप से, एवं तिष्ठति से स्थापयति, जानाति से ज्ञापयति के -'**आय**'- > **आव/आ** से विकसित हुई है। गुण किन्हीं शब्दों में पहले अक्षर का होता है, किन्हीं में दूसरे अक्षर का और किन्हीं में दोनों का। उदाहरण—

पहले अक्षर का दीर्घ या गुण (अकर्मक से सकर्मक)—**तरना, ढलना, मरना, बँधना, बँटना, टलना, कटना, गड़ना, हरना, मुड़ना, तुलना, रुकना, घुटना, चिरना, सिंचना, फिरना, घिरना, सिकना,** से क्रमशः **तारना, ढालना, मारना, बाँधना, बाँटना, टालना, काटना, गाड़ना, हारना, मोड़ना, तोलना, रोकना, घोटना, चीरना, सींचना, फेरना, घेरना, सेंकना।**

दूसरे अक्षर का दीर्घ या गुण (सकर्मक या प्रेरणार्थक)—**तरना, डरना, हटना, घटना, सँवरना, सुनना, जगना, गिरना, मिलना, भिड़ना, खिलना, हिलना, घिसना, छिदना, सूखना,** से क्रमशः **तराना, डराना, हटाना, घटाना, सँवारना, सुनाना, जगाना, गिराना, मिलाना, भिड़ाना, खिलाना, हिलाना, घिसाना, छिदाना, सुखाना।**

छूटना, फूटना, फटना, जुटना, आदि का ट सकर्मक में ड़ हो जाता है— **छोड़ना, फोड़ना, फाड़ना, जोड़ना।**

द्वितीय प्रेरणार्थक रूप अन्त्य अक्षर में **-वा** के योग से बनता है, जैसे **भिड़वाना, गिरवाना, छिदवाना, सुखवाना, सिलवाना, भुलवाना, पढ़वाना, रुकवाना, ढलवाना** में।

जब दूसरे अक्षर में प्रेरणार्थक **-आ** या **-वा** जुड़ता है तो पहला अक्षर बलहीन हो जाने के कारण ह्रस्व हो जाता है, जैसे **भूलना, फूलना, नाचना, हारना, रीझना, सीखना, बीतना** से **भुलाना, भुलवाना, फुलाना, फुलवाना, नचाना, नचवाना, हराना, हरवाना, रिझाना, रिझवाना, सिखाना, सिखवाना, बिताना।**

८.७.४. **संयुक्त क्रिया**—यद्यपि संस्कृत में एधांबभूव, चालयांचकार आदि संयुक्त क्रियाएँ मिलती हैं, हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में इनका विकास स्वतन्त्र और नयी घटना है। संभव है इनके निर्माण में फ़ारसी और द्रविड़ का प्रभाव रहा हो।

हिन्दी संयुक्त क्रियाओं में दूसरी क्रिया की काल-रचना होती है और पहली क्रिया धातुरूप, कृदन्त रूप, संज्ञार्थक रूप, भूत कृदन्त रूप, अथवा इन अन्तिम दो के तिर्यक् रूप में रहती है। दूसरी क्रिया के संयोग से जब सारी क्रिया में अर्थवैशिष्ट्य

आ जाता है, तब शुद्ध रूप में संयुक्त क्रिया बनती है। अन्यथा, दूसरी क्रिया केवल सहायक क्रिया का काम देती है। उदाहरण—

१. **उठ बैठना, कर चुका, समझ लिया, बोल पड़ेगा, चढ़ गया, चल सकता है, देख पाया, मार बैठूँगा।**

२. **पढ़ता रहा, लिखता जाता है, चलता रहता है।**

३. **जाना चाहता है, लेना चाहिये, करना होगा, बोलना पड़ेगा।**

४. **चला जाता है, मरा चाहता है, देखा करें, गिरा पड़ा था।**

५. **जाने लगा, खाने दिया, हटने न पाया, मरने दीजिये।**

६. **छोड़े जाता था, पढ़े लेता हूँ, सिये देता है, किये डालता था।**

दो से अधिक क्रियाओं के योग भी मिलते हैं, जैसे **कर लेना चाहता है, करना पड़ रहा है, उठा ले जा सकता है, समझा जाने लगता है,** इत्यादि।

८.८. क्रियाविशेषण

क्रियाविशेषणों के प्राचीन आर्यभाषा में दो भेद थे—अविकारी और विकारी। अविकारी क्रियाविशेषण **अतः, अन्यथा, यथा, तथा, द्विधा, बहुधा, प्रायः, पुनः, वृथा, वस्तुतः, शतशः सहस्रशः, सर्वत्र, अन्यत्र, सदा, सर्वदा, यदि,** आदि शताब्दियों से चल रहे हैं। इनको हम उस कोटि में रखते हैं जिसमें तत्सम शब्दों को। साहित्यिक हिन्दी में इनका अधिक व्यवहार होता है। हिन्दी के जो अविकारी क्रियाविशेषण हैं वे भी शब्द मात्र हैं; उनमें कोई विकार न होने के कारण, वे ऐतिहासिक व्याकरण का विषय भी नहीं हैं। इनमें **आज, कल, परसों, नरसों, अबेर सबेर, यहाँ, वहाँ, आगे, पीछे, सामने, भीतर, अब, कब, कैसे,** आदि के लिए देखिये पृ० १८६ इत्यादि।

यौगिक क्रियाविशेषण—**घड़ी-घड़ी, हाथों-हाथ, ठीक-ठीक, जब-कभी, कभी-न-कभी, एक-एक करके,** आदि—रचना की दृष्टि से स्पष्ट हैं।

यह, वह, जो, कौन से कुछ सादृश्य के नियमानुसार और कुछ संस्कृत के रूप से प्रेरित सार्वनामिक क्रियाविशेषणों का विकास हुआ है।

सर्वनाम	**यह**	**वह**	**जो**	**सो, तो**	**कौन**	संस्कृत
कालवाची क्रि० वि०	**अब**		**जब**	**तब**	**कब**	यदा, कदा से प्रेरित
स्थानवाची क्रि० वि०	**यहाँ**	**वहाँ**	**जहाँ**	**तहाँ**	**कहाँ**	यत्र, तत्र से प्रेरित
दिशावाची क्रि० वि०	**इधर**	**उधर**	**जिधर**	**तिधर**	**किधर**	< धट, प्रा० धड
रीतिवाची क्रि० वि०	**यों**		**ज्यों**	**त्यों**	**क्यों**	एवम् से प्रेरित
	ऐसे	**वैसे**	**जैसे**	**तैसे**	**कैसे**	यादृश, तादृश से प्रेरित

परिमाणवाची क्रि० वि० **इतना उतना जितना तितना कितना** इयत से प्रेरित।

विकारी क्रियाविशेषण संज्ञा में कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारकीय चिह्न लगाकर प्रयुक्त किये जाते थे। इनमें करण और अपादान कारक वाले **सहसा, मनसा, वाचा, विशेषतया, प्रायेण, प्रकारेण, अकस्मात्, साक्षात्, पश्चात्** आदि हिन्दी ने तत्सम रूप में ग्रहण कर रखे हैं। इनके अनुवाद स्वरूप **से** के योग की अधिक व्यापक प्रथा प्रचलित है, जैसे **फ़ुर्ती से, आराम से, सावधानी से** इत्यादि। **सायं** की तरह के एक-आध शब्द को छोड़कर कर्मकारक का रूप नहीं अपनाया गया। सम्प्रदान कारकीय रूप भी नहीं चला। अधिकरण कारकीय **में** के योग से कुछ क्रियाविशेषण बनते हैं, जैसे **सहज में, वास्तव में, आपस में,** इत्यादि।

८.९. अन्य अव्यय

और, भी, ही, आदि शब्द मात्र हैं। इनकी व्युत्पत्ति के लिए देखिए 'तद्भव व्युत्पत्ति कोश' (पृ० १८६ इत्यादि)। **कि, लेकिन, अगर मगर,** आदि कुछ अव्यय फ़ारसी से आये हैं।

८.१०. वाक्य-योजन

संस्कृत की विभक्त्यात्मकता के कारण वाक्य में पदक्रम का कोई नियम नहीं था। रामेण सर्पः हतः, सर्पः रामेण हतः, हतः सर्पः रामेण, हतः रामेण सर्पः में पद-क्रम के परिवर्तन से अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। हिन्दी में बैल साँप लाया और साँप बैल लाया में बहुत अन्तर है, अतः हिन्दी में नियमतः पहले कर्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया, एवं विशेष्य से पहले विशेषण और क्रिया से पहले क्रियाविशेषण रखा जाता है। विभक्तियों के लोप के कारण अपभ्रंश-काल में ही यह आवश्यक हो गया था। हिन्दी में तब से कारकीय परसर्गों का विकास हो जाने के कारण कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता अवश्य है। बल देने के लिए हम पदक्रम बदल भी सकते हैं—**राम ने बैल पाला, बैल राम ने पाला,** अथवा **पाला राम ने बैल** (जैसा कि कविता में प्रायः होता ही है)। किन्तु, साधारण कथन में पदक्रम अवश्य रूढ़ हो गया है।

संक्षेप

संस्कृत व्याकरण बहुत जटिल था। संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण तीनों के तीन-तीन लिंग, तीन-तीन वचन और आठ-आठ कारक थे। हिन्दी में संज्ञा के दो लिंग, दो वचन और दो कारकीय रूप (साधारण और तिर्यक्) रह गये। अनेक विभक्तियों का स्थान परसर्गों ने ले लिया जो

स्वतन्त्र शब्दों से विकसित हुए हैं। विशेषणों में जो आकारान्त हैं, वे लिंग-वचन में संज्ञा के अनुरूप होते हैं। संख्यावाची विशेषणों का विकास संस्कृत प्राकृत से हुआ है। किन्तु, यह प्रश्न ध्वनि-विकास से सम्बद्ध है, व्याकरण से नहीं। हिन्दी के सर्वनामों के रूप बहुत सरल हैं, यद्यपि कर्मकारक में -ए (मुझे, उसे, हमें आदि) अभी विभक्त्यात्मक ही है। हिन्दी के सर्वनामों में लिंगभेद नहीं है। सम्बन्धकारकीय रूप वस्तुतः विशेषण हैं, इसलिए उनमें लिंगभेद होता ही है। अनेक सर्वनामों की व्युत्पत्ति अभी तक अनिश्चित है; जैसे मैं, हम, तुम, उसे, किस, क्या आदि की व्युत्पत्ति संदिग्ध ही है। क्रियाओं के रूप अति सरल हो गये हैं। तिङन्तीय रूप योगात्मक हैं और संस्कृत आदि रूपों से विकसित हुए हैं। कृदन्तीय रूप अयोगात्मक हैं। हिन्दी की संयुक्त क्रियाएँ समृद्ध हैं। अव्यय प्रायः संस्कृत से आये हैं, फ़ारसी से थोड़े-से अव्यय लिये गये हैं।

९. प्रकरण ५ और ८ का परिशिष्ट

संक्षिप्त तद्भव व्युत्पत्ति-कोश

इस सूची में ध्वनि-विकास की स्थितियों का निर्देश किया गया है, हिन्दी शब्द के बाद क्रमशः संस्कृत, पालि, प्राकृत, और हिन्दी के परिवर्तन दिये गये हैं। जहाँ अपभ्रंश का रूप देना आवश्यक समझा गया है, वहाँ हिन्दी के (;) चिह्न से पहले अप० देकर उसे सुझाया गया हैं। × चिह्न का अर्थ है कि इस स्थिति में आकर कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस सूची में रचनात्मक प्रत्यय नहीं हैं; किन्तु व्याकरणात्मक प्रत्यय, व्याकरणिक रूप, सर्वनाम, क्रियाविशेषण आदि दिये गये हैं। संज्ञा शब्द सबसे अधिक हैं।

संस्कृत के बाद पालि या प्राकृत का शब्द देखकर पाठक समझ सकेंगे कि क्या परिवर्तन हुआ, जैसे देखिये अंगुष्ठ; अंगुट्ठ; × ; अँगूठा में सं० ष्ठ का पालि में **ट्ठ** स्पष्ट है। प्राकृत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हिन्दी में द्वित्व के स्थान पर एक **ठ** रह गया, इसके कारण गु का गू (क्षतिपूरक दीर्घीकरण) हो गया। -आ पुंल्लिगवाची है। -आ पुंल्लिग सं० -अकः से है। दीर्घ०=दीर्घीकरण। हिन्दी में जो-जो प्रक्रियाएँ होती हैं, उन सब का संकेत पूर्वकालिक स्थिति के संदर्भ में किया गया है।

(?) चिह्न का अर्थ है कि रूप विचित्र या संदिग्ध है।

हिन्दी में प्रायः दीर्घ स्वर के ह्रस्व हो जाने अथवा स्वर के लुप्त हो जाने के कारण बलाघातहीनता है। इसे समझ लिया जाय। य-व-श्रुति का कहीं संकेत न किया गया हो तो रूप से उसे जान लेना होगा। कभी लिखाई के कारण **य-व** आ जाते हैं या हटा दिये जाते हैं, जैसे पूप से **पूआ** या पूवा, कच्छवा या **कच्छुआ**। सक्तु से सत्तू बनने में ऊ दीर्घ भी हिन्दी वर्तनी के कारण है, क्योंकि हम हिन्दी तद्भव शब्द के अन्त में उ ह्रस्व नहीं लिखते।

अँगरखा — अङ्गरक्षक; अंगरक्खकः; अंगरक्खअ, हिं० -ख-, -अअ > आ।

अँगीठी — अग्निष्ठिका; अग्गिट्ठिका; अग्गिट्ठिआ; हिं० ग, गी दीर्घ०, ठ, इआ > ई; अनुनासिकता।

अँगूठा — अंगुष्ठ; अंगुट्ठ; × ; हिं० ठ, गू दीर्घ०, -आ पुं०।

अँगूठी	अङ्गुष्ठिका; अंगुट्ठिका; अंगुट्ठिआ; हिं० ठ, गू दीर्घ०, इआ>ई।
अँगोछा	अंगप्रौंछा; अंगपोंछ; अंगवोंछ, अंगोछ; हिं० -आ पुंल्लिग।
अँधेरा	अंधकार; ×; अंधआर; हिं० अ आ>ए, -आ पुंल्लिग।
अखरोट	अक्षोट; अक्खोट; अक्खोड; हिं० ख, र आगम।
अखाड़ा	अक्षवाट; अक्खवाट; ×; हिं०, ख, व लोप, ट>ड़, -आ पुं०।
अगहन	अग्रहायन; अग्गाहेन; अग्गाहण; हिं० ग, ण>न।
अटारी	अट्टालिका; ×; अट्टालिआ; हिं० र, इआ>ई।
अचम्भा	आश्चर्य स्तम्भ; अच्छज्ज थम्भ; × ; हिं० संकोचन, अल्पप्राणीकरण, -आ पुं०।
अचरज	आश्चर्य; अच्छरज (स्वरभक्ति); × ; हिं० अल्पप्राणीकरण।
अट्ठाईस	अष्टाविंशति; अट्ठाविंसति; अट्ठाविसइ; व लोप, ई दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप।
अठारह	अष्टादश; अट्ठारस; अट्ठारस; हिं० ठ, स>ह।
अढ़तालीस	अष्टचत्वारिंशत्; अट्ठचत्तारिंस; अट्ठअत्तारीस; हिं० ठ>ढ़, र>ल।
अढ़ाई	अर्धतृतीय; अड्ढततीय; अड्ढअईय; हिं० ढ>ढ़>अअ>आ, ईय>ई — दे० 'ढाई' भी।
अधूरा	अर्धपूरक; अद्धपूरक; अद्धवूरअ; हिं० ध, वू>ऊ; अअ>आ।
अनाज	अन्नाद्य; अन्नाज्ज; ×; हिं० न, ज, आद्य स्वर-लोप से नाज भी।
अनूठा	अनुत्थ; अनुट्ठ; ×; हिं० नू दीर्घ०, -आ पुं०।
अपना	आत्मनः; अप्पनो; अप्पण; हिं० प, -आ पुं०।
अपाहज	अपादहस्त; अपादहत्थ; [illegible]अहत्थ; हिं० त्थ>ज (?)
अब	दे० तब।
अमचूर	आम्रचूर्ण; अम्मचूरण; अम्मचूर; हिं० म।
अमी	अमृत; अमित; अमिअ; इअ>ई।
अलग	अलग्न; अलग्ग; ×; हिं० ग।
अलोना	अलवण; अलोण; ×; ण>न, -आ पुं०।
अहेर	आखेट; × ; आहेड; हिं० अ, ड>ड़>र।
-आँ	-आनि; × ; आइं; ; हिं० अन्त्य स्वर लोप।
आँख	अक्षि; अक्खि; × ; अन्त्य स्वर लोप, ख, आ- दीर्घ०, अनुनासिकता।
आँच	अर्चि; अच्चि; ×; अन्त्य स्वर लोप, च, -आ दीर्घ०, अनुनासिकता।
आँत	आंत्र; अंत्त; × त, आ- दीर्घ०।
आँव	आमा; ×; आँवा; अन्त्य स्वर लोप।
आँवला	आमलक; × ; आवँलअ; -अअ>आ।

आँसू अश्रु; अस्सु; × ; स, आ दीर्घ०, अनुनासिकता ।

-आ जैसे लड़का में अकः; × ; अअ > आ ।

-आ जैसे गया में -अतः (गतः) ; ^ ; अअ > आ ।

आग अग्नि; अग्गि; × ; ग, आ दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।

आगे अग्रे; अग्गे; × ; ग, आ दीर्घ० ।

आज अद्य; अज्ज; × ; ज, आ दीर्घ० ।

आठ अष्ट; अट्ठ; × ; ठ, आ दीर्घ० ।

आढ़त आढ्यत्व; अड्ढत्त; × ; ढ़, त, आ दीर्घ० ।

आधा अर्ध; अद्ध; × ; ध, आ दीर्घ०, -आ पुं० ।

-आनी स्त्रीप्रत्यय -आनी, जैसे सं० इन्द्राणी; हिं० मेहतरानी, पण्डितानी में ।

आप आत्मा; अप्पा; अप्प; प, आ- दीर्घ० ।

आम आम्र; अम्म; अम्म; म, आ- दीर्घ० ।

आरसी आदर्शिका; आदरसिका (स्वरभक्ति) ; आअरसिआ; आअ > आ, इआ > ई ।

-आलीस चत्वारिंशत्; दे० चालीस (मध्यग हो जाने के कारण च > अ) ।

-आवन पंचाशत्; प्रा० -आपण, -आवण; जैसे प्रा० एक्कावण्ण, पचावण ।

आवाँ आपाक; × ; आवाअ; आअ > आ, अनुनासिकता ।

आस आशा; आसा; × ; अन्त्य स्वर लोप ।

आसरा आश्रय; आसरय (स्वरभक्ति) ; आसरअ; अअ > आ ।

-इए -इयते जैसे दियते, क्रियते; हिं० जाइए । इसी से दीजिए आदि ।

इकट्ठा एकत्र / एकस्थ; एकट्ठ; × ; ए > इ, -आ पुं० ।

इक्यावन एकपंचाशत्; अति अनियमित; प्रा० एक्कावण्ण; इ, क, न, य-श्रुति ।

इतना इयत; एत्त; × ; इ, + ना, दे० कितना ।

इतवार आदित्यवार; आदित्तवार; आइत्तवार; आदि स्वर लोप, त ।

इधर दे० किधर ।

इमली अम्लिका; अमलिका; इमलिआ (समानीकरण) ; इआ > ई ।

-इन -इनी, जैसे केशिनी, कुमुदिनी में; अन्त्य स्वर लोप—चमारिन, धोबिन ।

इस एतस्य; एतस्स; एअस्स; संकोचन ।

-इनी -इनी; हि० -इन का दूसरा और पुराना रूप ।

-ईस हिं० बीस का संक्षिप्त और समासयुक्त रूप ।

ईंट इष्टका; इट्ठका; इट्ठा; ट, ई दीर्घ०, अनुनासिकता, अन्त्य स्वर लोप ।

इंधन इन्धन; इंधन; ×; ईंधन (मूलतः संयोग से पहले होने के कारण क्षतिपूरक दीर्घीकरण)

-ई -ई स्त्रीप्रत्यय, जैसे पुत्री में; हिं० लड़की में।

-ई -इक या -इका से -इअ या -इआ>ई, दे० मोती, इमली।

उंगली अङ्गुलि; अंगुलि; उंगलि (स्वर-विपर्यय)

उगना उद्गत; उग्गत; उग्गअ; ग, -ना (क्रियार्थक संज्ञा)।

उगलना उद्गलन; उग्गलन; ×; ग, -आ पुं०।

उघाड़ना उद्घाटन; उग्घाटन; उग्घाडन; घ, ड़, -आ पुं०!

उजला उज्ज्वल; उज्जल; ×; ज, -आ पुं०।

उठना उत्तिष्ठ/उत्स्था; उट्ठा; ×; ठ, -ना क्रियार्थक संज्ञा।

उतना देखिए कितना।

उधर देखिए किधर।

उन इन, जिन, किन, तिन के सादृश्य से। न>आनाम्।

उन्चास ऊनपंचाशत्; ऊनपंचास; उणवंचास; ण>न, संकोचन।

उन्तालीस ऊनचत्वारिंशत्; ऊनचत्तारिंस; उणअत्तालिस; संकोचन, ली।

उन्तीस ऊनत्रिंशत्; ऊनत्तिंस; उणत्तिस; ण>न, ती, निरनुनासिकता।

उन्नीस ऊनविंशति; ऊनविंस; उणविंस; ण>न, संकोचन, ई, निरनुनासिकता।

उन्हें उस से उन या उन्ह, -एँ के लिए देखें तुम्हें।

उपजना उत्पद्यते; उप्पज्जति; उप्पज्जइ; प, ज, -ना (क्रियार्थक संज्ञा)।

उबटन उद्वर्त्तन; लब्बट्टन; ×; ब, ट।

उबालना उद्वालन, उब्बालन; ×; ब, -आ पुं०।

उस अमुष्य; अमुस्स; अँउस्स; आदि स्वर लोप, स।

उसे दे० उस, -ए सम्प्रदान, जैसे संस्कृत गुरवे, आत्मने में।

-ऊँ करोमि के -ओमि से ओवँ>ऊँ। सब रूपों में इसका विस्तार—जाऊँ, खेलूं।

ऊँचा उच्च; ×; ×; ऊ दीर्घ०, च, अनुनासिकीकरण, -आ पुं०।

ऊँट उष्ट्र; उट्ठ; उट्ट; ट, ऊ दीर्घ०, अनुनासिकीकरण।

ऊख इक्षु; उक्ख (समानीकरण); ×; ख, ऊ दीर्घ०; अन्त्य स्वर लोप।

ऊखल उद्खल; उक्खल; ×; ख, ऊ दीर्घ०।

ऊन ऊर्णा; उण्णा ×; न, ऊ दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप।

-एँ पठन्ति के अन्ति से अप० अइँ>हिं० एँ, जैसे पढ़ें, लिखें।

-ए पठति के अति से प्रा० अइ>हिं० ए, जैसे पढ़े, लिखे,।

-ए सं० सम्प्रदान कारकीय -ए (जैसे आत्मने, गुरवे) से तिर्यक् एकव० लड़के।

-ए सं० सर्वनाम बहुव० ते, सर्वे से; हिं० बहुव० लड़के, अच्छे।

एक	एक; एक; एक्क; क।
एका	ऐक्य; एक्क; एक्क; क, -आ पुं०।
ऐसा	ईदृश; एदिश; एइस; एइ>ऐ, -आ पुं०।
-ओ	गच्छतु आदि के -अतु से अउ>हिं० ओ०: जैसे जाओ, करो।
ओखल	ऊखल का अन्य रूप।
ओझा	उपाध्याय; अवज्झाअ; ×; अव>ओ, झ, आअ>अ।
ओंठ	ओष्ठ; ओट्ठ; ×; ठ, अनुनासिकीकरण।
ओर	अवर (किनारा); ओर; ×; ×।
ओस	अवश्याय; ओस्सा; ×; स, अन्त्य स्वर लोप।
औंधा	अवमूर्ध; ओमुद्ध; ×; म>वँ, ओवँ> औं, ध, -आ पुं०।
और	अपर; अवर; अवर; अव>औ।
कंघी	कंकती; ×; कंकई; सघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अई>ई।
कंधा	स्कन्ध; कन्ध; ×; -आ पुं०।
कँवल	कमल; ×; कवँल; ×।
कई	कति; ×; कइ; वर्तनी।
कचहरी	कृत्यगृह; कच्च घर; कच्चहर; च, -ई स्त्री०।
कछुआ	कच्छप; ×; कच्छव; -आ पुं०, वा=उआ।
कटहरा	काष्ठगृह; कट्ठ घर; कट्ठहर; ट, -आ पुं०।
कड़ुआ	कटुक; × ; कडुअ; ड<ड़, -आ पुं०।
कपड़ा	कर्पट; कप्पट; कप्पड; प, ड़, -आ पुं०।
कपास	कार्पास; कप्पास; ×; प।
कपूत	कुपुत्र; कुपुत्त; ×; कपूत क्षतिपू० तथा बलाघात से पहले निर्बल उ का लोप।
कब	कदा+एव; प्रा० कआ एव्व; संकोचन से कब।
कल	कल्य; कल्ल; × ; ल (लिखाई में)।
कसेरा	कांस्यकार; कंस्सकार; कंस्सआर; अप० कस्सेर; -आ पुं०
कसौटी	कर्षपट्टिका; कस्सपट्टिका; कस्सवट्टिया; स, ट, अव>औ, इआ>ई।
कहाँ	कुत्र+स्मिन् या इहा; कोत्थहिं/हा; कोहहँ; संकोचन।
कहानी	कथानिका; × ; कहाणिआ; ण>न, इआ>ई।
का	कृत>कअ (?)>हिं० का, अथवा द्रविड़ से स्पष्टतः।
काट	कर्त्त; अशोक कट्ट; ×; ट, का- दीर्घ०।
काठ	काष्ठ; कट्ठ; × ठ, का- दीर्घ०।
काढ़ा	क्वाथ; काठ; काढ; ढ,>ढ़, -आ पुं०।

कान कर्ण; कण्ण; × ; ण>न, का- दीर्घ०।

कान्ह कृष्ण; कण्ह; × ; ण्>न्, का- दीर्घ०।

काम कर्म; कम्म; × ; म, -आ दीर्घ०।

कितना इतना, उतना, कितना और जितना < यह, ओह, को, जो+ना (?) [सादृश्य]।

किधर इधर, उधर, किधर और जिधर < यह (एह), ओह, को, जो+धर [सादृश्य]।

किन दे० उन।

किन्हीं किन+ही, अन्त्य अनुनासिकता न के कारण।

किवाड़ कपाट, × ; कवाड; कि, ड़।

किस कस्स; किस्स; × ; स।

किसी =किस+ही।

किसान कृषाण; किसाण; × ; ण>न।

कीड़ा कीटकः; कीटको; कीडआ; ड़, अआ>आ

कुंजी कुञ्चिका; कुंचिका; कुंजिआ; इआ>ई।

कुंवारा कुमारकः; × ; कुँवारआ; अआ>आ।

कुआँ कूप; × ; कूव; -आ पुं०, अनुनासिकीकरण।

कुछ कश्चित्; कच्छि; ?; किछ, किछु, कुछ।

कुम्हड़ा कूष्माण्ड; कुम्हंड; -ड़, -आ पुं०।

कुम्हार कुम्भकार; × ; कुम्हआर; अआ>आ।

कुल्हाड़ा कुठार; × ; कुढार; दोहरा विपर्यय, -आ पुं०।

कूची कूर्चिका; कुच्चिका; कुच्चिआ; च, कू- दीर्घ०, इआ>ई।

कूड़ा कूट; × ; कूड; ड़, -आ पुं०।

ककड़ा कर्कट; कक्कट; कक्कड; केकड़; अनुना०, -आ पुं०।

के कृते या कार्ये से के केरा बोलियों में।

केवट कैवर्त्त; केवट्ट; × ; ट।

कैथा कपित्थ; ×कवित्थ; कयित्थ; अयि>ऐ, थ, -आ पुं०।

कैसा कीदृश; देखिए जैसा—उसी का सादृश्य।

को कक्ष(?)>कक्ख>कह>को, कहँ आदि; द्रविड़ से अधिक स्पष्ट।

कोई कोऽपि; × ; कोवि; वि>ई।

कोख कुक्षि; कुक्खि, कोक्खि; × ; ख, अन्त्य स्वर लोप।

कोठा कोष्ठक; कोट्ठक; कोट्ठअ; ठ, अअ>आ।

कोठारी कोष्ठागारिक; कोट्ठागारिक; कोट्ठाआरिअ; संकोचन; इअ>ई।

कोढ़ कुष्ठ; कुट्ठ, कोट्ठ; × ; ठ>ढ>ढ़ ।
कोस क्रोश; कोस; × ; × ।
कौड़ी कर्पर्दिका; कपड्डिका; कवड्डिआ; अव>औ, ड़, -इआ>ई ।
कौन कः पुनः; कोपुनो; कोवुण, कवण; अव>औ, ण>न ।
कौआ काकः, कागः; काओ; औ, अथवा अनुकरणात्मक ।
कौर कवल; कोल; कोर (रलयोरभेदः) ।
क्या किम्; किं; कि/की; -आ बोलीगत भेद से ।
क्यारा केदारक; × ; केआरअ; अअ>आ ।
क्यों किंपुनः; किंपुनो; किंवुओं; संकोचन ।
खजूर खर्जूर; खज्जूर; × ; ज ।
खम्भा स्कम्भ; खम्भ; × ; -आ पुं० ।
खाई खाति; × ; खाइ; × (लिखाई में भेद) ।
खाज खर्जू; खज्जू; × ; ज, खा- दीर्घ०; अन्त्य स्वर लोप ।
खाट खट्वा; खट्टा; ट, खा दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।
खुजली खर्जू; खज्जू; × ; +ली, उ विपर्यय ।
खेत क्षेत्र; खेत्त; × ; त ।
खेती क्षेत्रित; खेत्तित; खेत्तिअ; त, इअ>ई ।
खेल खेला; × ; खेल; × ।
खैर खदिर; × ; खइर; अप० खयर; अइ/अय>ऐ ।
खोदना क्षोदन; खोदन; × ; -आ पुं० ।
गँवार ग्राम+कार; गाम कार; गाँव आर; संकोचन ।
गधा गर्दभ; गद्दभ; गद्दह; -आ पुं०, दह>ध ।
गलना गलन; × ; × ; -आ पुं० ।
गहरा गभीर; + ; गहीर, गहिर; -आ पुं० ।
गाँठ ग्रन्थि; गंठि; × ; गा- दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।
गाँव ग्राम; गाम; गाँव; × ।
गाहक ग्राहक; गाहक; × ; × ।
गिनना गणन; गणन; गणन, गिणन; ण>न, -आ पुं० ।
गीध गृध्र; गिद्ध; × ; ध, गी- दीर्घ० ।
गेंद कन्दुक; × ; गेंदुअ; अन्त्य स्वर लोप ।
गेरू गैरिक; गेरिक; गेरिअ; गेरी, मेरू ।
गेहूँ गोधूम; × ; गोहूवँ, गोहूँ, गेहूँ (विषमीकरण) ।
गोद क्रोड; कोड; ? ; सघोष ग, दन्त्य द ।

गोसाईं गोस्वामी; गोस्सामी; गोस्सावीं; स, वीं>ईं।

गौना गमन; × ; गवँन; अव>औ, -आ पुं०।

ग्यारह एकादश; एकारस; एगारस; ए विपर्यय; स>ह।

ग्वाल गोपालक; × ; गोवाल; अक्षर-संकोचन।

घड़ा घट; × ; घड; ड़, -आ पुं०।

घर गृह; गरह; घर; ×।

घिन घृणा; घिणा; × ; ण>न, अन्त्य स्वर लोप।

घिसना घृष(ण); घिसन; × ;-आ पुं०।

घी घृत; घित; घिअ; इअ>ई।

घुंघची गुञ्जा (?); × ; ×; एक साथ इतने परिवर्तन!

घूँघट गुंठन+गूहित; एक साथ इतने परिवर्तन !

घोड़ा घोटक; ?; घोडअ; डअ>-ड़ा।

चक्का चक्र; चक्क; × ;-आ पुं०।

चढ़ना प्रा० चडिअ से।

चबाना चर्वापण; चब्बावण; चब्बावण; ब, संकोचन, -आ पुं०।

चमार चर्मकार; चम्मकार; चम्मआर; म, अअ>आ।

चाँद चन्द्र; चंद; × ; चा दीर्घीकरण।

चार चत्वारि, चत्तारि, चतुआरि; चउआरि; चारि, चार।

चालीस चत्वारिंशत्; चत्तारिंस; चत्तालीस; त्त लोप।

चाहे चक्षते; प्रा० चाहइ; अइ>ए।

चिकना चिक्कण; × ; ×; क, ण>न, -आ पुं०।

चिड़िया चटिका; ×; चडिआ; समानीकरण में च को इ, ड़।

चीता चित्रक; चित्तक; चित्तअ; त, ची- दीर्घ०, अअ>आ।

चुनना चिनोति; ×; × ; चिन का चुन, सुन के सादृश्य से।

चूना चूर्ण; चुण्ण; × ; न, चू- दीर्घ०, -आ पुं०।

चूमना चुम्बन; ×; म्ब>म; चू- दीर्घ०, -आ पुं०।

चोंच चञ्चु; ×; चुंचु; विषमीकरण से ओं; अन्त्य पद लोप।

चोरी चौरिका; चोरिका; चोरिआ; इआ>ई।

चौंतीस चतुस्त्रिशत्; चतुत्तिस; चउत्तीस; अउ>औ, अनुनासिकता।

चौ- चतुः; ×; चउ; >औ।

चौक चतुष्क; चतुक्क; चउक्क; अउ>औ, ऐसे चौका भी।

खौचट चतुष्काष्ठ; चतुक्खट्ठ, चउक्खट्ट; अउ>औ, ख, ट।

चौथा — चतुर्थ; चतुत्थ; चउत्थ; अउ > औ, थ, -आ पुं० ।
चौथाई — चतुर्थ भागिक; चतुत्थभागिक; चउत्थहाइअ; संकोचन, इअ > ई ।
चौदह — चतुर्दश; चतुद्दस; चउद्दह; अउ > औ, द ।
चौबीस — चतुर्विंशति; चतुव्विसति; चउव्वीसइ; अउ > औ, ब, अन्त्य स्वर लोप ।
चौरासी — चतुरशीति; श > स; चउरसीइ; अउ > औ, रा, ईइ > ई ।
चौंरी — चमरी; × ; चवँरी; अव > औ ।
चौंसठ — चतुष्षष्ठि; चतुस्सट्ठि; चउँस्सट्ठि; अउँ > औं, स, ठ, अन्त्य इ लोप ।
चौहत्तर — चतुस्सप्तति; प्त > त्त; चउस्सत्तरि; अउ > औ, स > ह, अन्त्य इ लोप ।
छह — षष्; छस्; छह; × ।
छकड़ा — शकट;, सकट ; सकड; स > छ, ड > ड़, -आ पुं० ।
छक्का — षट्क; सक्क; सक्क, स > छ, -आ पुं० ।
छठा — षष्ठ; सट्ठ; छट्ठ; ठ, -आ पुं० ।
छत्तीस — षट्त्रिंशत्; सत्तिस; छ, -ई- ।
छप्पन — षट्पञ्चाशत्; सप्पणास; छप्पण, -ण > न ।
छब्बीस — षट्विंशति; सव्विसति; छव्वींसइ; निरनुनासिकता, -इ लोप ।
छयालीस — षट्चत्वारिंशत्; सच्चत्तारिंस; छत्तालिस; त्त लोप, श्रुति -ई- ।
छाता — छत्रक; छत्तक: छत्तअ; त, छा दीर्घीकरण, अअ > आ ।
छिलका — शकल, छिल्लक; ×, ×; ल, -आ पुं० ।
छुरी — क्षुरिका; छुरिका; छुरिआ; इआ > ई ।
छेद — छिद्र; छिद्द; छेद्द; -द ।
छेनी — छेदनी; × ; छेअणी; -अ- लोप, न ।
छोड़ना — क्षोडन; छोडन; × ; ड > ड़, -आ पुं० ।
जड़ — जटा; × ; जडा; ड़, अन्त्य स्वर लोप ।
जब — यदा × एव, दे० कब, तुलना कीजिए पंजाबी कद ।
जम्हाई — जृम्भिका; जम्भिका; जम्हिआ; -आई प्रत्यय सादृश्य से ।
जलना — ज्वलन; जलन; × ; -आ पुं० ।
जवान — युवान; जुवाण; × ; उ लोप, न । (फ़ारसी भी)
जहाँ — सं० यत्र, दे० कहाँ ।
जागना — जाग्रण; जाग्गण; × ; ग, -आ पुं० ।
जाड़ा — जाड्य; जाड्ड; × ; ड़, -आ पुं० ।
जाना — याति; जाति; जाइ; -ना संज्ञार्थक पुं० ।
जानना — ज्ञान; ञ्ञान; जाण; न, -आ " ।

जितना — दे० कितना; अप० जित्तउ; -ना।

जिधर — दे० किधर।

जिस — यस्य; जस्स; ×; इ 'इस' के सादृश्य से।

जिन — जो से, दे० उन।

जीभ — जिह्वा; जिब्हा, जिब्भा; भ, ई दीर्घीकरण से, अन्त्य स्वर लोप।

जूआ — द्यूत; जूत; जूअ; -आ पुं०।

जूझ — युध्य; जुज्झ; ×; झ, ऊ दीर्घीकरण से।

जूता — युक्त; जुत्त; जुत्त; त, ऊ दीर्घीकरण से, -आ पुं०।

जेठ — ज्येष्ठ; जेट्ठ; ×; ठ।

जैसा — यादृश; जादिस; जाइस; अइ >ऐ, -आ पुं०।

जो — यः; जो; ×; ×।

जोड़ा — युक्त; जुट्ट; ×; जुट, सकर्मक जोड़, -आ पुं०।

जौ — यव; ×; जव; अव > औ।

झीना — जीर्ण; जिण्ण; ×; न, दीर्घीकरण, महाप्राण, -आ पुं०।

झूठा — जुष्ट; जुट्ठ; झुट्ठ; ठ, ऊ दीर्घ०।

टकसाल — टंकशाला; टंकसाला; ×; निरनुनासिकता, अन्त्य स्वर लोप।

टूटना — त्रुट्यते; टुट्टति; टुट्टइ; ट, ऊ दीर्घ०, -ना संज्ञा० क्रिया।

ठण्ढा — स्तब्ध; ठड्ढ; ×; अनुनासिकता, -आ पुं०।

डंक — दंश; डंस; डंक; ×।

डर — दर; ×; डर; ×।

डसना — दंशन; डंसन; ×; निरनुनासिकता, -आ पुं०।

डाँड़ — दण्ड; दंड, डंड; ×; आ दीर्घ०, ड >ड़।

ड्योढ़ा — द्वयर्ध; डयद्ध; डिअड्ढ, ढ़, -आ पुं०।

डेढ़ — -वही—; इअ >ए।

ढाई — अर्धतृतीय; अड्ढततीय; अड्ढअई; अढाई; अ- लोप।

ढीठ — धृष्ठ; ढिट्ठ; ×; ठ, ई दीर्घ०।

ढीला — शिथिल; सिढिल; ×; आदि अक्षर लोप, ई, -आ पुं०।

ढाँचा — अर्धपञ्च; अड्ढपंच; अड्ढवंच; अ- लोप, अव >औ, -आ पुं०।

तब — तदा + एव; ×; प्रा० तआ एव्व; संकोचन से तब। सादृश्य से अब, कब, जब—दे० पृ० १८३ भी।

तमोली — ताम्बूलिक; तम्मोलिक; तम्मोलिअ; म, इअ >ई।

ताँबा — ताम्र; अशोक तम्ब; ता- दीर्घ०, -आ पुं०।

ताकना तर्कन; तक्कन; × ; क, आ दीर्घ०, -आ पुं०।

तालाब तडाग; × ; तडाअ; तलाव >तालाब।

-तालीस चत्वारिंशत्—त्व >त, च लोप—दे० चालीस।

ताव ताप; × ; ताव; ×।

ति- त्रि-; ति; × ; × ; दे० तीन भी।

तिगुना त्रिगुण; तिगुण; × ; न, -आ पुं०।

तिनका तृण, तिन; × ; +-का प्रत्यय।

तिरछा तिरश्च; तिरच्छ; × ; छ, -आ पुं०।

तिहाई त्रिभागिका; तिभागिका; तिहाइआ; इआ >ई।

तीखा तीक्ष्ण; तिक्ख; ख, ई दीर्घ०, -आ पुं०।

तीजा तृतीयकः; ततीयक; तईजअ; अई >ई, अअ >आ।

तीन त्रीणि; तीनि; × ; अन्त्य स्वर लोप।

तीस त्रिंशत्, तिंस; तीस; ×।

तीसरा त्रि+सृत; तिसरित, तिसरिअ; तीसरा में -आ पुं०।

तुझ तुभ्यम्; मुझ के सादृश्य से झ।

तुझे दे० तुझ, -ए संस्कृत सम्प्रदान, जैसे आत्मने, गुरवे में।

तुम युष्मे का अन्य रूप तुष्मे; प्रा० तुम्हें; तुम्ह; तुम।

तुम्हारा तुम्ह+केरा; दे० मेरा, हमारा, तेरा भी।

तुम्हें दे० तुम, -ए सम्प्रदान, दे० तुझे, अनुनासिकता -स- के कारण।

तू वैदिक तु; सं० तुअम् (त्वम्); प्रा० तू; ×।

तेंतालीस त्रिचत्वारिंशत्; तिचत्तारिंस; तिअत्तालीस; इअ >ए, अनुनासिकता।

तेंतीस त्रयस्त्रिशत्; प्रा० तेत्तिस, तेतीस; अनुनासिकता।

ते- त्रयः; ते; × ; ×।

तेरह त्रयोदश; तेरस; तेरह; ×।

तेरा तव केर; प्रा० तउर; तोर; तेरा बोलीगत भेद।

तेल तैल; तेल; × ; ×।

तो ततः; ततो; तओ; तो।

त्यों तदा एवम्; प्रा० तअएउँ; स्वरों का संकोचन।

त्योहार तिथिवार; × ; तिहिवार; संकोचन और विपर्यय।

थन स्तन; थन; × ; ×।

था स्थित; थित; थिअ; था [अथवा असन्तः; हन्तो; हतो; थो, था]।

थामना स्तम्भन; थम्मन; × ; म, आ दीर्घ०, -आ पुं०।

थोड़ा स्तोक; थोक; थोअ; +ड़ा।

दही दधि; ×; दहि; -इ>-ई।

दाख द्राक्षा; दक्खा; दक्ख; ख, दा दीर्घ०।

दाढ़ दंष्ट्रा; दाढा; ×; ढ़, अन्त्य स्वर लोप।

दाद दद्रु; दद्दु; ×; द, दा- दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप।

दामाद जामाता; ×; जामादा; द समीकरण, अन्त्य स्वर लोप।

दाहिना दक्षिण; दक्खिण; दक्खिण; अप० दाहिण; न, -आ पुं०।

दीया दीपक; ×; दीवअ; अअ>आ।

दीवाली दीपावली; ×; दीवावली; व समाक्षरलोप।

दुबला दुर्बल; दुब्बल; ×; ब, -आ पुं०।

दूध दुग्ध; दुद्ध; ×; ध, दू दीर्घ०।

दूना द्विगुण; दुगुण; दुउण; अप० दूण; न, -आ पुं०।

दूब दूर्वा; दूव्वा; दूव्वा; ब, अन्त्य स्वर लोप।

दूल्हा दुर्लभ; दुल्लभ; दुल्लह; ल, दू दीर्घ०, -आ पुं०।

दूसरा द्विसृत; दुसरित; दुसरिअ; दूसरा में -आ पुं०।

देखना दृश्+प्रेक्ष>दिसपेक्ख>दिहेक्ख>देख+ना क्रियार्थक संज्ञा।

देवर द्विवर; दिवर; देवर; ×।

दो द्वौ; दो; ×; ×।

दोहरा द्विधा+हर; दुधाहर; दुहाहर; हा समाक्षरलोप, ओ, -आ पुं०।

धनिया धनिका; ×; धनिआ; ×।

धुआँ धूम; ×; ×; अप० धूवँ; -आ पुं०।

नंगा नग्न; नग्ग; ×; ग, न के कारण अनुनासिकता, -आ पुं०।

नंदोई ननांदृपति; ननांदपति, ननंदवइ; न समाक्षरलोप, अव>ओ।

नब्बे नवति; ×; नब्बइ; अइ>ए।

नरसों अन्यपरश्व; अन्नपरसव; अन्नवरसो; आद्यक्षरलोप, संकोचन, अनुनासिकता।

नवासी नवाशीति; नवासीति; नवासीइ; ईइ> ई।

नहना नखहरण; ×; नहहरण; ह समाक्षरलोप; र लोप (पूर्वी)।

नहीं न हि; ×; ×; हिं० ही भी जुड़ा है, न के कारण अनुनासिकता।

नाँघना लंघन; ×; ×; ल>न, आ दीर्घ०, -आ पुं०।

नाई नापित; ×; नाविअ; विअ>वी>ई।

नाक नक्र; नक्क; ×; क, ना दीर्घ०।

नाच नृत्य; नच्च; ×; च, ना- दीर्घ० ।

नाती नप्तृक; नत्तिक; नत्तिअ; त, ना दीर्घ०, इअ >ई ।

नाथ नस्ता; नत्था; ×; थ, ना दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।

नारियल नारिकेल; ×; नारिअेल; य- श्रुति ।

निगलना निर्गलन; निग्गलन; ×; ग, -आ पुं० ।

निन्नानवे नवनवति; ×; दे० नब्बे; -न- आगम ।

नीचा नीच्य; निच्च; ×; च, नी दीर्घ०, -आ पुं० ।

नींद निद्रा; निद्दा; ×; द, ई दीर्घ०, अननासिकता, अन्त्य स्वर लोप ।

नीम निम्ब; ×; ×; अप० निम्म; म, नी दीर्घ० ।

ने एन (सं० करणकारकीय जैसे देवेन), विपर्यय; अथवा कर्णे >कन्ने >ने; अथवा द्रविड़ से ।

नेउता निमंत्र(ण); निमंत्त; निवंत्त; इव >एउ, त, -आ पुं० ।

नेउला नकुल; ×; नउल; अअ >ए, -आ पुं० ।

नैहर ज्ञातिगृह; ञातिघर; नाअिहर; आअि >ऐ ।

पंख पक्ष; पक्ख; पंख; × ।

पंछी पक्षी; पच्छी; पंछी; × ।

पंदरह पञ्चदश; पन्नरस; पन्नरह; न्न >न्द ।

पक्का पक्व; पक्क; ×; -आ पुं० ।

पचपन पञ्चपञ्चाशत्; पंचपंचास; पंचपंण; निरनुनासिकता, न आगम ।

पचास पञ्चाशत्; पंचास; पँचास; निरनुनासिकता ।

पछतावा पश्चात्ताप; पच्छाताप; पच्छताव; छ, -आ पुं० ।

पड़ना पंतन; पटन; पडन; ड़, -आ पुं० ।

पड़िवा प्रतिपदा; पटिपदा; पडिवआ; ड़, अआ >आ ।

पड़ोसी प्रतिवेश्मिक; पटिवेसिक; पडवेसिअ; ड़, अव >ओ, इअ >ई ।

पढ़ पठ; ×; पढ; पढ़ ।

पत्ता पत्र; पत्त; ×; -आ पुं० ।

पत्थर प्रस्तर; पत्थर; ×; × ।

पन- पञ्चाशत्; पंचास; पण्ण-; पन- ।

पनसारी पण्यशालिक; पण्णसालिक; पण्णसारिअ; ण्ण >न, इअ >ई ।

पर उपरि; उप्परि; ×; आदि स्वर लोप ।

परख परीक्षा; परिक्खा; × अप० परक्ख; ख ।

परसों परश्व; परस्स; ×; स, -ओं सादृश्य से ।

पलंग पर्यङ्क; परियंक; परंग; र>ल ।

पल्ला पल्लव; × ; × ; अप० पल्लो; ओ>आ पुं० ।

पसीना प्रस्विन्न; पस्सिन्न; × ; न, ई दीर्घ०, स, -आ पुं० ।

पहचान प्रत्यभिज्ञान; पच्चभिञ्ञान; पच्चहिणान; विपर्यय, संकोचन ।

पहनना परिधान; × ; परिहान; र ह का विपर्यय -आ पुं०, दो न समानीकरण।

पहिला प्रथ + इल; पथिल; पहिल; -आ पुं० ।

पहुँच प्रभूत्य; पभूच्च; पहुच्च; च, अनुनासिकता ।

पाँच पञ्च; × ; × ; पा दीर्घ० ।

पाँव पाद; × ; पाअ; व-श्रुति, अनुनासिकता ।

पान पर्ण; पण्ण; × ; न, पा दीर्घ० ।

पाना प्रापण; पापण; पावण; व लोप, -आ पुं० ।

पानी पानीय; × ; पानिअ; इअ>ई ।

पाव पाद; देखिए पाँव, अर्थभेद के कारण ध्वनिभेद ।

पिटारा पिटक; × ; पिडअ; अक्षर-आवृति पिडाड़ा>पिटारा ।

पिसना पिष्; पिस; × ; -ना संज्ञार्थक क्रिया ।

पीछा पश्चात्; पच्छा; × ; पाछा, पीछा बोलीभेद ।

पीठ पृष्ठ; पिट्ठ; × ; ठ, पी दीर्घ० ।

पीढ़ी पीठिका; × ; पीढिआ; ढ़, इआ>ई ।

पीला पीतल; × ; पीअल; ईअ>ई, -आ पुं० ।

पुआ पूप; × ; पूव; -आ पुं० ॥

पुतोहू पुत्रवधू; पुत्तवधू; पुत्तवहू; अव>ओ ।

पूँछ पुच्छ; × ; × ; छ, पू दीर्घ०, अनुनासिकता ।

पूछना पृच्छ; पुच्छ; × ; छ, पू दीर्घ०, -ना संज्ञार्थक क्रिया ।

पूरा पूरक; × ; पूरअ; अअ>आ ।

पै उपरि से पर, पर से प या पै, दे० 'पर' ।

पैर पदिर; × ; पअिर; अइ>ऐ ।

पोखरा पुष्कर; पोक्खर; × ; ख, -आ पुं० ।

पोता पौत्र; पोत्त; × ; -आ पुं० ।

पोथी पुस्तिका; पोत्थिका, पोत्थिआ; थ, इआ>ई ।

पौना पादोन; × ; पाओन; अओ>औ, -आ पुं० ।

प्यास पिपासा; × ; पिवासा; अन्त्य स्वर लोप, इवा>इया ।

फटकरी स्फटिक; फटिक; × ; + री, -इ- लोप ।

फरुआ परशु; फरसु; फरहु; -आ पुं०, अल्पप्राणीकरण।

फाँसी पाशिका; पासिका; पासिआ; महाप्राणीकरण, इआ>ई।

फागुन फाल्गुन; फग्गुन; ×; ग, फा दीर्घ०।

फुरती स्फूर्ति; फुरति, स्वरभक्ति से; ×; -ई।

फूल फुल्ल; ×; ×; ल, फू दीर्घ०।

फोड़ा स्फोट; फोट; फोड; ड़, -आ पुं०।

बच्चा वत्स { अर्थभेद के कारण बच्च; ×; -आ पुं०।

बछड़ा वत्स { बच्छ; ×; छ+ड़ा।

बड़ा वृत्तक; वट्टक; वड्डअ—अथवा वट्>प्रा० बड, हिं० ड़, -आ पुं०।

बढ़ई वर्द्धकि; वड्ढकि; वढ्ढई; अप० बढई; ढ़।

बढ़ना वर्धन; वड्ढन; वड्ढन; ब, ढ़, -आ पुं०।

बनारस वाराणसी; ×; ×; अप० बाणारसी; आ, -ई लोप, न।

बनिया वणिक्; ×; वणिअ; ब, न, य-श्रुति -आ पुं०।

बसेरा वासगृह; वासघर; वासहर; ब, आ लोप, सह>से, -आ पुं०।

बहन भगिनी; बहिनि; ×; अन्त्य स्वर लोप।

बहनोई भगिनीपति; बहिनिपति; बहिनिवई; -ओ-, दे० नंदोई भी।

बहिरा वधिर; बहिर; ×; -आ पुं०।

बहुत बहुत्व; बहुत्त; ×; त।

बहू वधू; वघू; बहू; ×।

बाँका वक्र; वक्क; बंक; बा दीर्घ०, -आ पुं०।

बाँझ वन्ध्या; वंझा; बंझ; बा दीर्घ०।

बाँस वंश; बंस; अप० बंस; बा दीर्घ०।

बाँह बाहु; बाहु; बाह; अनुनासिकता।

बा- द्वा; बा; ×; ×।

बाईस द्वाविंशति; बाविंसति; बावीस; -व- लोप।

बाग वल्गा; वग्गा; बग्ग; ग, बा दीर्घ०।

बाघ व्याघ्र; वग्घ; ×; घ, बा दीर्घ०।

बाजा वाद्य; वज्ज; ×; ज, बा दीर्घ, -आ पुं०।

बाट वर्त्म; वट्ट; ×; ट, बा दीर्घ०।

बाड़ी वाटिका; ×; बाडिआ; ड़, इआ>ई।

बातें वार्तानि; वत्तानि; बत्तानि; अप० बत्ताइं; त, बा दीर्घ०, आइं>एँ।

बादल वारिद; र द विपर्यय, वादिर>बादिल; इ लोप।

बायाँ वाम; ×; ×; अप० बाँव, -आ पुं० >बावाँ, य- श्रुति ।

बार द्वार; बार; ×; × ।

बारह द्वादश; वारस; बारह; × ।

बावन द्वापञ्चाशत्; बापंचास; बावण्ण; न ।

बावला वातुल; ×; बाउल; -आ पुं० ।

बासठ द्वाषष्ठि; बासट्ठि; ×; ठ, अन्त्य स्वर लोप ।

बाहर बहिर; ×; बाहिर; × ।

बिगाड़ विकार; ×; विगार; ब, र>ड़ ।

बिच्छू वृश्चिक; विच्छिक; विच्छिअ, विच्छुअ; ब, उअ>ऊ ।

बिजली विद्युत्; विज्जु; विज्जु; ज, ली प्रत्यय ।

बिन्ती विज्ञप्ति; विञत्ति; विण्णत्ति; न; ई ।

बीच वर्त्म, वर्त्य; वच्च; विच्च; च, बी दीर्घ० ।

बीस विंशति; विंसति; वीस; अप० बीस; × ।

बुआ पितृश्वसा; प्रा० विउहा; भुआ फुआ; बुआ ।

बुड्ढा वृद्ध; बुड्ढ; ×; ब, -आ पुं० >बूढ़ा ।

बूँद विन्दु; ×; विपर्यय से बुँदि; बू दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।

बूझना बुध्यते; बुज्झति; बुज्झई; झ, बू दीर्घ०, -ना क्रियार्थक संज्ञा ।

बूटी वृत्तिक; ×; वुट्टिक; बुट्टिअ; ट, बू दीर्घ०, इअ>ई ।

बेल १. विल्व, २. वल्ली; बेल्ल, बेल्ली; बेल; बेल ।

बैठ उपविष्ठ; उपविट्ठ; उवविट्ठ; अप० वइट्ठ, आदि स्वर लोप, समाक्षर-लोप; अइ>ऐ, ठ ।

बैन वचन; ×; बयन; अय>ऐ ।

बैल बलीवर्द; बलीवरद, बलीवद्द; बलीअलअ > बइल्ल, बलद्द; बैल, बरदा

बोना वपन; ×; बवन; अव>ओ, -आ पुं० ।

बौना वामन; ×; बावन; आव>औ, -आ पुं० ।

भंडार भाण्डागार; भण्डागार; भण्डाआर; आआ>आ ।

भट्ठी भ्राष्ट्रिका; भट्ठिका; भट्ठिआ; ठ, इआ>ई ।

भतीजा भ्रातृव्य; भातिज्ज; ×; भ ह्रस्व स्वराघातहीन, ज, ई दीर्घ०, -आ पुं० ।

भभूत विभूति; बभूति अर्धतत्सम; भभ समानीकरण से ।

भरोसा परवश्यता; परवस्सता; परोस्सआ; भ, स, या भरी+आशा से ।

भला भद्रक; भल्लक; भल्लअ; ल, अअ>आ ।

भांजा	भागिनेय्य; ×; भाइणेज्ज; भानिजा > भांजा ।
भाड़ा	भाटक; ×; भाडअ; ड़, अअ > आ ।
भात	भक्त; भत्त; ×; त, आ दीर्घ० ।
भादों	भाद्रपद; भद्दपद; भद्दवअ; द, आ दीर्घ०, अव > ओ, अनुनासिकता ।
भाप	वाष्प; बप्फ; ×; बाफ, हकार विपर्यय ।
भावज	मातृजाया; भातृजाया; भाउज्जा; ज; अन्त्य स्वर लोप ।
भिखारी	भिक्षाकारी; भिक्खाकारी; भिक्खाआरी; ख, आआ > आ ।
भी	अपि; अवि अबि; बि; महाप्राणीकरण, -ई ।
भीतर	अभ्यन्तर; अभिअन्तर; अभिन्तर; अप० भितर भी, दीर्घ०, निरनुना० ।
भूख	बुभुक्षा; भुक्खा; ×; ख, भू दीर्घ०, अन्त्य पद लोप ।
भूल	भ्रष्ट + च्युत; प्रा० भुल्ल; ल, भू दीर्घ० ।
भूसा	बुष; बुस; भुस; भू दीर्घ०, -आ पुं० ।
भौंरा	भ्रमर; भमर; भवँर; अवँ > औं, -आ पुं० ।
भौंह	भ्रू रोम; भू + रोम; भूरोवँ; र लोप, भौं, ह बलाघात के कारण ।
माँजना	मार्जन; मज्जन; ×; ज, मा दीर्घ०, अनुनासिकीकरण; -आ पुं० ।
मंडुआ	मंडप; +; मंडव; -आ पुं० ।
मक्खी	मक्षिका; मक्खिका; मक्खिआ; इआ > ई ।
मच्छर	मत्सर; मच्छर; ×; × ।
मछली	मत्स्य; मच्छ; ×; + ली प्रत्यय ।
मजीठ	मञ्जिष्ठ; मंजिट्ठ; ×, ठ, जी दीर्घ०; निरनुनासिकता ।
मट्टी	मृत्तिका; मट्टिका; मट्टिआ; इआ > ई ।
मदारी	मंत्रकारी; मंत्तकारी; मंतआरी; त > द, अआ > आ ।
मसान	श्मशान; मसान; ×; × ।
महँगा	महार्घ; महग्घ; ×; अनुनासिकता, अल्पप्राणीकरण, -आ पुं० ।
महावत	महापात्र; महापत्त; महावत्त; त ।
महुआ	मधूक; ×; महूअ; -आ पुं० ।
माँ	माता; माता; माआ; म के कारण अनुनासिकता, आआ > आ ।
माँग	मार्ग; मग्ग; ×; ग, मा दीर्घ०, अनुनासिकता ।
माखन	मृक्षण; मक्खण; ×; ख, मा दीर्घ० ।
माथा	मस्तक; मत्थक; मत्थअ; थ, मा दीर्घ०, अअ > आ ।
मिठाई	मिष्ट; मिट्ठ; ×; हिं० मीठा + ई प्रत्यय ।
मुंह	मुख; ×; मुह; अनुनासिकता ।

मुआ मृत; मुत; मुअ; -आ पु०

मुझ मह्यम्; मज्झ; ×; मु तुझ के तु के सादृश्य से ।

मुझे दे० मुझ; -ए < सं० चतुर्थी -ए जैसे आत्मने में ।

मूँग मुद्ग; मुग्ग; ×; ग, मू दीर्घ०, म के कारण अनुनासिकता ।

मूँछ श्मश्रु; मस्सु; मसु; अप० मंछु; उ विपर्यय, दीर्घ० ।

मूठ मुष्टि; मुट्ठि; ×; ठ, मू दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।

में मध्ये; मज्झे; ×; माझे, माहे, माहँ, महँ, मैं, में ।

मेरा मम केर < कार्य; दे० के; मउँ एर > मोर भी ।

मैं मया; मे; प्रा० मे; अनुनासिकता म के कारण ।

मोती मौक्तिक; मोत्तिक; मोत्तिअ; त, इअ > ई ।

मोर मयूर; मोर; ×; × ।

मौर मुकुट; ×; मुअुड; मौड़ > मौर ।

यह एष; एस; एह; ए > ये ।

यहाँ 'यह' सर्वनाम से, देखिए कहाँ ।

ये दे० यह; -ए बहुव० सं० सर्वनामों एते, सर्वे से । एते > एए > ये ।

यों एवम्; एवं; एउँ; ए > य, अउँ > ओं ।

रत्ती रक्तिका; रत्तिका; रत्तिआ; इआ > ई ।

रस्सी रश्मि; रस्सि; ×; ई दीर्घ ।

रहट अरघट्ट; ×; अरहट्ट; अ- लोप, ट ।

राख क्षार; खार; ×; विपर्यय ।

रात रात्रि; रत्ति; रत्ति; त, रा दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।

रानी राज्ञी; राञ्ञी; राण्णी; न ।

रास राशि; रासि; ×; अन्त्य स्वर लोप ।

रीस ईर्ष्या; ईरस्सा; ई र विपर्यय से रीसा, अन्त्य स्वर लोप ।

रूख वृक्ष; रुक्ख; ×; ख, रू दीर्घ० ।

रूखा रूक्ष; रुक्ख; ×; ख, रू दीर्घ०, -आ पुं० ।

रूठा रुष्ट; रुट्ठ; ×; ठ, रू दीर्घ०, -आ पुं० ।

रैन रजनी; ×; रयनी; अय > ऐ, अन्त्य स्वर लोप ।

रोआँ रोम; ×; रोवँ; -आ पुं० ।

लँगोट लिंगपट्ट; ×; लिंगवट्ट; इ लोप, अव > ओ, ट ।

लकड़ी लगुड; लक्कुड; ×; लकड़ + ई प्रत्यय ।

लगना लग्न; ×; लग्ग; ×; ग, -ना संज्ञार्थक क्रिया ।

लड़का √लड़्; ×; + का ।

ला =हिं० ले+आ=ल्या, ला।

लाख १. लक्ष, २. लाक्षा; लक्ख, लक्खा; ×; ख, ला दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप।

लाज लज्जा; ×; ×; ला दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप।

लाठी लगुड़+यष्टि; प्रा० लग्अड़हि; अअ>आ, ठ, ई दीर्घ, ह लोप।

लोयन लोचन; ×; लोयन; ×।

लौंग लवंग; लोंग; ×; लौंग।

वह असौ; असो, असु; अहो, अहु; उ के कारण व।

वहाँ वह सर्वनाम से, दे० कहाँ।

-वाँ -म; -म; -वँ; -आ पुं०।

विछोह विक्षोभ; विच्छोभ; विच्छोह; विछोह।

वे दे० वह, -ए बहुव० जैसे संस्कृत सर्वनामों सर्वे, ऐते में।

सँभल सफल; ×; सभल; अनुनासिकता; अथवा सम् हर से।

सकना शक्य; सक्क; ×; क, -ना क्रियार्थक संज्ञा।

सच सत्य; सच्च; ×; सच।

सत्तर सप्तति; सत्तति; सत्तर; ×।

सत्ताईस सप्तविंशति; सत्तवींस; सत्तावीस; व लोप।

सत्तावन सप्तपंचाशत्; सत्तपञ्चास: सत्तावण्ण; दे० बावन।

सत्तू सक्तु; सत्तु; ×; अन्त्य ऊ दीर्घ०।

सत्रह सप्तदश; सत्तरस; सत्तरह; संकोचन।

समेटना समावर्तन; समावट्टन; ×; अप० समायटन; आय>ए, -आ पु०।

सयाना सज्ञान; सञ्ञान; संयान; सयान+-आ पुं०।

सरसों सर्षप; सरसप (स्वरभक्ति); सरसव; अव>ओ, अनुनासिकता।

-सरा सृत, दे० दूसरा, तीसरा।

सलाई शलाका; सलाका; सलाआ; -ई स्त्री प्रत्यय।

सवा सपाद; ×; सवाअ; -आअ>आ।

सहेली सखी; ×; सही; स्वर विषमीकरण+ली।

साईं स्वामी; सामी; सावीं; साईं।

साँकर शृङ्खला; संखला; संकला, संकल; साँ दीर्घ०, ल>र।

साँझ सन्ध्या; संझा; ×; सा दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप।

साँड़ षण्ड; सण्ड; ×; सा दीर्घ०, ड>ड़।

साँप सर्प; सप्प; ×; प, सा दीर्घ०, अनुनासिकता।

सावला श्यामल; सामल; साँवल; -आ पुं० ।

साँस श्वास; सास; ×; अनुनासिकता ।

सा हिं० जैसा, ऐसा का संक्षिप्त रूप ।

साग शाक; साग; ×; × ।

साझा सांश; सांझ; ×; -आ पुं०, साँझा>साझा ।

साठ षष्ठि; सट्ठि; ×; ठ, सा दीर्घ, अन्त्य स्वर लोप ।

साढ़े सार्ध; साड्ढ; ×; ढ>ढ़, -ए सादृश्य से ।

सात सप्त; सत्त; ×; त, सा दीर्घ० ।

साथ सार्थ; सत्थ; ×; थ, सा दीर्घ० ।

साला श्यालः; साल; ×; -आ पुं० ।

सास श्वश्रू; सस्सि; सस्स; स, सा- दीर्घ० ।

सिंघाड़ा शृङ्गाटक; सिंगाटक; सिंगाड़अ; महाप्राणता, अअ>आ ।

सियार शृगाल; सिगाल; सियाल; रलयोरभेदः ।

सीधा सिद्ध; ×; ×; ध, सी दीर्घ०; -आ पुं० ।

सीस शीर्ष; सिस्स; ×; -स, सी- दीर्घ० ।

सुआ शुक; सुक; सुअ; -आ पुं० ।

सुथरा सुस्थिर; सुत्थिर; ×; इ लोप, -आ पुं०

सुनना शृणोति; सुणोति; सुणई; सुन ना संज्ञार्थक क्रिया ।

सुनार स्वर्णकार; सुण्णआर; ×; सुन्नार, सुनार ।

सुहाग सौभाग्य; सोभग्ग; सोहग्ग; ग, हा दीर्घ०, अतः सु- ।

सूँड शुण्डा; सुंडा; सुंडा; सू दीर्घ०, अन्त्य स्वर लोप ।

सूअर शूकर; सूकर; सूअर; × ।

सूखा शुष्क; सुक्ह; सुक्ख; ×; ख, सू दीर्घ०, -आ पुं० ।

सूई सूचिका; ×; सूइआ; इआ>ई ।

सेंध सन्धि; ×; ×; इ>ए, विपर्यय भी ।

से सम; ×; सउँ; सौं, सो, से ।

सेज शय्या; सेय्या; सेज्जा; ज, अन्त्य स्वर लोप ।

सेठ श्रेष्ठी; सेट्ठी; ×; ठ, अन्त्य स्वर लोप ।

सेम शिम्बा; सिंबा; ×; सिम्मा>छिम्मी भी ।

सैंतालीस सप्तचत्वारिंशत्; सत्तचत्तारिंस; सत्तत्तालीस; त्त समाक्षर लोप, अनुनासिकता ।

सैंतीस सप्तत्रिंशत्; सत्तत्तिस; सत्ततींस; त समाक्षर लोप, अनुनासिकता ।

सोंठ शुण्ठि; सोंठि; ×; अन्त्य स्वर लोप ।

सोंध — सुगन्ध; सुगंध; सुअंध; उअं > ओं।
सोता — स्रोतस्; सोत्त; ×; त, -आ पुं०।
सोना — स्वर्ण, सुवण्ण; सोण्ण; न, -आ पुं०।
सोलह — षोडश; सोडस; सोलस; -स > ह।
सोहन — शोमन; सोमन; सोहन; सुहाना, सुहावना भी।
सौंप — समर्पय; समप्पय; सवंप्प; प, अवँ > औं।
सौत — सपत्नी; सपत्ती; सवत्ती; अव > औ, अन्त्य स्वर लोप।
हड्डी — अस्थि; अड्डि; ×; हड्डि, हड्डी।
हथौड़ — हस्त; हत्थ; ×; थ, + औड़ा प्रत्यय।
हम — वैदिक अस्मे; अम्हे; हम्ह, हम।
हमारा — देखिये हम, + केर (दे० के)।
हरड़ — हरीतकी; हरीटकी, हरडई; ड > ड़, अन्त्य स्वर लोप।
-हरा — हर (भाग); ×; ×; -आ पुं०, जैसे इकहरा, दोहरा आदि में।
हलका — लघु; ×; लहु, विपर्यय हलु, -का प्रत्यय।
हल्दी — हरिद्रा; हलिद्दा; हलिद्द, इ लोप, द, -ई स्त्री प्रत्यय।
हाथ — हस्त; हत्थ ×; थ, हा- दीर्घ०।
हाथी — हस्ती; हत्थी; ×; थ, हा- दीर्घ०।
हिया — हृदय; हिदय; हिअय; हिया।
हीरा — हीरक; ×; हीरअ; अअ > आ।
हूँ — अस्मि; अम्हि; हमि > हउँ, हूँ।
हों — भवन्तु; होंतु; होंउ; अन्त्य स्वर लोप।
हो — भवतु; होतु; होउ; अन्त्य स्वर लोप।
होंठ — ओष्ठ; ओट्ठ; ×; ठ, ह- आगम।
हैं — १. सन्ति, २. असन्ति; प्रा० अहइँ, अहैं > हैं।
है — १. अस्ति, असति; २ असि; प्रा० अहइ, अहि; अहै > है।

अन्त में कुछ ऐसे तद्भव शब्द दिये जा रहे हैं जिनके केवल तत्सम रूप कोष्ठक में दे दिये गये हैं। इनकी मध्यकालीन प्रक्रिया सरल है।

अकाज (अकार्य), अधपई (अर्धपादिका), असाढ़ (आषाढ़), अहीर (आभीर), इक (एक), एकलौता (एकल पुत्रः), उछाह (उत्साह), उजड्ड (उज्जड), उड़ना (उड्डयन), कटहल (कण्टफल), कड़ाह (कटाह), कपूर (कर्पूर), काँच (काच), काज (कार्य), कुबड़ा (कुब्ज + ड़ा), कूकर (कुक्कुर), कूदना (कूर्दन), केहरी (केशरी), कोठी (कोष्ठिका), कोना (कोण), कोयल

(कोकिल), खंडहर (खण्डगृह), खप्पर (खर्पर), खाना (खादन), खुर (क्षुर), गात (गात्र), गाभिन (गर्भिणी), गाहक (ग्राहक), गोत (गोत्र), गोरा (गौर), गोह (गोधा), घड़ौंची (घटमंचिका), घाम (घर्म), घाव (घात), चकवा (चक्रवाक), चना (चणक), चाम (चर्म), छत (छत्र), छाँह (छाया), छाजना (छाद्य), जाँघ (जङ्घा), जूड़ा (जूटक), जोबन (यौवन), टिटिहरी (टिट्टिभी), डाइन (डाकिनी), डीठ (दृष्टि), डोलना (दोलन), तीत (तिक्त), दाढ़ी (दंष्ट्रिका), दोना (द्रोण), धूल (धूलि), निम्बू (निम्बक), नीचे (नीचैः), नौ (नव), पाँत (पंक्ति), पास (पार्श्व), पाहुना (प्राघूर्ण), पुराना (पुराण), पूस (पुष्य), बखान (व्याख्यान), बहेड़ा (विभीतिक), बाती (वर्तिका), बीघा (विग्रह), भाई (भ्रातृ), भालू (भल्लुक), भेस (वेष), मीठा (मृष्ट), मेह (मेघ), रीठा (अरिष्ट), रीता (रिक्त), सँड़सी (संदंशिका), सब (सर्व), ससुर (श्वशुर), सांकल (शृंखला), सावन (श्रावण), सिर (शिर), सीख (शिक्षा), सूत (सूत्र), सूना (शून्य), सौ (शत), हरा (हरित), हींग (हिंगु)।

१०. हिन्दी के रूप

१०.१. सामान्य भाषा

पिछले प्रकरण में हिन्दी के दो रूपों का विवरण दिया गया है--एक तो क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और दूसरा उन सब का एक महत्तम समापवर्तक या व्यापक रूप है जिसे सामान्य हिन्दी कहते हैं। यदि प्रत्येक क्षेत्र में अपनी ही भाषा प्रचलित रहे और सामान्य भाषा का आदर न हो तो न केवल सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक स्तर हीन हो जायँगे, बल्कि ऐसी भाषावैज्ञानिक उलझनें पैदा हो जायँगी जैसी अफ्रीका और अमेरिका के आदिवासियों में विद्यमान हैं। शिक्षा के प्रसार, यातायात की सुविधा, बड़े-बड़े नगरों के विकास, साहित्य की वृद्धि, रेडियो और सिनेमा के प्रभाव, सैनिक भरती सरकारी नौकरों के स्थानान्तरण एवं सांस्कृतिक चेतना के कारण क्षेत्रीय बोलियों का स्थान सामान्य भाषा ले लेती है। यूरोप में हज़ारों बोलियाँ पिछली शताब्दी में लुप्तप्राय हो गयी हैं। हिन्दी किसी की बोली नहीं है, किसी की मातृभाषा नहीं है। हिन्दी एक सामान्य भाषा है। इसका ढांचा सभी बोलियों के तत्त्वों से बना है—भले ही इसकी आत्मा के युग-युग में बदल जाने के कारण इसके कई रूप रहे हैं। आज जो इसका रूप है वह पिछले युग में नहीं था, न ही अगले युग में रह पायगा। और सच तो यह है कि इसका रूप बदल ही रहा है—भले ही हम देख नहीं पा रहे। हमें इस रूप का मोह भी नहीं है। हिन्दी जितनी अधिक जनता की भाषा बनेगी, उतने अधिक तत्त्वों को सँजोकर अपने रूप और कलेवर का विकास करेगी। इसीलिए, न तो नाना बोलियों को और न ही विविध भाषाओं को इस से किसी तरह का खतरा है। यह तो उनके जीवन से जीवन पा रही है। पहले यह दिल्ली, मेरठ और इनके आसपास के क्षेत्र में बोली जाती थी। फिर यह साधु-सन्तों में पहुँची, उनके भक्तों में प्रचलित हुई। फिर शहरों में आयी, जहां व्यापारी, सरकारी कर्मचारी, यात्री और पढ़े-लिखे लोगों की ज़बान पर चढ़ी; तीर्थ-स्थानों में पहुँची, पंडों और कथावाचकों का साधन बनी। बीसियों वर्षों से यह रेल के डिब्बों में सारे देश का भ्रमण करती फिरती है। दो विश्वयुद्धों में वहाँ के सिपाही इसे देश-देशान्तर में ले गये हैं, क्योंकि विभिन्न प्रदेशों से आये हुए सैनिकों की यह एकमात्र

सामान्य भाषा है । इधर सेना की संख्या बढ़ जाने से हिन्दी को और अधिक व्यापकता प्राप्त हुई है । गांधी जी के राष्ट्रवादी आन्दोलन ने इसके क्षेत्र को बहुत विस्तृत किया है । हिन्दी प्रदेश के मज़दूर और व्यापारी भारत के प्रत्येक भाग में फैले हुए हैं; विदेश में भी इनकी संख्या कम नहीं है । कहीं-कहीं तो ये लोग बहुत प्रभावशाली हैं । रेडियो, सिनेमा, सैनिक सेवा, बड़े-बड़े नगरों के विकास, अन्तः-प्रान्तीय विवाह, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के स्थानान्तरण, कारखानों में नाना प्रदेशों के कारीगरों और मज़दूरों के मेलजोल, स्कूलों और कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों तक हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा तथा माध्यम के रूप में मान्यता आदि कारणों से हिन्दी देशव्यापी हुई है । भारत की एक मात्र भाषा हिन्दी है जिसका प्रसार भारत के बाहर भी है ।

जिस देश में अनेक बोलियाँ और भाषाएं हों, वहाँ एक सामान्य भाषा सब को जोड़ने का काम करती है । हिन्दी बनी-बनायी संसर्ग-भाषा है, भारतीय संघ की संपर्क-भाषा है । राष्ट्रीय भाषाएँ अनेक हैं, सर्वसुलभ भाषा हिन्दी ही है ।

सामान्य भाषा का विकास जनता की राष्ट्रीय भावना के विकास का प्रतीक है । हिन्दी ने राष्ट्र को संगठित करने में जो काम किया है, वह हमारे इतिहास में प्रमाणित हो चुका है । यदि इतनी सामान्यता हिन्दी को प्राप्त न होती तो भारत में राष्ट्रचेतना का विकास न हो पाता । इस युग में बड़ी-बड़ी भाषाएँ पनपी हैं । छोटे-छोटे राज्यों के समान, छोटी-छोटी भाषाएँ दूसरी इकाइयों में विलीन हो रही हैं ।

सामान्य भाषा शासक और शासित दोनों की प्रतिष्ठा का परिचायक होती है । पंजाब का प्राधिकारी भी देहातियों पर हिन्दी बोलकर अपना रौब जमाता है, शहर का आदमी हिन्दी बोलकर अपनी उदारता और अभिजातता का परिचय देना चाहता है, और देहात का निवासी सभ्य समाज में आता है तो देहाती बोली में बोलने में अशिष्टता मानता है । प्रायः लोगों को देहाती बोली बोलने में शर्म आती है । सामान्य भाषा बोलने वाले को लोग सुशिक्षित और सभ्य मानते हैं, भद्र समाज में उसे आदर मिलता है, नौकरी या व्यवसाय में उसे सुविधा होती है और उसके मित्रों का घेरा बड़ा होता रहता है । सामान्य भाषा की शब्दावली सम्पन्न होती है, अतः इससे विचारों में उदात्तता, अभिव्यक्ति में सुन्दरता और सटीकता तथा शैली में विविधता आती है ।

सामान्य भाषा ही अपने इस गुण के कारण सचेत राष्ट्र में राष्ट्रभाषा बन जाती है । शासन और शिक्षा में सामान्य भाषा का ही लिखित रूप प्रतिष्ठित होता है । अतः राजभाषा और साहित्यिक भाषा भी उस प्रदेश या सारे देश की

सामान्य भाषा ही हुआ करती है। जिस क्षेत्र में जितनी अधिक व्यापक भाषा होगी, उस क्षेत्र के शासकीय कार्य अधिक विस्तृत होंगे; उसका साहित्य ललित, उपयोगी और अधिक विकसित होगा। संकीर्ण क्षेत्र या वर्ग की भाषा के संस्कार भी संकीर्ण होते हैं, और उसका साहित्य भी अपेक्षाकृत बहुत उदात्त और मानव-भावनाओं का वाहन नहीं हो सकता। वह प्रायः क्षेत्रीय संस्कृति का परिचायक हो पाता है। जैसे, पंजाबी साहित्य अधिकांशतः सिखों के संस्कारों का और उर्दू साहित्य मुसलमानी संस्कृति का परिचय देता है। भाषा की सामान्यता जितनी बढ़ती है, उतनी ही उन्नति उसके साहित्य में होती है; क्योंकि बोलने, लिखने और पढ़ने वालों की संख्या-वृद्धि के साथ साहित्य का प्रचार और परिष्करण अधिक होता है।

भाषा का लिखित रूप व्याकरण के नियमों में बँधकर स्थिर होता जाता है। उसकी परिनिष्ठिता का अर्थ है एकरूपता। प्रयोग, उच्चारण, वर्तनी आदि की जितनी विविधता बीस वर्ष पहले थी, उतनी आज नहीं रही और जो कुछ अनेकरूपता शेष है, वह आगे नहीं रहेगी। उसकी एकरूपता में ही उसकी सुग्राह्यता है। सामान्य बोलचाल की भाषा जितनी शीघ्रता से परिवर्तित होती है, उतनी साहित्यिक या लिखित भाषा नहीं हुआ करती।

हिन्दी का परिनिष्ठित रूप वह है जिसे हमारे भाषाशास्त्रियों, वैयाकरणों, आप्त पुरुषों, साहित्यिकों, लेखकों और व्याख्याताओं ने निश्चित किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी, राजभाषा हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी तीनों का आधार वही परिनिष्ठित हिन्दी है जिसका विवरण इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में दिया गया है। पहले हम राष्ट्रभाषा और राजभाषा हिन्दी की चर्चा करना चाहेंगे, इसके उपरान्त साहित्यिक हिन्दी की। साहित्यिक हिन्दी के विकास की चर्चा अधिक विस्तृत होने के कारण अगले प्रकरण में दी जायेगी। सामान्य भाषा के एक रूप का नाम कुछ लोगों ने 'हिन्दुस्तानी' रख दिया था—उसका विवेचन इसी प्रकरण में कर देना उचित होगा (देखिए, आगे १०.३)। साहित्यिक हिन्दी का एक रूप 'उर्दू' के नाम से प्रसिद्ध है। 'उर्दू' सामान्य भाषा और राजभाषा के पद की भी दावेदार रही है। इसलिए उस पर भी इस प्रकरण के अन्त में विचार किया जा रहा है (देखिए, आगे १०.५)।

१०.२. राष्ट्रभाषा

राष्ट्रभाषा के महत्त्व पर यहाँ कुछ कहने की गुंजाइश नहीं है। बाइबिल में बेबल के मीनार की एक कथा आती है कि आदम के बेटों ने आसमान तक पहुँचने के लिए एक बहुत बड़ा मीनार बनाना चाहा। ईश्वर ने देखा कि ये लोग स्वर्ग तक पहुँचकर मेरी बराबरी करने लगेंगे। इन लोगों की एक भाषा थी और वे मिलकर

काम करते ऊपर चढ़ते चले जा रहे थे। ईश्वर ने उन्हें भिन्न-भिन्न भाषाएँ देकर तित्तर-बित्तर कर दिया। भाषा की विभिन्नता के कारण अब वे एक-दूसरे की बात ही न समझ सकते थे। वे आपस में लड़ने लगे। इसी झगड़े में मीनार भी टूट-फूट गया। जिस देश के लोग एक भाषा के सूत्र में बँधे रहते हैं, उनके भावों और विचारों में एकता रहती है। भाषा की विभिन्नता के कारण राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक एकता जागृत नहीं हो सकती।

प्रत्येक समुन्नत, स्वतन्त्र, स्वाभिमानी देश की अपनी राष्ट्रभाषा है—इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, रूस, चीन, जापान, सभी देशों में वहीं की व्यापक, बहुप्रचलित भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। आयरिश कवि टॉमस डेविस ने ठीक कहा है कि कोई राष्ट्र अपनी मातृभाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता। मातृभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी ज़रूरी है, क्योंकि वह विदेशी आक्रमण को रोकने में पर्वतों और नदियों से भी अधिक समर्थ है। जो लोग स्विट्ज़रलैंड में वर्तमान चार भाषाओं की बात उठाकर एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता नहीं मानना चाहते, वे मानो कहना चाहते हैं कि मजबूरी और दोषपूर्णता में भी जिया तो जा सकता है।

जो भाषा थोड़ी-बहुत सारे राष्ट्र में बोली और समझी जाती है, वह अपने इसी गुण से राष्ट्रभाषा होती है। भारत में युग-युग से मध्यदेश की भाषा सारे देश का माध्यम बन जाती रही है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और हिन्दी क्रमशः प्रत्येक युग में सम्पूर्ण देश में प्रयुक्त होती रही हैं। भले ही राजनीतिक दृष्टि से भारत-खंड की एकता हाल की चीज़ हो, किन्तु यहाँ पर सांस्कृतिक एकता सदा बनी रही है और एक भाषा का विस्तार भारतीय संस्कृति के विस्तार के साथ होता ही रहा है।

दक्षिण के आचार्यों ने हिन्दी के आदि काल से ही अनुभव किया था कि इस भाषा के माध्यम से वे सारे देश के जन-जन तक अपना संदेश पहुँचा सकते हैं। वल्लभाचार्य, विट्ठल, रामानुज, रामानन्द आदि इसकी राष्ट्रीय महत्ता को समझ कर इसे अपने व्यवहार में लाते रहे। केरल में तिरुविनांकूर के राजा स्वातितिरुनाल श्रीराम वर्मा (जन्म १८१३ ई०) ने और इनसे पूर्व तंजौर के भोसल-वंशीय शाहजी महाराज (शासन-काल १६८४-१७१३) ने हिन्दी में गीत-रचना की। सन् १८८४-८६ में मछलीपटम के नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि ने ३२ हिन्दी नाटकों की रचना की। इस काल में और भी बहुत से नाटककार और कवि हुए।

महाराष्ट्र के सन्त देवराज महाराज (१६५४-१७२१ ई०) ने विदर्भ में हिन्दी के माध्यम से भक्तिपूर्ण पद रचे। १८वीं शती में पेशवा, सिन्धिया तथा होलकर आदि मराठी घराने हिन्दी में अपना राजकार्य करते थे। महाराष्ट्र के नामदेव और ज्ञानेश्वर,

गुजरात के नरसी मेहता, राजस्थान के दादू और रज्जब, पंजाब के नानक आदि सिख गुरु, असम के शंकरदेव, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु, और उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के सूफ़ी सन्तों ने हिन्दी ही को अपने धर्म, सांस्कृतिक प्रचार और साहित्य का माध्यम बनाया। मुसलमान बादशाहों के शासन-काल में हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में सर्वमान्य थी। सिक्कों पर सारी सूचना हिन्दी में रहती थी। शाही फ़रमानों में भी हिन्दी का प्रयोग होता था। मुग़ल-काल में फ़ारसी राजभाषा हो गयी, किन्तु हिन्दी का प्रयोग शासन में वैकल्पिक रूप से होता ही था; जनता में तो हिन्दी ही सार्वदेशिक भाषा थी। ब्लाखमैन ने अपनी खोज के आधार पर 'कलकत्ता रिव्यू' (१८७१) में लिखा था कि मुग़ल बादशाहों के शासन-काल में ही नहीं, इस से पहले भी, सभी सरकारी काग़ज़ात हिन्दी में रखे जाते थे। साहित्य और शिक्षा का माध्यम भी व्यापक और सार्वदेशिक रूप से हिन्दी ही थी।

दिनेशचन्द्र सेन (हिस्ट्री आफ़ बंगाली लैंग्वेज ऐन्ड लिटरेचर, पृ० ६००) लिखते हैं कि "अँग्रेज़ी राज्य से पहले बंगाल के कवि हिन्दुस्तानी सीखते थे," और "दिल्ली के मुसलमान शाहंशाह के एकच्छत्र शासन में हिन्दी सारे भारत की सामान्य भाषा हो गयी थी।"

उर्दू के प्रसिद्ध कवि सौदा के उस्ताद 'शाह हातम' (१७५० ई०) ने अपनी पुस्तक 'दीवान जादे' की भूमिका में लिखा—"मैंने तहरीर के लिए वो ज़बान इख़्तियार की है जो हिन्तुस्तान के तमाम सूबों की ज़बान है, यानी हिन्दवी, जिसे भाखा कहते हैं; क्योंकि इसे आम लोग बख़ूबी समझते हैं और बड़े तबके के लोग भी पसन्द करते हैं।"

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सिक्के और आदेश हिन्दी में छपते थे।

मद्रास के ल़ेफ़्टिनेन्ट टॉमस रोबक (१८०७ ई०) ने हिन्दी (हिन्दुस्तानी) को हिन्दुस्तान की महाभाषा कहा, और अपने शिक्षागुरु जॉन गिलक्रिस्ट को लिखा—"भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ते से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ों से लेकर नर्वदा तक, अफ़गानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में जहाँ मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी है।......मैं कन्याकुमारी से कश्मीर तक या आवा से सिन्धु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे मिल जायेंगे जो हिन्दुस्तानी बोल लेते होंगे।"

कम्पनी सरकार ने शासकीय कार्य के लिए हिन्दुस्तानी सिखाने का कलकत्ता मे जो फ़ोर्ट विलियम कॉलेज खोला, वह इस आवश्यकता और वस्तु-स्थिति का प्रमाण

है कि आधुनिक भाषाओं में हिन्दुस्तानी एक ऐसी भाषा है जिसके बिना कोई सार्वदेशिक कार्य नहीं हो सकता।

प्रसिद्ध कोशकार, शेक्सपियर (१८४५) का कहना था कि हिन्तुस्तानी भारत की सब से आमफ़हम और व्यवहार में उपयोगी भाषा है।

एच. टी. कोलब्रुक ने 'एशियाटिक रिसर्च' में लिखा था—"जिस भाषा का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रान्त के लोग करते हैं, जो पढ़े-लिखे तथा अनपढ़ दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है, और जिसको प्रत्येक गाँव में थोड़े-बहुत लोग अवश्य समझ लेते हैं, इसी का यथार्थ नाम हिन्दी है।

भारतीय भाषाओं के सब से बड़ विज्ञानी सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी को भारत की सामान्य भाषा कहा है।

पिछली दो शताब्दियों में ऐसा कोई देशव्यापी आन्दोलन नहीं हुआ जिसके नेताओं ने हिन्दी के उपयोग को अनिवार्य न समझा हो। राजा राममोहन राय ने कहा कि इस समग्र देश की एकता के लिए हिन्दी अनिवार्य है। वे स्वयं हिन्दी में लिखते-पढ़ते थे और दूसरों को प्रोत्साहित करते थे। ब्राह्मसमाज के अन्यतम बंगाली नेता केशवचन्द्र ने अपने पत्र 'सुलभ समाचार' (१८७५ ई०) में 'भारतीय एकता कैसे हो' इस विषय पर लिखा था कि "उपाय है सारे भारत में एक ही भाषा का व्यवहार। अभी जितनी भाषाएँ भारत में प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी भाषा लगभग सभी जगह प्रचलित है। इस हिन्दी भाषा को अगर भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाय, तो यह काम सहज ही और शीघ्र सम्पन्न हो सकता है।"

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द यद्यपि गुजराती ब्राह्मण थे और गुजराती एवं संस्कृत के अच्छे जानकार थे, तथापि उन्होंने अपना सारा काम हिन्दी में किया। वे इस 'आर्यभाषा' को सर्वात्मना देशोन्नति का मुख्य आधार मानते थे।

थियोसॉफ़िकल सोसाइटी की संस्थापिका ऐनी बेसेन्ट ने कहा था, "भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में जो अनेक देशी भाषाएँ बोली जाती हैं, उनमें एक भाषा ऐसी है जिसमें शेष सब भाषाओं की अपेक्षा एक बड़ी भारी विशेषता है; वह यह कि उसका प्रचार सबसे अधिक है। वह भाषा हिन्दी है। हिन्दी जानने वाला आदमी सम्पूर्ण भारतवर्ष में यात्रा कर सकता है और उसे हर जगह हिन्दी बोलने वाले मिल सकते हैं।...भारत के सभी स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये।"

देश में राष्ट्रीय भावना की जागृति के साथ राष्ट्रभाषा की पुकार भी उठी। कांग्रेस इस जागृति को संगठित रूप देने लगी, और देश के सब राष्ट्रवादी देशभक्त

इसके झण्डे के नीचे आकर देश की हित-चिन्ता करने लगे । हिन्दी उनका साधन बनी, और साध्य भी । कांग्रेस-अधिवेशन के साथ राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ करता था । हिन्दी नाना भाषाभाषियों के बीच में संयोग-सूत्र बन गयी । हिन्दी के माध्यम से ही जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा फैली । तब सभी नेता हिन्दी के समर्थक थे । बालगंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र की भावना को मुखरित किया और भारतवासियों से आग्रह किया कि वे हिन्दी सीखें । "राष्ट्र के संगठन के लिए आज ऐसी भाषा की आवश्यकता है जिसे सर्वत्र समझा जा सके ।" "किसी जाति को निकट लाने के लिए एक भाषा का होना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । एक भाषा के माध्यम से ही आप अपने विचार दूसरों पर व्यक्त कर सकते हैं ।" तिलक के उत्तराधिकारी एन० सी० केल्कर ने लिखा—"मेरी समझ में हिन्दी भारतवर्ष की सामान्य भाषा होनी चाहिये, यानी समस्त हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली भाषा होनी चाहिए । प्रान्तीय कार्यों के लिए तो प्रान्तीय भाषाएँ ही चलें, लेकिन एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से मिले तो परस्पर विचार-विनिमय का माध्यम हिन्दी होनी चाहिये ।...इस विषय में कोई प्रान्तीय भाषा हिन्दी का स्थान नहीं ले सकती ।" महाराष्ट्र के महापण्डित डॉ० भण्डारकर का भी यही मत था कि "भिन्न-भिन्न प्रदेशों की एक सामान्य भाषा बनने का सम्मान हिन्दी को ही मिलना चाहिए ।"

इनके अतिरिक्त वीर विनायक दामोदर सावरकर, गोखले, गाडगिल, काका कालेलकर आदि नेताओं ने महाराष्ट्र को जो नेतृत्व प्रदान किया, महाराष्ट्रीय लोग आज भी उसका अनुसरण करते हुए हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका कहना है कि राष्ट्रभाषा-प्रचार एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है ।

पहले बिहार में कैथी लिपि प्रचलित थी । भूदेब मुखोपाध्याय ने हिन्दी अक्षरों को प्रचलित किया ।

गुजरात की आवाज़ को दयानन्द ने ऊँचा किया था । उनके स्वर में स्वर मिलाकर राष्ट्रभाषा-प्रचार के कार्य को महात्मा गांधी ने अग्रसर किया । उन्होंने कहा कि "हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है," "हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं," "राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसे अधिक-संख्यक लोग जानते-बोलते हों, जो सीखने में सुगम हो, जिसके द्वारा भारतवर्ष के परस्पर के धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवहार निभ सकें, और जो क्षणिक या अल्पस्थायी स्थिति के ऊपर निर्भर न हो ।" "अगर स्वराज्य अँग्रेज़ी बोलने वाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए होने वाला हो तो निस्सन्देह अँग्रेज़ी ही राष्ट्रभाषा होगी । लेकिन, अगर स्वराज्य करोड़ों भूखे मरने वालों, करोड़ों निरक्षरों और दलितों और अंत्यजों का हो और उन सब के लिए होने

वाला हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है ।" "इन लक्षणों से युक्त हिन्दी की समता करने वाली दूसरी कोई भाषा है ही नहीं ।" "हिन्दी भाषा का निर्माण राष्ट्र के योग्य ही हुआ है और वह बहुत बरसों पहले राष्ट्रभाषा की भाँति व्यवहृत हो चुकी है ।"

महात्मा गांधी की प्रेरणा से ही वर्धा और मद्रास में राष्ट्रभाषा प्रचार सभाएँ स्थापित हुईं जिनके हज़ारों प्रचारकों ने इस समय तक अहिंदी प्रदेशों में २ ३ करोड़ लोगों को हिन्दी सिखायी है ।

गांधी जी के ये वचन कि "मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है" सर्वविदित हैं ।

गुजरात के नेताओं ने सदा हिन्दी का पक्ष-पोषण किया है । सरदार वल्लभ भाई पटेल १९४० में कराची कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने अपना अभिभाषण पहले हिन्दी में पढ़ा और बाद में अँग्रेज़ी में । प्रसिद्ध साहित्यकार, राजनीतिज्ञ और नेता कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी का मत है कि "भारत के भविष्य का निर्माण राष्ट्रभाषा भारती (हिन्दी) के उद्‌भव और विकास के साथ सम्बद्ध है," क्योंकि "हिन्दी ही हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है । यह किसी प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं, बल्कि समस्त भारत में भारती के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए ।"

भारत की अखण्डता पर बंगाल के नेता विशेषतः सोचते-विचारते रहे हैं । उन्होंने हिन्दी को अखिल भारतीय ऐक्य की दृष्टि से देखा । बंकिमचंद्र चटर्जी ने 'वंगदर्शन' में लिखा था—"हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के मध्य में जो ऐक्य-बन्धन संस्थापन करने में समर्थ होंगे, वही सच्चे भारतबन्धु पुकारे जाने योग्य हैं ।" महायोगी श्री अरविन्द ने कहा—"अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए हिन्दी को सामान्य भाषा के रूप में जानकर हम प्रान्तीय भेदभाव नष्ट कर सकते हैं ।" नेता जी सुभाषचन्द्र बोस १९१८ ई० में कलकत्ता कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष थे । उन्होंने अपना अभिभाषण हिन्दी में पढ़ा और कहा कि "हिन्दी प्रचार का उद्देश्य (किसी भी प्रान्तीय भाषा को हानि न पहुँचाते हुए) केवल यही है कि आजकल जो काम अँग्रेज़ी से लिया जाता है, वह आगे चलकर हिन्दी से लिया जायगा ।" १९२९ ई० में फिर कहा, "प्रान्तीय ईर्ष्या-द्वेष को दूर करने में जितनी सहायता इस हिन्दी-प्रचार से मिलेगी उतनी दूसरी किसी चीज से नहीं मिल सकती । अपनी प्रान्तीय भाषाओं की भरपूर उन्नति कीजिए, उसमें कोई बाधा नहीं डालना चाहता और न हम किसी की बाधा को सहन ही कर सकते हैं । पर सारे प्रान्तों की

सार्वजनिक भाषा का पद्र हिन्दी या हिन्दुस्तानी को ही मिला है। नेहरू रिपोर्ट में भी इसकी सिफ़ारिश की गयी है। यदि हम लोगों ने तन-मन-धन से प्रयत्न किया तो वह दिन दूर नहीं है जब भारत स्वाधीन होगा और उसकी राष्ट्रभाषा होगी हिन्दी।"

डॉ० रमेशचन्द्र दत्त कहते थे—"यदि कोई भी भाषा भारतवर्ष के अधिक भाग की भाषा है तो वह हिन्दी ही है।" डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र का कहना था—"हिन्दी भाषा भारतवर्ष की सब से प्रधान और विज्ञजनों की भाषा है।"

इसी तरह के भाव रवीन्द्रनाथ टैगोर, भूदेव मुखर्जी, रामानन्द चटर्जी, सरोजिनी नायडू, शारदाचरण मित्र और अन्य मूर्धन्य विद्वानों, विचारकों और देशभक्तों ने समय-समय पर व्यक्त किये हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन यहाँ तक कह गये हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के हेतु जो अनुष्ठान हुए हैं, उनको मैं संस्कृति का राजसूय यज्ञ समझता हूँ।

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि हिन्दी का पहला छापाखाना कलकत्ता में बना था। पहला हिन्दी पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। सबसे पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय ने एम० ए० में हिन्दी को स्वीकार किया था। स्वामी दयानन्द को हिन्दी में अपना 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखने की प्रेरणा देने वाले केशवचन्द्र सेन थे। महर्षि अरविन्द ने कहा कि "जिस दिन हम अखण्डस्वरूप मातृभूमि के दर्शन करेंगे, उसके रूप-लावण्य से मुग्ध होकर उसके कार्य में जीवन उत्सर्ग करने के लिए उन्मत्त हो जायेंगे, उस दिन भाषाभेद के कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी को ग्रहण करेंगे और वह बाधा दूर हो जायेगी।"—(देश और जातीयता)।

बंगाल के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत था कि "हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, यह तो एक स्वतःसिद्ध बात है। हर काम में, अपने प्रतिदिन के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं।...भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में एक हिन्दी ही भारतीय जाति की विभिन्न शाखाओं के मनुष्यों में एक दृढ़ और उपयोगी मिलन-शृङ्खला बनी है।" "श्रुति-माधुर्य, ओज, कार्य-शक्ति आदि में हिन्दी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरव-स्थल है।"

दक्षिण भारत की तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलगू भाषाएँ द्रविड़-परिवार की हैं, किन्तु युग-युगान्तर से इन पर संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ता रहा है कि उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत का सांस्कृतिक शब्द-भण्डार सामान्य हो गया है। दक्षिण के तीर्थ-स्थानों में हिन्दी का व्यवहार बराबर होता आया है। अखिल भारतीय सेवाओं, व्यापार, यातायात, शिक्षा आदि के कारण

लाखों दाक्षिणात्य परिवार हिन्दी से परिचित हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, की परीक्षाओं में इस समय तक लगभग ८० लाख विद्यार्थी बैठ चुके हैं। वर्धा, प्रयाग, बम्बई और अन्य स्थानों की परीक्षाओं में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या अलग है। वहाँ पर स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य रही है; और यह अनिवार्य शिक्षा सी० राजगोपालाचारी आदि नेताओं के प्रयत्न से वर्षों से दी जाती रही है। १६२६ में ही राजाजी ने दक्षिण वालों को हिन्दी सीखने की सीख दी थी। उनका कहना था कि "हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा तो है ही, यही जनतन्त्रात्मक भारत में राजभाषा भी होगी।" सर टी० विजयराघवाचार्य ने कहा—"चाहे व्यावहारिक दृष्टि, सैद्धान्तिक दृष्टि या राष्ट्रीय दृष्टि से देखा जाय, हिन्दी का कोई दूसरा प्रतिद्वन्द्वी संभव नहीं है।...किसी दक्षिण भारतीय ऐसे व्यक्ति को शिक्षित नहीं मानना चाहिये जिसने हिन्दी में कोई लिखित या मौखिक परीक्षा पास न की हो।" एवं "हिन्दुस्तान की सभी जीवित और प्रचलित भाषाओं में मुझे हिन्दी ही राष्ट्रभाषा बनने के लिए सब से अधिक योग्य दीख पड़ती है।" सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर कहा करते थे कि "देश के विभिन्न भागों के निवासियों के व्यवहार के लिए सर्वसुगम और व्यापक तथा एकता स्थापित करने के साधन के रूप में हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है।" जस्टिस कृष्ण स्वामी अय्यर और महामहिम अनन्त शयनम् आयंगर मानते हैं कि हिन्दी ही उत्तर और दक्षिण को जोड़ने वाली समर्थ भाषा है। एस० निर्जलिंगप्पा ने एक जगह लिखा है—"दक्षिण की भाषाओं ने संस्कृत से बहुत कुछ लेनदेन किया है, इसीलिए उसी परम्परा में आयी हुई हिन्दी बड़ी सरलता से राष्ट्रभाषा होने के लायक़ है।" प्रसिद्ध नेता और साहित्यकार रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर ने कहा है, "जो राष्ट्रप्रेमी है, उसे राष्ट्रभाषा-प्रेमी होना ही चाहिए।"

भारत की भाषाओं में हिन्दी एकमात्र भाषा है जो सारे देश में ही नहीं, विदेशों में भी बोली और समझी जाती है। हिन्दी एकमात्र भारतीय भाषा है जिसमें उस भाषा के क्षेत्र के बाहर के साहित्यकारों ने इतना साहित्य लिखा है। कुछ नामों में (बंगाल के) क्षितिमोहन सेन, मन्मथनाथ गुप्त; (महाराष्ट्र के) शेवड़े, माचवे, गजानन मुक्तिबोध; (गुजरात के) क० मा० मुंशी आदि; (तमिलनाड के) श्री निवासाचारी हंस, राजलक्ष्मी राघवन, डॉ० गोपालन, डॉ० शंकर राजू; (आन्ध्र के) बालकृष्ण राव, बालशौरि रेड्डी, रमेश चौधरी आरिगपुडि, आलूरी वैरागी चौधरी, हृषीकेश शर्मा, मो० सत्यनारायण; (केरल के) चन्द्रहासन, डॉ० भास्करन नायर; (पंजाब के) यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क; इत्यादि इत्यादि उल्लेखनीय हैं। मोटुरि सत्य-नारायण को दक्षिण का टंडन कहा जाता है।

यह बात मानी जा चुकी है कि स्वतन्त्र और जनतन्त्रात्मक देश की एक राष्ट्रभाषा होनी ही चाहिए। वह भाषा जन-जन की भाषा ही हो सकती है, क्योंकि वही उनके संस्कारों, भावों और विचारों की निजी भाषा है। देश स्वतन्त्र हुआ है तो मानसिक दासता भी नहीं रहेगी। हमें विदेशी भाषा की दासता से भी मुक्त होना पड़ेगा। यह तो हमारे राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न है। अँग्रेज़ी हमारी पराधीनता का अवशेष है; इसके रहते रूस, जापान, मिस्र आदि देश हमारी बौद्धिक और सांस्कृतिक समृद्धता पर सन्देह करते हैं। अँग्रेज़ी पढ़ना बुरा नहीं है, किन्तु बुरा यह है कि वह हमारे पत्र-व्यवहार, वार्तालाप और विचार-विनिमय का माध्यम हो। हिन्दी भारत की सांस्कृतिक भाषा है, हमारी राष्ट्रीय चेतना की भाषा है। यदि सभी भारतीय इस का व्यवहार नहीं करेंगे तो बेबल का मीनार बनाने वालों की-सी दुर्दशा हमारी भी होगी। राष्ट्रीय भाषा से ही राष्ट्रीय भावना दृढ़ रहेगी। यह बात उन १% भारतीयों से कही जा रही है जो अँग्रेज़ी को वह स्थान देने की चिन्ता में रहते हैं जो हिन्दी को अपने जनतन्त्रात्मक अधिकार से प्राप्त है। स्वातन्त्र्योत्तर युग में राष्ट्रभाषा हिन्दी को इस अधिकार से वंचित करने के लिए अँग्रेज़ीदानों के द्वारा जो षड्यन्त्र किये जा रहे हैं, उन को ध्वस्त करने के लिए प्रत्येक स्वतन्त्रताप्रिय और राष्ट्रवादी भारतीय को प्रयत्नशील रहना चाहिए। देश को टुकड़ों में बाँटने वाले बहुत सक्रिय हैं, ऐक्य-भाव के समर्थकों को ऐक्य-भाषा का संरक्षण और प्रचार करना चाहिए। इसके लिए उत्तमोत्तम साहित्य का (विशेषतः उपयोगी और वैज्ञानिक साहित्य का) प्रकाशन, भाषा का स्थिरीकरण, दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रति सत्कार और सद्भाव, राष्ट्र-चेतना का पुनरुज्जीवन, आदि आवश्यक उपायों को काम में लाना चाहिए। हिन्दी के शब्द-भण्डार को अधिकाधिक समृद्ध और सर्वग्राही बनाना चाहिए। हिन्दी में ऐसे ललित साहित्य की रचना होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत भारत भर की नाना जातियों, वर्गों और उपसंस्कृतियों का दिग्दर्शन हो। इसके साथ ही हमें ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि जो व्यक्ति भारतीय होकर हिन्दी का व्यवहार न जानता हो उसे अभारतीय, बल्कि देशद्रोही और असभ्य कहा जा सके। दूसरे देशों में अपनी भाषा न जानने वाले को ऐसा माना ही जाता है। देखना तो यह है कि हममें स्वाभिमान और स्वदेश-भक्ति का कितना कुछ है।

१०.३ हिन्दुस्तानी

भारत के लिए 'हिन्द' और 'हिन्दुस्तान' दोनों नाम मुसलमानी राज्य-काल से चले आ रहे हैं। यहाँ की भाषा के लिए 'हिन्दी', हिन्दुई' या 'हिन्दवी' के अति-

रिक्त 'हिन्दुस्तानी' नाम भी यदा-कदा प्रयुक्त होता रहा है। बाबर के आत्मचरित में 'हिन्दुस्तान ज़बान' का उल्लेख मिलता है। शाहजहाँ के समय में 'तारीख फ़रिश्ता' और 'बादशाहनामा' में यह नाम आया है। आक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी में हिन्दुस्तानी को मुग़ल बादशाहों की भाषा कहा गया है। जब 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में, अर्थात् उत्तरी भारत के मध्यदेश की प्रचलित भाषा के लिए होने लगा तो इसका पर्याय 'हिन्दुस्तानी' भी इसी अर्थ में व्यवहृत होता था। ऐसा उल्लेख सर्वप्रथम स्वामी प्राणनाथ (१५८१-१६६४) की वाणी में मिलता है। यूरोपीय यात्रियों, पादरियों और सरकारी कर्मचारियों ने इस शब्द का बहुत अधिक व्यवहार किया, 'हिन्दी' शब्द का अपेक्षाकृत कम। १७१५ ई० में डच पादरी जे० जे० केटलीर ने जो हिन्दी का प्रथम व्याकरण भाषा-जगत् में प्रस्तुत किया, उसका नाम 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' ही रखा। सन् १८०० के आसपास फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल, जान गिलक्रिष्ट, ने 'हिन्दुस्तानी' को ग्रामीण हिन्दी और उर्दू इन दो अर्थों में ग्रहण किया। इस कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग में उर्दू ही पढ़ी-पढ़ायी जाती थी। उन्नीसवीं शती के यूरोपीय विद्वानों ने जो 'हिन्दुस्तानी कोश' लिखे हैं, वे वास्तव में उर्दू ही के शब्दकोश हैं। कुछ लोग उर्दू के सरल बोलचाल के रूप को भी हिन्दुस्तानी कहते रहे। सुख्यात फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी (१८५२ ई०) ने भारत की भाषा पर जो व्याख्यान दिये, उनमें उर्दू ही को हिन्दुस्तानी कहा। कन्साइज़ ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में हिन्दुस्तानी का अर्थ दिया है 'मुसलमान विजेताओं की भाषा, उर्दू।' किन्तु, भारतीयों में 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्द व्यापक रूप से प्रयुक्त होते रहे। ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी के दो अर्थ लिये हैं—एक तो पश्चिमी हिन्दी की बोली जिसे हमने कौरवी कहा है; और दूसरा व्यापक बोलचाल की मिली-जुली उत्तरी भारत की भाषा।

अँग्रेज़ बहादुर की कूटनीति के फलस्वरूप उर्दू मुसलमानों की और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा कही जाने लगी। दोनों जातियों में भाषा के प्रति एक उन्माद-भरा जागरण आ गया। उर्दू अधिकाधिक अरबी-फ़ारसी शब्दों को और हिन्दी संस्कृत शब्दों को ग्रहण करने लगी। दोनों के बीच में जो दरार सांस्कृतिक भेद के कारण बन गयी थी, वह खाई बनकर अधिकाधिक चौड़ी होती गयी। तब 'हिन्दुस्तानी' को नयी परिभाषा देकर एक सामान्य भाषा के रूप में प्रस्तुत किया गया। हिन्तुस्तानी एक प्रकार से समझौते की 'आमफ़हम' भाषा समझी जाने लगी जिसमें न क्लिष्ट संस्कृत रहे, न क्लिष्ट अरबी-फ़ारसी। इन्शा ने 'रानी केतकी की कहानी' और राजा शिवप्रसाद (सितारेहिन्द) ने 'राजा भोज का सपना' आदि अनेक कृतियों में ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। कालान्तर में सितारेहिन्द धीरे-धीरे उर्दू की ओर झुकते गये; उनका कहना था कि "शुद्ध हिन्दी लिखने वालों को हम यक़ीन दिला सकते हैं

कि जब तक कचहरी में फ़ारसी हरूफ़ जारी है, इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बेफ़ायदा होगी ।" इन्शा फ़ारसी लिपि को और सितारेहिन्द नागरी लिपि को चलाने के पक्ष में थे । बाद में लक्ष्मीशंकर मिश्र ने अपनी 'काशी पत्रिका' में दोनों लिपियों को समान स्थान दिया । मिश्रजी स्कूलों के इन्स्पेक्टर थे । उन्होंने कई पाठ्यपुस्तकें भी लिखीं जिनमें विषय और भाषा तो एक ही थी, किन्तु लिपियाँ अलग-अलग थीं । मिश्रजी क्रमशः संस्कृत शब्दावली को अधिक मात्रा में अपनाने लगे ।

१६३५ में महात्मा गांधी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए हिन्दी को देश की राष्ट्रीय भाषा---देश के नाना वर्गों और समुदायों को जोड़ने वाली, एकता की भाषा— घोषित किया । इस पर उर्दू के पोषकों में बड़ा शोर मचा । परिणाम यह हुआ कि गांधी जी को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा । उन्होंने इस भाषानीति की व्याख्या कुछ इस प्रकार से की---

१. हमारी सामान्य भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' होना चाहिए, हिन्दी नहीं ।

२. हिन्दुस्तानी का सम्बन्ध हिन्दुओं या मुसलमानों की धार्मिक परम्पराओं से नहीं होगा ।

३. इसमें प्रचलित शब्दों का ग्रहण होगा, देशी और विदेशी शब्दों का भेद नहीं किया जायगा ।

४. हिन्दुओं को फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू लिपि का और मुसलमानों को नागरी लिपि का ज्ञान होना चाहिए ।

५. देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियाँ प्रचलित मानी जायँगी ।

१६३८ में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के सभापतित्व में एक हिन्दुस्तानी कमेटी बनायी गयी । डॉ० सैय्यद महमूद, डॉ० ताराचंद, लाला (पं० ?) सुन्दर लाल, डॉ० भगवानदास, डॉ० ज़ाकिर हुसेन, सैय्यद सुलेमान नदवी, आदि बड़े-बड़े लोगों ने इन आधारों पर हिन्दुस्तानी के आन्दोलन को आगे बढ़ाया । कांग्रेस ने इसे अपने काम-काज में स्थान दिया । उर्दू वालों ने इसका स्वागत करते हुए कहा कि उर्दू का नाम भले ही हिन्दुस्तानी रख दिया जाय, किन्तु इसकी प्रकृति नहीं बदलेगी । हिन्दी-जगत् में ऐसी भाषा का घोर विरोध हुआ और हिन्दुस्तानी के पोषकों की नीयत पर सन्देह किया जाने लगा । हिन्दुस्तानी वालों ने इन सन्देहों को पुष्ट ही किया । बिहार और युक्त प्रान्त में जो रीडरें ('हिन्दुस्तानी बोलचाल') आदि चलायी गयीं, वे हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू में ही तो थीं । उन लोगों ने घोषित किया कि हिन्दुस्तानी समझौते की भाषा है । (यद्यपि उर्दू वाले कहते हैं कि उर्दू समझौते की भाषा है) किन्तु,

शिक्षित वर्ग ने अनुभव किया कि प्रचलित भाषा से ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी कार्य नहीं चल सकता। हिन्दुस्तानी बोलचाल के लिए तो ठीक हो सकती है, किन्तु साहित्य में बिना संस्कृत या अरबी-फ़ारसी का आश्रय लिये इसका व्यवहार असम्भव होगा, क्योंकि इसका जनप्रचलित शब्द-भण्डार अत्यन्त सीमित है और इसका कोई साहित्यिक रूप है ही नहीं। हुआ यह कि जब उच्च विचारों की अभिव्यक्ति का अवसर आता तो हिन्दुस्तानी वाले अरबी-फ़ारसी की शरण ले लेते थे। आल इण्डिया रेडियो में ऐसी ही भाषा का प्रचलन होने लगा। इस पर हिन्दी संसार ने रडियो के विरुद्ध असहयोग-आन्दोलन खड़ा किया। अन्ततः हिन्दुस्तानी इतनी बदनाम हुई कि सजग राष्ट्रवादी नेताओं को उसका साथ छोड़ना पड़ा, भले ही कुछ लोग आजीवन उस सम्प्रदाय से चिपके रहे।

हिन्दुस्तानी सम्प्रदाय ने देश का अहित ही किया। वे लोग कहते थे कि नागरी हिन्दुओं की लिपि है, उर्दू मुसलिम लिपि है; हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की—हिन्दुस्तानी दोनों लिपियों और दोनों भाषाओं की सामान्य शब्दावली को अपनाकर दोनों में एकता स्थापित करती है। किन्तु, इस प्रकार की बातों से हिन्दू-मुसलिम-अलगाव के सिद्धान्त को अधिक बल मिला। उनसे यह प्रश्न भी किया गया कि यदि दो लिपियाँ चल सकती हैं तो दो भाषाशैलियाँ क्यों नहीं चल सकतीं। उन लोगों ने यह भी कहा कि हिन्दी कृत्रिम भाषा है, किन्तु समझदार भारतीयों ने हिन्दुस्तानी ही को कृत्रिम कहा। एक नेता ने मज़ाक में कहा था—"वाह हिन्दुस्तानी! आधी मर्दानी, आधी जनानी; बायें ईरानी, दाहिने इंग्लिस्तानी।" १९४८-४९ में जब स्वतन्त्र भारत का संविधान बना तो हिन्दी को राजभाषा और देवनागरी को राजलिपि स्वीकार किया गया। हिन्दुस्तानी सम्प्रदाय के आग्रह से भारत की १४ भाषाओं में हिन्दुस्तानी को भी परिगणित किया गया। किन्तु, उसका कोई विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। सम्प्रदाय अब भी है। दो-चार बूढ़े किन्तु प्रभावशाली व्यक्ति हिन्द्री का विरोध करके अपने अस्तित्व का परिचय कभी-कभी दे देते हैं। एक हिन्दुस्तानी कोश भी वे लोग पिछले १२ वर्ष से तैयार कर रहे हैं जिसके लिए लाख दो लाख रुपया उन्हें अनुदान के रूप में मिल चुका है।

१०.४. राजभाषा

१०.४.१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—राजभाषा को राज्य की भाषा कहा जाय या राजा (अथवा शासक) की भाषा, इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। निश्चय ही राजकाज चलाने के लिए किसी-न-किसी भाषा की आवश्यकता पड़ती है। अशोक की राजाज्ञाएँ उस काल की पालि में साम्राज्य के अनेक केन्द्रों से प्राप्त हुई हैं। इन

से आगे-पीछे संस्कृत का प्रयोग होता रहा। राजस्थान में ११वीं से १५वीं शताब्दी के अनेक पुरालेख प्राप्त हुए हैं जो कुछ तो शुद्ध संस्कृत में, कुछ अशुद्ध संस्कृत में और कुछ राजस्थानी अथवा हिन्दी-मिश्रित संस्कृत में हैं। मुसलमान बादशाहों के शासन-काल में चार-पाँच शताब्दी तक शासन-कार्य का माध्यम हिन्दी थी। मध्य-कालीन शासन-व्यवस्था के प्रसिद्ध जानकार ब्लाख़मैन ने सन् १८७१ ई० के 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखा था कि "मालगुज़ारी का इकट्ठा करना और जागीरों का प्रबन्ध करना उस समय बिलकुल हिन्दुओं ही के हाथ में था, और इसीलिए निजी तथा सर्वसाधारण के हिसाब-किताब सब हिन्दी में रखे जाते थे। सभी दस्तूर-उल-अमलों से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रारम्भ से लेकर अकबर के शासन-काल के मध्य तक सभी सरकारी काग़ज़ात हिन्दी में रखे जाते थे।" अकबर के गृहमंत्री राजा टोडरमल के आदेश से सरकारी काग़ज़ात फ़ारसी में लिखे जाने लगे। सरकारी नौकरों और नौकरी पाने के इच्छुक नवयुवकों ने फ़ारसी सीखी। इस प्रकार एक मुन्शी-वर्ग तैयार हुआ जिसने तीन शताब्दी तक सरकार और फ़ारसी की सेवा की। इस्ट इन्डिया कम्पनी ने मजबूरी में सन् १८३३ तक फ़ारसी को शासन-कार्य का माध्यम बनाये रखा। मैकाले ने आकर अँग्रेज़ी को प्रतिष्ठित करने की विशाल योजना तैयार की। फ़ारसी को अपदस्थ करके उच्च स्तर पर अँग्रेज़ी और निम्न स्तर पर देशी भाषाएँ प्रयुक्त होने लगीं। हिन्दी प्रदेश में कुछ तो अँग्रेज़ बहादुर की कूटनीति के कारण और कुछ फ़ारसी में निपुण मुन्शी-वर्ग की परम्परा के कारण, उर्दू की प्रतिष्ठा हुई, यद्यपि राजस्थान, मध्यप्रदेश और (कश्मीर को छोड़) उत्तरी भारत की समस्त रियासतों में सारा कार्य-व्यवहार हिन्दी के माध्यम से ही चलता रहा है। जिस तरह फ़ारसी-उर्दू के साथ एक वर्ग-विशेष का स्वार्थ जुड़ा रहा है, इसी तरह अँग्रेज़ी से लाभ उठाने वाले मद्रास और बंगाल के बाबू वर्ग का व्यापक रूप में और अन्य प्रान्तों में थोड़े से 'संभ्रान्त' लोगों का सीमित रूप में, इसके प्रति मोह बढ़ता गया। परिस्थिति और नौकर-वृत्ति के कारण इन लोगों का आत्मगौरव, स्वाभिमान और बौद्धिक स्वातन्त्र्य मानो नष्ट हो गया।

राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ स्वभाषा को राजपद दिलाने की माँग उठी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नारा लगाया—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल॥

सब से पहला आन्दोलन युक्त प्रान्त में आरम्भ हुआ—उर्दू की जगह हिन्दी को कचहरियों में स्थान दिलाने के लिए। भारतेन्दु ने तब लिखा था—

"सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का

प्रयोग किया जाता है । यही ऐसा देश है, जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की ।"

पं० मदनमोहन मालवीय के सतत् प्रयत्न से १९०१ में युक्त प्रान्त की कचहरी की भाषा के रूप में हिन्दी को उर्दू के साथ समान अधिकार मिला । किन्तु, व्यवहार में, मुन्शी-वर्ग की अपनी सुविधा के कारण, उर्दू का ही प्राधान्य बना रहा । राष्ट्रभाषा या सामान्य भाषा होने के नाते हिन्दी ने पिछले ५० वर्षों से देश की राजभाषा के रूप में मान्यता पाने का संघर्ष किया है—हिन्दी प्रान्तों में उर्दू के विरुद्ध और अखिल भारतीय रूप में अँग्रेज़ी के विरुद्ध । यह संघर्ष आज भी जारी है, विशेषतः अंग्रेजी से ।

१०.४.२. वैधानिक स्थिति—१९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ, और १४ सितम्बर १९४९ को स्वाधीन भारत के संविधान में हिन्दी संघ की राजभाषा और देवनागरी राजलिपि स्वीकृत की गयी । दक्षिण में अँग्रेज़ी के अंक प्रचलित थे, इसलिए दाक्षिणात्यों के आग्रह को मानते हुए उन अंकों को अन्तर्राष्ट्रीय कहकर स्वीकार कर लिया गया । आशा यह थी कि जिन-जिन कार्यों के लिए अँग्रेज़ी का प्रयोग होता रहा है, उन-उन में हिन्दी को ग्रहण किया जायगा । किन्तु, संविधान में कहा गया कि अगले १५ वर्ष के लिए (२६ जनवरी, '६५ तक) अँग्रेज़ी भाषा का प्रयोग उन सब कार्यों के लिए होता रहेगा जिनके लिए पहले होता रहा है । इन १५ वर्षों में राष्ट्रपति किसी राजकीय प्रयोजन के लिए अँग्रेज़ी के साथ हिन्दी का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे । पन्द्रह वर्ष के बाद हिन्दी के साथ-साथ अँग्रेज़ी का कितना और किन-किन प्रयोजनों के लिए उपयोग होगा, इसका निश्चय संसद् करेगी । प्रत्येक पाँच वर्ष के उपरान्त राष्ट्रपति एक भाषा-आयोग की नियुक्ति करेंगे जो हिन्दी के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग करने और अँग्रज़ी का प्रयोग घटाने के बारे में सिफ़ारिश करेगा ।

दो राज्यों के बीच में अथवा एक राज्य और संघ के बीच में संवाद-विनिमय के लिए अँग्रेज़ी अथवा हिन्दी, और अँग्रेज़ी के न रहने पर केवल हिन्दी का प्रयोग किया जा सकेगा ।

किसी राज्य की विधान-सभा विधि द्वारा अपने प्रदेश की भाषा को मान्यता प्रदान कर सकेगी । यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो उस राज्य में अँग्रेज़ी का प्रयोग चलता रहेगा । २६ जनवरी '६५ से पहले विधि द्वारा यदि कोई राज्य अँग्रेज़ी को जारी नहीं रखता, तो उस प्रदेश की भाषा राजभाषा हो जायेगी । राष्ट्रपति किसी राज्य या उसके किसी भाग में किसी विशिष्ट समुदाय की भाषा को किन्हीं प्रयोजनों के

लिए अधिकृत कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को हक होगा कि वह अपना आवेदन-पत्र संघ या राज्य की किसी भाषा में दे। उच्च न्यायलयों तथा उच्चतम न्यायालय की भाषा अँग्रेज़ी होगी। किन्तु, राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्वसम्मति से हिन्दी अथवा उस राज्य की भाषा का प्रयोग उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों के लिए प्राधिकृत कर सकेगा।

अन्त में अनुच्छेद ३५१ के द्वारा संविधान ने राजभाषा हिन्दी का विकास करने के लिए केन्द्रीय सरकार को एक पुनीत और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा है जो इसे उन १५ वर्षों में कर लेना चाहिये था। कहा गया है कि "हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की मिश्रित संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्मम हो सके, तथा उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किये बिना, हिन्दुस्तानी एवं अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को ग्रहण करते हुए,* तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः उन उल्लिखित भाषाओं से शब्द लेकर उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।"

२६ जनवरी' ६५ के बाद से वस्तु-स्थिति यह है कि उतर प्रदेश, मध्य प्रदेश, विहार और राजस्थान में हिन्दी एकमात्र राजभाषा है। हिमांचल प्रदेश और हरियाणा में भी हिन्दी है; किन्तु, सर्वत्र राजकार्यों में अँग्रेज़ी का प्रयोग भी जारी है। केन्द्र में हिन्दी को जो स्थान प्राप्त होना चाहिये था, वह किन्हीं परिस्थितियों के कारण, जिनकी चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे, नहीं हुआ। अँग्रेज़ी को १६६३ के भाषा-विवेयक द्वारा अनिश्चित काल के लिए हिन्दी के साथ सहचरी भाषा के रूप में ज़ारी रखा गया है। इसके साथ अँग्रेज़ी के महान् पोषक पं० जवाहरलाल नेहरू के इस आश्वासन को लेकर बड़ी-बड़ी माँगें की जा रही हैं कि जब तक अहिन्दी राज्य सहमत नहीं होंगे, अँग्रेज़ी को राजभाषा-पद से हटाया नहीं जायगा।

वास्तव में संविधान-सभा ने अँग्रेज़ी को १५ वर्ष की अवधि देकर बड़ी भूल

---

*अष्टम अनुसूची में दक्षिण की चार भाषाएँ—तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़— उत्तरी भारत की आठ प्रादेशिक भाषाएँ—असमिया, उड़िया, बंगाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी और कश्मीरी —तथा उर्दू और संस्कृत —कुल १४ भाषाएँ परिगणित की गयी हैं जिनसे हिन्दी को कुछ ग्रहण करना है।

की। तमाम हिन्दी-विरोधी शक्तियाँ अँग्रेज़ी की आड़ में जमा हो गयी हैं, और आज अँग्रेज़ी की स्थिति ब्रिटिश शासन-काल की अपेक्षा कहीं अच्छी है। हमारी संघीय सरकार ने संविधान की आज्ञाओं का उल्लंघन करके हिन्दी के पक्ष को निर्बल कर दिया है। संविधान के अनुच्छेद ३४४ के अनुसार अब तक तीन भाषायोगों को हिन्दी की क्रमिक संवृद्धि के लिए सारा कार्य कर लेना चाहिए था, किन्तु पिछले १५ वर्षों में एक ही आयोग नियुक्त किया जा सका, और मज़े की बात यह है कि आज तक यह नहीं जाना जा सका कि उस आयोग की सिफ़ारिशें क्या थीं, संसद् ने इन सिफ़ारिशों के बारे में राष्ट्रपति को क्या सुझाव दिये, और राष्ट्रपति ने क्या कुछ करना चाहा, और वह क्यों नहीं हो सका। संघीय सरकार के जिस विभाग को अनुच्छेद ३५१ के अनुसार कार्य करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी थी, वह देश के दुर्भाग्य से ऐसे लोगों के हाथ में रहा जिन्हें हिन्दी से प्रायः कोई लगाव नहीं था, बल्कि जो हिन्दी के कट्टर विरोधी रहे। उन्होंने दिखाने के लिए जनता का करोड़ों रुपया तो व्यय कर दिया, किन्तु हिन्दी का कोई ठोस कार्य नहीं करने दिया। उनकी कृपा से अँग्रेज़ी प्रतिष्ठित हुई है, हिन्दी नहीं। अनुमान किया गया है कि इस विभाग द्वारा बनाये गये शब्दों पर ३५० रु० प्रति शब्द के हिसाब से खर्च हो चुका है।

सरकारी कार्यालयों में पुराने बाबू और अधिकारी हिन्दी का विरोध करते रहे हैं। सरकारी नीति को चलाने वाले प्रशासकों ने उनके दिमाग़ में ठूँस-ठूँस कर भर दिया है कि अँग्रेज़ी जारी रहेगी और अँग्रेजी जानने वालों के हितों की रक्षा होती रहेगी। इसीलिए लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं में सेवा आदि के लिए उच्च भरती में, या केन्द्रीय सरकार के प्रत्येक विभाग में, अँग्रेज़ी का बोलबाला है; और इसीलिए विद्यार्थी अँग्रेज़ी की ओर प्रवृत्त हैं। अँग्रेज़ी शासन-काल में अँग्रेज़ी पढ़ने-वालों की इतनी संख्या नहीं थी जितनी कि आज है।

१०.४.३. अंग्रेज़ी का पक्ष—सन् १८३५ में लार्ड मैकाले ने कहा था—"सब लोग (?) इस बात से सहमत हैं कि भारत के इस भाग (?) में नेटिव (!) जो बोलियाँ बोलते हैं, उनमें साहित्यिक और वैज्ञानिक जानकारी की बातें नहीं हैं। इस के अलावा वे इतनी दरिद्र और अनगढ़ हैं कि जब तक उन्हें किसी और दिशा (?) से समृद्ध न किया जाय, उनमें किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद करना भी सम्भव न होगा।...भारतीयों का बौद्धिक विकास किसी ऐसी भाषा द्वारा ही संभव है जो उनमें बोली न जाती हो।" (कोष्ठक में दिये गये चिह्न हमारे हैं।)

यह विचारधारा पिछले १३० वर्षों में अँग्रेज़ीवादियों में बराबर उठती

रही है। डलहौज़ी और कर्ज़न से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक मैकाले के शब्दों को दोहराते आ रहे हैं। अँग्रेज़ी की महत्ता को उभारने के लिए कहा जाता है कि 'अँग्रेज़ी संसार की भाषाओं में सबसे बड़ी भाषा है'; 'अँग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है'; 'अँग्रेज़ी विश्व-ज्ञान की खिड़की है'; 'अँग्रेज़ी पढ़कर हम में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावना जगी'; 'देशी भाषाओं को अपनाने से भारत टुकड़े-टुकड़ हो जायगा'; 'राष्ट्रीय एकता अथवा भावैक्य को बनाये रखने के लिए अँग्रेज़ी एकमात्र साधन है, अतः अँग्रेज़ी भारत की एकमात्र राष्ट्रीय भाषा है'; 'अँग्रेज़ी की सहायता के बिना भारतीय भाषाओं का विकास संभव नहीं है'; 'अँग्रेज़ी समृद्ध और श्रेष्ठ भाषा है'।

टैगोर ने ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कहा था कि "हमने अपनी आँखें खोकर चश्मे लगा लिये हैं।" अकबर इलाहाबादी ने बड़े व्यंग्यपूर्ण ढंग से कहा था—

उन्हीं के मतलब की कह रहा हूँ ज़बान मेरी है बात उनकी,
उन्हीं की महफ़िल सँवारता हूँ, चराग़ मेरा है रात उनकी,
फ़क़त मेरा हाथ चल रहा है, उन्हीं का मतलब निकल रहा है,
उन्हीं का मज़मूँ, उन्हीं का काग़ज़, कलम उन्हीं का, दवात उनकी।

अँग्रेज़ी संसार की सबसे बड़ी भाषा नहीं है। विश्व की तीन अरब आबादी में चीनी बोलने-समझने वाले ७५ करोड़, अँग्रेज़ी बोलने-समझने वाले २६ करोड़ और हिन्दी बोलने वाले २५ करोड़ (समझनेवाले २८ करोड़) हैं। नौ प्रतिशत जनसमूह की अँग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी नहीं कहला सकती, यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने पांच भाषाओं को विचार-विनिमय का माध्यम माना है—चीनी, अँग्रेज़ी रूसी, फ़्रेंच और स्पेनी। हिन्दी भी अन्तर्राष्ट्रीय संघ की भाषाओं में स्थान पा सकती थी, किन्तु अँग्रेज़ीदान पदाधिकारियों की कृपा से और हमारी राजनीतिक अस्थिरता तथा राष्ट्रीय विशृंखलता तथा मानसिक दासता के कारण ऐसा नहीं हो पाया। अँग्रेज़ी विश्व-ज्ञान की खिड़की उन्हीं के लिए है जिन्होंने एक मात्र अँग्रेज़ी को देखा है। रूसी, जर्मन, फ़्रेंच, आदि अनेक खिड़कियाँ हैं जिनसे ज्ञान का प्रकाश आ सकता है, किन्तु हम उस ज्ञान से वंचित हैं। इस बात का गम्भीरता से सिंहावलोकन कर लेना चाहिये कि पिछली दो-तीन शताब्दियों में हमने अँग्रेज़ी से क्या-कुछ सीखा है। यदि १९वीं-२०वीं शती के भारतीय साहित्य में कोई निजी संदेश, निजी दर्शन, निजी मौलिकता नहीं है, तो इसका कारण यही है कि हमारे संस्कार अपने नहीं हैं, हमारे विचार अपने नहीं हैं...मँगनी के हैं। अँग्रेज़ी एक विदेशी भाषा है और उसके सीखने में समय और श्रम लगता है। हम भाषा ही सीखते रह जाते हैं, ज्ञान कहाँ पा सकते हैं? सौ-डेढ़ सौ वर्षों से हमारे वैज्ञानिक अँग्रेज़ी

के माध्यम से अभ्यास कर रहे हैं, फिर भी हम विज्ञान में पिछड़े हुए हैं। और, रूस बिना अँग्रेज़ी के आगे बढ़ रहा है ? इस से बुद्धिमानों को शिक्षा लेनी चाहिये। हम अँग्रेज़ी भाषा को बहिष्कृत नहीं करना चाहते। हम चाहते हैं कि उसे पढ़ाने की वैसी ही सुचारु व्यवस्था होनी चाहिये, जैसी किसी स्वतन्त्र देश में विदेशी भाषा की होती है, अथवा जैसी रूस आदि देशों में अँग्रेज़ी की है। किन्तु, वह एक ऐच्छिक भाषा के रूप में तो पढ़ायी जा सकती है, शिक्षा और शासन का माध्यम नहीं होनी चाहिये। इससे हमारे बच्चों के ज्ञान का विकास नहीं होता। हाई स्कूल की परीक्षा में बैठने वाले दस लाख परीक्षार्थियों में छः लाख अँग्रेज़ी में अनुत्तीर्ण होने के कारण रह जाते हैं। इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि में उनका ज्ञान इतना तो हो ही जाता है कि वे आगे बढ़ सकें, किन्तु अँग्रेज़ी की अनिवार्यता के कारण उन्हें उसी पिछले ज्ञान की जुगाली करने के लिए मजबूर किया जाता है। हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा अँग्रेज़ी के द्वारा नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति का प्रचार तुलसी की भाषा से होगा, शेक्सपियर की भाषा से नहीं। अँग्रेज़ी से जन-जन के साथ सम्पर्क भी स्थापित नहीं हो सकेगा और न ही करोड़ों भारतीयों को साक्षर और सुशिक्षित किया जा सकेगा। अँग्रेज़ी से एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ है जिसने भारतीयता को बहुत क्षति पहुँचायी है। इस से अभारतीय भारतीयों का एक दल बुरी तरह से देश की स्वाभाविक प्रगति में रोड़ा बना हुआ है। थोड़े से अँग्रेज़ीदानों की सुविधा के लिए शासन के व्यवहार अँग्रेज़ी में चलाना सर्वसाधारण लोगों के हितों की उपेक्षा करना है। अँग्रेज़ी या हिन्दी की श्रेष्ठता का प्रश्न नहीं उठना चाहिये। राजकार्य के लिए कोई भाषा हो सकती है, उसके लिए पहले वर्जिल, दाँते, शेक्सपियर या कालिदास पैदा करना आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्रता से पूर्व सभी देशी रियासतों में हिन्दी शासकीय भाषा रही है। अब उसकी सामर्थ्य पर सन्देह क्यों किया जा रहा है ? उसे हटाकर अँग्रज़ी क्यों कर दी गयी है ?

गांधी जी के ये वचन लोग क्यों भूलते जा रहे हैं, "आज की अँग्रेज़ी शिक्षा ने हमें निकम्मा और नक़लची बना दिया है"; "मैं अपने देश के बच्चों के लिए यह जरूरी नहीं समझता कि वे अपनी बुद्धि के लिए विदेशी भाषा का बोझ अपने सिर ढोयें और अपनी उगती हुई शक्तियों का ह्रास होने दें"; "मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं इससे उसी तरह चिपटा रहूँगा जिस तरह बच्चा अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। अगर अँग्रेज़ी उस जगह को हड़पना चाहती है जिसकी वह हक़दार नहीं है तो मैं उस से सख़्त नफ़रत करूँगा—वह कुछ लोगों के सीखने की चीज़ हो सकती है, लाखों-करोड़ों की नहीं।" "मैं यदि तानाशाह होता (मेरा बस चलता) तो आज ही विदेशी भाषा में शिक्षा का दिया जाना बन्द

कर देता। सारे अध्यापकों को स्वदेशी भाषाएँ अपनाने को मजबूर कर देता। जो आना-कानी करते, उन्हें बर्खास्त कर देता। मैं पाठ्यपुस्तकों के तैयार किये जाने का इन्तज़ार न करता।"

अँग्रेज़ीवादी आज जवाहरलाल नेहरू की बात को पकड़कर आग्रह कर रहे हैं कि अँग्रेज़ी राजभाषा बनी रहे। वे राष्ट्रपिता गांधी द्वारा दिये गये आश्वासनों की अवहेलना करते हैं।

शिक्षा और राजकार्य की भाषा का प्रश्न एक ही है। जब तक अँग्रेज़ी के साथ प्रतिष्ठा, सत्ता, नौकरी और पैसा जुड़ा हुआ है, तब तक लोगों से अपेक्षा करना कि वे अपने बच्चों को अँग्रेज़ी न पढ़ायें, मूर्खता होगी। और, जब तक ये अँग्रेज़ी के मानस पुत्र सत्तारूढ़ रहेंगे, तब तक अँग्रेज़ी की शिक्षा प्रचारित रहेगी, अनिवार्य भी कर दी जायगी, एवं राजभाषा बने रहने का दावा भी करती रहेगी।

गांधी जी ने इसीलिए तो कहा था कि "अँग्रेज़ी के इस व्यामोह से पिंड छुड़ाना स्वराज्य का एक अनिवार्य अंग है।"

जब तक अँग्रेज़ी की आकाश-वेल हमारी देशी भाषाओं के ऊपर छायी रहेगी, तब तक वे पनप नहीं पायेंगी। प्रयोग से ही ये भाषाएँ विकासशील होंगी। पहले इनकी स्थापना होगी, फिर निखार आयेगा। यह कभी नहीं हो सकता कि कोई भाषा पहले विकसित हो और तब उसे शिक्षा और शासन में स्थान मिले।

१०.५. उर्दू

१०.५.१. **नाम**--जिन चंगेज़ खाँ, हलाकू खाँ, बातू खाँ और उनकी बर्बर मंगोल सेनाओं की लूट, हिंसा, बर्बरता और क्रूरता की ख़ूनी कहानी से तुर्किस्तान, ख़ुरासान, अफ़ग़ानिस्तान, आरमेनिया और चीन के इतिहास के पन्ने रँगे पड़े हैं, उन के पड़ाव का नाम 'उर्दू' था। तुर्क और तातार जंगली लोग थे जिनका कोई एक घर-घाट नहीं था। इनका जीवन खेमों में बीतता था। प्रत्येक कुटुम्ब का एक अलग खेमा होता था। कभी-कभी कई कुटुम्ब एक-साथ रहते-सहते थे। कुटुम्बों का ऐसा समूह जहाँ डेरा जमा देता था, उसे उर्दू कहते थे। यह उनका दुर्ग-सा होता था। यही उनका नगर था। तुर्की में उर्दू नाम की जनजाति और उर्दा नाम की नगरी आज भी विद्यमान है। काशगर का नाम 'उर्दूकंद' और कराकरम का 'उर्दू-बालीग़' आज भी प्रचलित हैं। तुर्की से यह शब्द पश्चिम और पूर्व में पहुँचा। ओर्दा से पोलेंड में 'होर्दा', जर्मनी में 'होरदे', इंग्लैंड में 'होर्ड' (horde), स्वीडन में 'होर्द', इटली में ओर्दा' और फ्रांस में 'होर्दे' बना, जिसका अर्थ है जनजाति, असभ्य गण,

अगठित सेना। एशिया में 'उर्दू' शब्द ईरान के रास्ते चला। वहाँ भी इसका अर्थ जनजाति, शिविर और सेना हुआ। भारत में बाबर से पहले मंगोलों के कई आक्रमण हुए, किन्तु पठान सुल्तानों ने उन्हें तोषधन देकर अथवा परास्त करके लौटा दिया। सन् १५२६ ई० में तुर्कों और मंगोलों का सरदार बाबर भारत में आया। उसकी छावनी का नाम उर्दू था। मुग़लकालीन साहित्य में 'उर्दू-ए -आलिया', 'उर्दू-ए-लश्कर', 'उर्दू-ए-हज़रत', 'उर्दू-ए-बुज़ुर्ग', आदि अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनमें इसका अर्थ है छावनी, राजशिविर, राजसेना। अकबर के मन्त्री अबुलफ़ज़ल-कृत 'आईन-ए-अकबरी' में उर्दू का विस्तृत वर्णन मिलता है। उस उर्दू में चौकीदारों, चोबदारों, सिपाहियों, अमीरों और अधिकारियों के लिए अलग-अलग खेमे थे। बादशाह, बेगमों और बच्चों के खेमे मध्य में थे। खेमों के अतिरिक्त उर्दू में सभामण्डप, सुखपाल, तोपखाना, दीपगृह, वाद्यगृह, स्नानगृह, रसोईघर, शर्बतघर भी थे। (उर्दू यदि भाषा का नाम होता तो उस में शेर, ग़ज़लें और संज्ञा-सर्वनाम आदि होते, किन्तु) अकबर के उर्दू में बकौल अबुलफ़ज़ल, मकान और तम्बू थे; अस्तबल, बाग़-बगीचे और दफ़्तर थे। उसके चारों कोनों में चार बाज़ार थे, जिन्हें उर्दू बाज़ार कहते थे। इसी में एक टकसाल भी थी। अकबर और जहाँगीर के समय में जो सिक्के छावनी में ढाले जाते थे, उन पर 'उर्दू' शब्द छपा रहता था। उर्दू में एक विशेष अधिकारी होता था जिसका नाम 'काज़ी-ए-उर्दू' (छावनी का न्यायाधिकारी) बताया गया है। पुरुष युद्ध में चले जाते थे तो छावनी में महिलाओं की देखभाल के लिए विशेष दासियाँ तैनात थीं जिन्हें उर्दू-बेगियाँ कहते थे। वे सशस्त्र होती थीं और पुरुषों का बाना पहनती थीं।

उर्दू के साथ जुड़ा हुआ उर्दू बाज़ार आवश्यक था। सिपाहियों को नागरिक जनता से अलग ही रखना पड़ता था। याद रहे कि उर्दू का अर्थ बाज़ार नहीं है, बल्कि बाज़ार का नाम उर्दू के कारण पड़ा। छावनी के इस बाज़ार में एक मिली-जुली भाषा का विकास हुआ। भारतीय दुकानदार विदेशी ग्राहकों से और विदेशी ग्राहक देशी दुकानदारों से ऐसी भाषा में बातचीत करते ही होंगे जिसमें दोनों के तत्त्व आ जाते थे। किन्तु, ऐसी 'खिचड़ी' भाषा का विकास प्रत्येक छावनी के बाहर नहीं हो जाता था। शाहजहाँ बादशाह ने दिल्ली में पक्का क़िला बनवाया जिसका नाम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' (बड़ा क़िला) पड़ा और जिसे बाद में साधारण जन लाल क़िला कहने लगे। इस क़िला के बाहर पक्का बाज़ार बना। १८७५ के गदर में यह उर्दू बाज़ार नष्ट हो गया। आज उसके एक भाग को उर्दू बाज़ार कहते हैं। इस तरह के उर्दू बाज़ार दूसरी जगहों के क़िलों के बाहर भी बने।

औरंगज़ेब के समय से लेकर मुहम्मदशाह रँगीला के समय तक भाषा के

तीन स्तर थे—१. हिन्दी या हिन्दवी (सामान्य जनता की भाषा); २. ज़बान-ए-उर्दू-ए -मुअल्ला, अर्थात् बड़े क़िला की ज़बान; और ३. बाज़ारों और हिन्दू-मुसलमानों की आपसी भाषा जिसे तत्कालीन मुसलमान साहित्यिकों ने 'रेख़्ता' कहा। कबीर ने ठीक ही कहा है कि भाषा तो बहता नीर है। हिन्दी भाषा भी गंगा का धारा की तरह निरन्तर बहती चली जा रही है। इधर से क़िले की भाषा और बाज़ार की भाषा का नाला आ मिला। लाल क़िले के अन्दर की जो दरबारी भाषा थी, शनैः-शनैः उसका नाम बदला। 'ज़बान-ए-उर्दू'-ए-मुअल्ला (बड़े क़िले की भाषा) के स्थान पर कालान्तर में 'ज़बान-ए -उर्दू' (उर्दू की ज़बान) या 'अहले उर्दू की ज़बान' (उर्दू में रहने वालों की भाषा) नाम रह गया। यहाँ भी उर्दू का अर्थ क़िला या छावनी ही है, वरना उर्दू की ज़बान न कहकर उर्दू ज़बान कहते। मीर अम्मन, उस्ताद मसहफ़ी आदि ने इसे 'उर्दू की बोली' कहा है ("हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बुज़ुर्गों के मुंह से यों सुनी है"—मीर अम्मन, 'बाग़ो-बहार', पृ० ४)। इससे भी प्रकट है कि उर्दू स्थानवाची शब्द है। नाम की छँटाई करते-करते आगे चल कर उर्दू की बोली की जगह केवल 'उर्दू' शब्द रह गया। भाषा के लिए इसका सर्वप्रथम प्रयोग शायद मीर तक़ी ने सन् १७५५ ई० के बाद किया था; किन्तु १८वीं शती के अन्त तक इस अर्थ में यह नाम प्रचलित नहीं हो पाया था। ग्राहम बेली का मत तो यह है कि १८वीं शती के अन्त में भी उर्दू शब्द अज्ञात था। सन् १७६० में लाहौर के एक विद्वान् पीर मुरादशाह लखनऊ आये। वे लिखते हैं कि यहाँ आकर हमें एक नयी ज़बान का नाम सुनने को मिला जिसे ये लोग 'उर्दू' कह रहे हैं। १७६० में ही अब्दुल क़ादिर ने कुरआन के अनुवाद की भूमिका में कहा कि मैं अपने ग्रन्थ को रेख़्ता (फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी) में नहीं, शुद्ध हिन्दी में अनूदित कर रहा हूँ। सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण' (खण्ड १, भाग १) में टैरी (१६५५ ई०) से लेकर अपने (१६२७ ई०) तक, लगभग १२ पाश्चात्य विद्वानों के नाम दिये हैं जिन्होंने भारत की भाषाओं पर कुछ लिखा है। सभी ने हिन्दी या हिन्दुस्तानी का उल्लेख तो किया है, किन्तु उर्दू का नाम एक ने भी नहीं लिया।

१०.५.२. विकास—उर्दू वस्तुतः दरबारों में ही सीमित रही है। 'दास्तान-ए-उर्दू' के विद्वान् लेखक अदीब-उल-मुल्क़ नवाब नसीर हुसैन खाँ 'ख़याल' ने लिखा है—"लोग समझते हैं कि हमारी उर्दू खुले बाज़ारों और तंग कूचों की हवा खाकर हम तक पहुँची। मगर नहीं; उसने तो महलों में परवरिश पायी है।" (पृ० ५५) और "बेख़बर जो चाहें कहें, मगर उर्दू बादशाहों, महाराजों और हमारे उमरा की गोद में पलकर जवान हुई और क़िलों-महलों की हवा खाकर बाहर निकली और आज भी उन्हीं शाही मुतवसलीन और पुराने घरों के सिवा उसका सही ठिकाना कहीं और नहीं

मिल सकता।" (पृ० ७५)। उससे लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले यही बात इंशा अल्ला खाँ ने कही थी कि "उर्दू हिन्दुस्तान के बादशाह की और चंद अमीरों और उनके मुसाहिबों और बेगम-ओ-खानम की ज़बान है।" आगे हम फिर इस तथ्य का निरूपण करेंगे कि उर्दू एक वर्ग-विशेष की भाषा रही है।

क़िला और छावनी के बाहर जो मिश्रित भाषा प्रचलित हो गया थी, उसे 'रेख़्ता' कहा जाता था। 'रेख़्ता' शब्द पहले-पहल सअदी दक्खिनी ने १५८६ ई० में प्रयुक्त किया था। बाद में मीर, सौदा, ग़ालिब आदि कवियों ने अपनी भाषा को रेख़्ता ही कहा है। इसका अर्थ यह है कि पौने तीन सौ वर्ष तक बाज़ारी भाषा को मुसलमान साहित्यकार 'रेख़्ता' कहते रहे हैं। स्त्रियों की ऐसी भाषा के लिए 'रेख़्ती' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'रेख़्ता' का अर्थ 'गिरी-पड़ी' या 'मिली-जुली' भाषा बताया जाता है।

मुहम्मद शाह रँगीला के बाद मुग़ल-साम्राज्य का पतन होने लगा। क़िला की ज़बान, एवं गलियों और बाज़ारों की रेख़्ता एक होने लगी। सन् १८०० से १८५७ तक एक ही भाषा के दो वैकल्पिक नाम चलते रहे—उर्दू और रेख़्ता। अँग्रेज़ों ने 'उर्दू' शब्द को अधिक उभारा और कहा कि यह मुसलमानों की भाषा है। जहाँ हिन्दुओं की 'हिन्दी' को जीने का अधिकार है, वहाँ मुसलमानों की 'उर्दू' को भी यह अधिकार प्राप्त है।

१०.५.३. साम्प्रदायिकता—साम्प्रदायिकता ने भारत में उर्दू और हिन्दी की खाईं को अधिकाधिक गहरा और चौड़ा किया है। मुहम्मद शाह रँगीला के समय से मुसलमान कवि—अमीर ख़ुसरो से लेकर वली तक—अपने को हिन्दी के कवि कहा करते थे। दिल्ली के मीर, सौदा और दर्द ने तथा लखनऊ के नासिख़ और आतिश ने उस हिन्दी से संस्कृत और भारतीय शब्दों को चुन-चुन कर निकाला और उनकी जगह फ़ारसी-अरबी के शब्दों को भरा; यहाँ तक कि यह भाषा ही बदल गयी, इसका वातावरण ही विदेशी हो गया। जिसे 'उर्दू' का नाम दिया गया, उस भाषा में भीम और अर्जुन की जगह रुस्तम और सोहराब, प्रेमियों में क़ैस और फ़रहाद, कामदेव के स्थान पर यूसुफ़, उदारता के निदर्शन हातमताई, न्याय के नौशीरवाँ, वात्सल्य के हज़रत याक़ूब, धनपतियों में क़ारूँ, मनु की जगह 'नूह', गंगा और यमुना के स्थान पर दजला और फ़रात; कोयल और सारिका के स्थान पर बुलबुल और कुमरी, चम्पा और जूही के स्थान पर नरगिस और सोसन, हिमालय और विन्ध्याचल की जगह कोहकाफ़ और तूर, प्रयाग और हरिद्वार की जगह मक्का और मदीना, स्वर्ग और नरक की जगह बहिश्त और दोज़ख़, आत्मा और परमात्मा

की जगह रूह और ख़ुदा आ गये। उर्दू साहित्य में भारतीय संस्कृति, भारतीय विश्वास, भारतीय संदर्भ, सब लुप्त हो गये, और फिर कभी आने नहीं पाये। रूप विदेशी, छन्द विदेशी, उपमान विदेशी, लिपि विदेशी, सारा माहौल विदेशी रहा है। और जो देशी कहलाता है, वह भी साम्प्रदायिक है। उर्दू साहित्य के इतिहास में बीसियों हिन्दू साहित्यकारों के नाम लिये जा सकते थे, किन्तु उन्हें सदा नगण्य माना जाता रहा है। आदर्श लेखक मुसलमान माने जाते रहे हैं। आज़ाद के साहित्यिक इतिहास-ग्रन्थ 'आबे-हयात' में एक भी हिन्दू लेखक का नाम नहीं लिया गया। उर्दू साहित्य की एक दूसरा इतिहास-पुस्तक 'दरियाए लताफ़त' में 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक इन्शा अल्ला ने लिखा—"हिन्दुओं ने खाने-पीने, बोलचाल का सलीक़ा मुसलमान से सीखा है, किसी बात में भी उनका कौल (बात) वा फ़ेल (कर्म) क़ाबिले एतबार (विश्वसनीय) नहीं है।" ये बातें ऐसी थीं जिनके कारण उर्दू पर मुसलमानों की अपनी मोहर लग गयी। इन्शा ने ही एक जगह लिखा है कि 'मुहावरा-ए-उर्दू इबारत अज़ गोयाई अहले इस्लाम अस्त', अर्थात् उर्दू बोलना मुसलमानों का ही अधिकार है। सर सय्यद अहमद ख़ाँ ने भी कहा कि उर्दू मुसलमानों की ज़बान है। आज हम यह सुन रहे हैं कि उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों की सामान्य भाषा के रूप में विकसित हुई है, किन्तु दूसरी ओर मुसलिम एजूकेशनल कान्फ्रेंस जैसी संस्थाएँ माँग करती रहती हैं कि उर्दू एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक जाति की भाषा है, इसकी रक्षा और शिक्षा के लिए सरकार व्यवस्था करे।

हमने ऊपर संकेत किया है कि मुसलमानी काल में उर्दू का इतना विकास नहीं हुआ जितना अँग्रेज़ी शासन-काल में। मुसलमान बादशाहों के समय में साहित्य और शासन का माध्यम दो भाषाएँ थीं—फ़ारसी और हिन्दी। अँग्रेज़ों ने फ़ारसी को (१८३३ ई० में) हटाकर उर्दू को प्रतिष्ठित किया। यह कार्य ऐसा था जिससे अँग्रेज़ों की फूट डालने की नीति को बड़ा बल मिला। उर्दू-हिन्दी का झगड़ा स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक बराबर चलता रहा। इस संघर्ष में उर्दू की जो क्षति हुई, वह स्वतन्त्र भारत में प्रकट हो गयी। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और हैदराबाद में उर्दू के राजभाषा हो जाने के कारण नौकरीपेशा जातियों ने मजबूरी में उसे अपनाया तो अवश्य, किन्तु उस मजबूरी के हट जाते ही उर्दू का साम्राज्य समाप्त हो गया। बङ्गाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों के मुसलमानों को उर्दू से कभी कोई विशेष लगाव नहीं रहा। भारतीय पंजाब में मुसलमानी आबादी न रह जाने के कारण, उर्दू पढ़ने-लिखने वाले नहीं मिलते। रह गया, हिन्दी प्रदेश ! यहाँ भी सामान्य जन हिन्दी ही बोलते-समझते हैं। सन् १९२९ में ख्वाजा हसन निज़ामी ने कुरआन शरीफ़ के हिन्दी-अनुवाद की भूमिका में लिखा था कि एक करोड़ मुसलमान ऐसे हैं जो अब भी अपना सारा काम-

काज हिन्दी में करते हैं, और हिन्दी के सिवा और कुछ नहीं जानते। अब तो हिन्दी प्रदेश के जन-जन के लिए हिन्दी अनिवार्य है—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, सिख हो या ईसाई।

उर्दू पहले शाहज़ादों और उमरा की भाषा थी, वहाँ से निकली तो पढ़े-लिखे मुसलमानों ने इसे उठाया, अँग्रेज़ों ने इसे बढ़ावा दिया तो कुछ अधिक व्यापकता मिली, नौकरीपेशा हिन्दुओं ने भी उर्दू सीखी; किन्तु आज यह कश्मीर और पाकिस्तान की राजभाषा है, इसलिए नहीं कि वहाँ पंजाबा, सिन्धी, पश्तो या बँगला और कश्मीरी से इसका कोई प्रकृतिगत सम्बन्ध है, बल्कि इसलिए कि उर्दू के साथ मुसलमानी धर्म और संस्कृति को जोड़ दिया गया है। कुछ लोगों का तो यही कहना है कि देश के बँटवारे के साथ भाषा भी बँट चुकी है—पाकिस्तान की भाषा उर्दू और भारत की भाषा हिन्दी। हमारे संविधान की आठवीं अनुसूची में जिन भाषाओं के नाम गिनाये गये हैं, उनमें उर्दू भी है। किन्तु, संविधान द्वारा स्वीकृत भाषा की स्थिति को ठीक-ठीक न समझने के कारण बहुत से लोग एक विकट भ्रांति का शिकार बने हुए हैं। यह अनुसूची राज्य द्वारा मान्य भाषाओं की नहीं है; यह तो उन भाषाओं की सूची है जिनसे हिन्दी को अपने विकास में सहायता लेनी है। और, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हिन्दी उर्दू से भी कुछ-न-कुछ ग्रहण कर सकती है। उर्दू साहित्य की अपनी विशेषता है, एक हाय-हू या दर्दे दिल की अद्‌भुत भावात्मक व्याख्या है, शोखी और चुलबुलापन है, और है अनुशासित भाषा का प्रयोग। उर्दू में भारतीयता बहुत ही कम है, जो है उसे सुरक्षित करने की आवश्यकता है। उससे हिन्दी का हित है। उर्दू के हितैषियों की सम्मति है कि अलग लिपि में (जिसे फ़ारसी लिपि कहा जाता है और जिसका भारत की किसी भी लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है) अब उर्दू जीवित नहीं रह सकेगी। इसके रक्षणीय तत्त्वों को नागरी लिपि में उतार लेना चाहिए। ऐसा किया भी जा रहा है। पिछले १०-१५ वर्षों में कई ग्रन्थ लिप्यन्तरित हो चुके हैं। सच तो यह है कि उर्दू लिपि में इतनी पुस्तकें नहीं बिकतीं, जितनी नागरी लिपि में बिक रही हैं। आज फ़ारसी लिपि में उर्दू साहित्य का प्रकाशन करने वाले हतोत्साह हैं। बड़े-बड़े लेखकों में कृष्ण चन्दर, राजेन्द्र बेदी, ख्वाजा अहमद अब्बास, फ़िराक़ गोरखपुरी आदि अपना साहित्य नागरी में प्रकाशित करा रहे हैं।

उर्दू में संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करने की जो संगठित नीति रही है, वह भी एक आत्मघाती प्रवृत्ति रही है। अब पुनः बदली हुई परिस्थितियों के साथ उर्दू अपना रूप बदल रही है। भारत में ऐसा करना वांछनीय तो है ही, अनिवार्य भी है। और तो और पाकिस्तान में एक लहर चल रही है 'खालिस उर्दू' की। वहाँ पर

यह माँग की जा रही है कि भाषा को जनता के निकट रखने के लिए क्लिष्ट और दुरूह अरबी-फ़ारसी शब्दों का व्यवहार बंद किया जाय।

संक्षेप

हिन्दी मध्यदेश की सामान्य भाषा का नाम है। संकीर्ण क्षेत्र में हम उसे अवधी, ब्रज, बुन्देली, भोजपुरी, मारवाड़ी आदि नामों से पुकारते हैं। उस अपने छोटे घेरे से निकल कर प्रत्येक व्यक्ति को बड़े घेरे के लोगों से जिस भाषा में बातचीत करनी पड़ती है वह सामान्य हिन्दी है। कल वह ब्रजभाषा थी, आज वह खड़ीबोली है, आगे चलकर सांस्कृतिक, साहित्यिक या राजनीतिक महत्त्व पाकर उसी घेरे की कोई और बोली सामान्य भाषा बन सकती है। सामान्य भाषा किसी भी जनसमूह की व्यापक सामाजिकता का परिचायक होती है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग भी है जिसकी सामान्य भाषा तो हिन्दी नहीं है, पर दूसरी भाषा के रूप में वह सारे भारत में फिर कर इसी से काम चलाता है। तब इसकी सामाजिकता राष्ट्रव्यापी हो जाती है, और तब इसे राष्ट्रभाषा कहते हैं। राममोहन राय और दयानन्द से लेकर गांधी और अरविंद तक और मद्रास के नेताओं से लेकर महाराष्ट्र के महापुरुषों तक, सब ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है। राष्ट्र को एक करने में इसने हमारे पिछले संघर्ष-युग में देश का बड़ा उपकार किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय सम्मान की वस्तु है। भारत की कोई दूसरी भाषा नहीं है जो इस देश के बाहर भी बोली जाती हो, या जिसमें अनेक भाषाभाषियों ने साहित्य-रचना की हो। कोई विदेशी भाषा (जैसे अँग्रेज़ी) या वर्गीय अथवा क्षेत्रीय भाषा (जैसे उर्दू, बँगला, तामिल, पंजाबी आदि) इसका यह स्थान नहीं ले सकती। सारे दक्षिण भारत और बंगाल-महाराष्ट्र के लिए सुगम बनने के निमित्त हिन्दी द्वारा अधिकाधिक संस्कृत का आश्रय लेना स्वाभाविक है। इसलिए हिन्दुस्तानी या उर्दू का प्रश्न आज के संदर्भ में बेकार है। हम उर्दू के उत्तम गुणों को आत्मसात् करके हिन्दी का अधिक कल्याण कर सकते हैं। स्वतंन्त्र भारत के संविधान ने हिन्दी को राजभाषा के आसन पर बिठाया है। कुछ समय से विद्रोही और स्वार्थी लोग संगठित होकर इसका विरोध कर रहे हैं, किन्तु उन्हें जनशक्ति के सामने झुकना ही पड़ेगा।

---

११. साहित्यिक हिन्दी का विकास

११.१. प्रारम्भिक युग (···१४०० ई० तक)

यह कहना बहुत कठिन है कि साहित्य में हिन्दी का प्रयोग कब से आरम्भ होता है। सन् एक हज़ार ईस्वी के आसपास नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का उदय माना जाता है। किन्तु, ८वीं शताब्दी के सिद्धों की भाषा में हमें अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी स्पष्टतः दिखायी देती है। यों तो १४वीं शताब्दी तक निरन्तर अपभ्रंश साहित्य की प्रधानता रही है, फिर भी साहित्यिक भाषा में हिन्दी बोलियों के नमूने अवश्य मिल जाते हैं, और कुछ पंक्तियाँ तो मानो सामान्य हिन्दी की हैं। इस काल की उपलब्ध सामग्री में कुछ ऐतिहासिक अभिलेख——शिलालेख, ताम्रपत्र आदि; और कुछ साहित्यिक ग्रन्थ—सरहपा, शबरपा, लुइपा आदि सिद्धों, और गोरख, चरपट, चौरंगी, बालानाथ आदि नाथों की वाणियाँ; जैन कवियों पुष्पदन्त, मेरुतुङ्ग हेमचन्द्र, धर्मसूरि आदि की रचानाएँ; राजस्थान के वात और ख्यात; शार्ङ्गधर, नरपति नाल्ह, जगनिक आदि चारणों के चरित काव्य; मुल्ला दाऊद, अमीर ख़ुसरो और बन्दा नवाज़ गैसूदराज़ आदि मुसलमान कवियों की कृतियाँ; एवं स्वयंभू देव, अब्दुर्रहमान, बब्बर, विद्यापति, आदि महाकवियों का काव्य उपलब्ध है।

इस आदिकालीन सामाग्री के अध्ययन से भाषा के विकास की अनेक स्थितियों का परिचय मिलता है।

११.१. (१) पुराने अभिलेखों में संस्कृत का प्रयोग होता है। और तो और महमूद गज़नवी के एक सिक्के की भाषा देखिये—'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद'। प्रायः यह संस्कृत अशुद्ध भी है और लोकभाषा-मिश्रित भी। किन्तु, इससे लोकभाषा के स्वरूप की जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। पण्डित समाज में संस्कृत का ही समादर था। साहित्यिक ग्रन्थों में भी भाषा के कई स्तर हैं।

११.१. (२) स्वयंभू आदि महाकवियों की भाषा तत्कालीन साहित्यिक अप-भ्रंश है, किन्तु इसमें स्वाभाविक ढंग से आये हुए विकासमान हिन्दी के प्रयोग अवश्य मिल जाते हैं—

राम कहा (कथा) सरि एह सोहंती —(स्वयंभू)

घर एाहि पिग्र सुराहि पहिग्र (पथिक) ! मरा इछइ कहू —(बब्बर)

११.१. (३) जैन कवियों के चरित काव्यों की भाषा ग्रपभ्रंश-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है; तो भी तत्कालीन हिन्दी की ग्रनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

जिह दिसि दिसि तिमिरइँ मिलियाइँ
तिह दिसि दिसि जारइ मिलियाइँ । —(पुष्पदन्त)

झोली तुट्टवि कि न मुग्र, कि हुउ न छारहु पुंजु
हिण्डइ दोरी दोरियउ, जिमि मंकडु तिमि मुंज । —(मेरुतुंग)

भल्ला हुग्रा जु मारिग्रा बहिरिए महरा कंतु । —(हेमचन्द्र)

११.१. (४) विद्यापति ग्रौर "उक्ति व्यक्ति प्रकरए" की भाषा ग्रवहट्टयुक्त पूर्वी हिन्दी है—

को मैं भोजन मागब ।
जब जब धर्मु बाढ, तब तब पापु ग्रोहट । —(उक्ति व्यक्ति प्रकरए)

तोहर बदन सम चांद हो ग्रथि नाहिं, कैयो जतन बिह केला ।
कै बेरि काटि बनालय नव कै तैयो तुलित नहीं भेला । —(विद्यापति)

दाऊद की 'नूरक-चंदा' में खड़ीबोली के साथ पूर्वीपन भी है ।

११.१.(५) सिद्धों की वाएी ८वीं से १०वीं शताब्दी की है, फिर भी इन विद्रोही कवियों ने ग्रपनी भाषा को जन के ग्रधिक निकट रखा है, इसलिए इसमें हिन्दी के प्राथमिक रूप प्रायः ग्रधिक प्राप्त होते हैं—

जिम बाहिर तिम ग्रब्भन्तरु । चउदह भुवरो ठिग्रउ निरन्तरु । —(सरहपा)

ऊच्चा उच्चा पावत (पर्वत) तहिं बसइ सबरी बाली । —(शबरपा)

काग्रा तरुवर पंच-बिडाल । चंचल चीए (चित्त) पइठा काल ॥ —(लुइपा)

काज रा काररा रा एहु जुग्ती । सग्र-संवेग्ररा (संवेदन) बोलथि सान्ती —(शान्तिपा)

कालक्रम से नाथ इस ग्रादि युग के ग्रंतिम काल के कवि हैं । उनकी वाएी में हिन्दी (विशेषतः पश्चिमी हिन्दी) का रूप ग्रधिक निखरा हुग्रा है । तत्सम शब्दों की बहुलता भी ध्यान देने योग्य है । इसमें कई तरह के सम्मिश्ररा मिलते हैं ।—

ने जग्ने गुरु कहाँ गेला मुझ नींदड़ी न ग्रावै ॥
सोवता ग्रवधू जीवता मूवा । बोलता ग्रवधू प्यंजरै सूवा ॥ —(गोरख)

किसका बेटा किसकी बहू । ग्राप सवारथ मिलिया सहू । —(चरपट)

टूका खाया नगर भचाया, जैसा सहर का कूता ।
जोग जुगति की खबरि न जांणी, कान फड़ाइ विगूता ।। —(चौरंगी)

इसी परम्परा को बाद में नामदेव, त्रिलोचन, बेनी, सधना, कबीर आदि ने आगे चलाया, और इसे ही और आगे चलकर 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा जाने लगा।

अचल-बल तोडिया, अचल चलु थापिआ,
अघडु घडिआ तहा अपिउ पीआ । —(जयदेव)

मैं नाहीं कछु हउ नहीं, किछु आहि न मोरा,
अउसर लज्जा राखि लेहु, सधना जन तोरा । —(सधना)

धरि धरि खाइआ पिंडु बधाइया, खिंथा मुंदा माइया,
भूमि मसाण की भसम लगाई, गुर बिनु तत्तु न पाइया । —(त्रिलोचन)

११.१. (६) राजस्थान और उसके आसपास के प्रदेश में चार प्रकार की भाषा का प्रयोग होता रहा है। एक तो अपभ्रंश-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी, जिसका उल्लेख ११.१. (२) के अंतर्गत किया गया है; दूसरी डिंगल, तीसरी शुद्ध मरुभाषा (राजस्थानी), और चौथी पिंगल भाषा। याद रहे कि राजस्थान इस युग में भारतीय संस्कृति का एकमात्र प्रश्रय-स्थल रह गया था। उत्तरी भारत में मुसलमानी आक्रमणों के कारण बड़ी हलचल थी। हिन्दी के आदि काल का अधिकतम साहित्य राजस्थान से ही प्राप्त हुआ है। डिंगल उस राजस्थानी-मिश्रित कृत्रिम अपभ्रंश का नाम है जो दरबारी चारणों को परम्परागत रूढ़ि के रूप में प्राप्त हुई थी। डिंगल में अनुस्वारों और द्वित व्यंजनों की भरमार है, जैसे दंडं, सुदेसं, तुखारं, सुलत्तानं, तज्जिय, कम्मान, पच्चास, आदि। हिन्दी का रासो साहित्य डिंगल साहित्य कहलाता है। इसे हम वर्गीय (चारण) भाषा कह सकते हैं। इसका व्यवहार हिन्दी के आदि युग के साथ ही समाप्त हो गया।

डिंगल से अधिक व्यापक क्षेत्र की साहित्यिक भाषा 'पिंगल' कहलाती थी, जो सरस और कोमल तो थी ही, शास्त्र-सम्मत और व्यवस्थित भी थी। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', 'प्राकृत पैंगलम्', 'बुद्धिरासा', 'जयचंद प्रबंध' और गोपाल नायक के पदों में इसके रूप मिलतें हैं। पिंगल की रचनाएँ वास्तव में ब्रजभाषा की ही रचनाएँ हैं। ब्रजभाषा को ही काव्य-माषा होने के कारण 'पिंगल' कहा जाता था।

नमूने—जा अद्धंगे पव्वई सीसे गंगा जासु ।
हम्मारो दुरित्ता संहारो—(प्राकृत पैंगलम्)
हौं करऔं। —(उक्ति व्यक्ति प्रकरण)

शुद्ध राजस्थानी में इस युग का वात-साहित्य और ख्यात-साहित्य सर्व-

प्रसिद्ध है। दसवीं शती तक यह रूप पूर्णतया विकसित हो गया था। वात को हम कथा-साहित्य और ख्यात को इतिहास साहित्य कह सकते हैं।

११.१. (७) शुद्ध खड़ीबोली (हिन्दवी) के नमूने अमीर ख़ुसरो और बंदा-नवाज़ गेसूदराज़ की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। ख़ुसरो की भाषा में देशीपन और बंदानवाज़ की भाषा में (धार्मिक विषय होने के कारण) अरबी-फ़ारसीपन है।

नमूने—**एक थाल मोती से भरा। सब के सिर पर औंधा धरा।**
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।
—क्या जानूं वह कैसा है, जैसा देखा वैसा है।
—सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ। —(ख़ुसरो)

ख़ुसरो के दोहों में ब्रजभाषा का प्रयोग भी हुआ है—

ख़ुसरो रैनि सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरे मन पीउ को, दोऊ भये इक अंग॥ —(ख़ुसरो)

—ए भाई सुनो, जे कोई दूध पीवेगा सो तुमारी पैरवी करेगा।
—दुपट्टा उड़ा के मेये माशूक कूं ल्यायो।
—मैं सुनाया सो तूं सुन्या; अब तूं देख्या सो मैं देखूंगा।
—घर कियाँ यादाँ आतियाँ हैं। —(बन्दा नवाज़)

११.१. (८) सामान्य रूप से आदि काल की भाषा के सम्बन्ध में एक बात पुनः कह देने की आवश्यकता है कि हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पायी थी। भारतीय साहित्यिक परम्परा से अनभिज्ञ कवियों में हमें भाषा का अधिक निखरा हुआ रूप मिलता है, किन्तु इसे किसी विशेष भाषा या बोली का नाम नहीं दिया जा सकता। पश्चिमी हिन्दी का सारे हिन्दी देश में प्राधान्य था। अधिकतर रचनाओं में अपभ्रंश के अतिरिक्त डिंगल, ब्रजभाषा, मरुभाषा, और खड़ीबोली, ये सब पश्चिमी बोलियाँ सम्पृक्त रूप में मिल जाती हैं। पूर्वी हिन्दी की रचनाओं में भी पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट है। इस पर भी कुछ-एक कवि या लेखक (दो-चार ही सही) ऐसे मिल जाते हैं जिनकी भाषा को सामान्यतः एक नाम दिया जा सकता है।

इस युग को हम हिन्दी बोलियों का अंकुर-युग कह सकते हैं।

११.२. मध्य युग (१४००-१८०० ई०)

हिन्दी साहित्य के आदि युग में भाषा-सम्बन्धी जो प्रयोग चल रहे थे, उन में कुछ तो निश्चय ही सफलतापूर्वक आगे नहीं बढ़ाये जा सके। जिन भाषारूपों की परम्परा मध्य युग में चल पायी, उन में अनिश्चितता के स्थान पर निखार

आ गया। उनमें अपने-अपने प्रदेश की विशिष्टता स्पष्ट होने लगी। पूर्वी हिन्दी से अवधी और मैथिली; राजस्थानी से मरुभाषा; पिंगल से ब्रजभाषा; खुसरो आदि की भाषा से खड़ीबोली हिन्दवी; और गोरख, नामदेव आदि की मिली-जुली बोलियों वाली भाषा से कबीर आदि सन्तों की 'सधुक्कड़ी' भाषा का विकास हुआ जिसमें पश्चिमी हिन्दी का ही बाहुल्य था।

११.२. (१) पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत विद्यापति की वह साहित्यिक परम्परा बहुत आगे नहीं चल सकी जो अपने में विशाल भारतीय संस्कृति का समायोजन करने के लिए व्यापक रूप ग्रहण करना चाह रही थी। धीरे-धीरे क्षेत्रीय संस्कृति के लिए मिथिला प्रदेश में मैथिली को माध्यम बनाया जाने लगा। दूसरी हिन्दी बोलियों से सम्पर्क और आदान-प्रदान छूट जाने के कारण मैथिली साहित्य लोक-साहित्य की कोटि में गिना जाने लगा। यह साहित्य अत्यन्त समृद्ध है, किन्तु हिन्दी भाषा के विकास में, अपने अलग-थलगपन के कारण, इसका कोई विशेष योगदान नहीं है।

११.२. (२) साहित्यिक दृष्टि से पूर्वी हिन्दी की एक दूसरी बोली, अवधी, अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। जगनिक के 'आल्हाखंड' में अवधी के प्रयोग मिलते हैं अवश्य, किन्तु वे बाद के प्रक्षेप हैं। मूल 'आल्हाखंड' तो पश्चिमी हिन्दी में था। भाटों के माध्यम से उसमें पूर्वी प्रदेश में आकर अवधी का सम्मिश्रण हुआ। साहित्यिक अवधी का विकास इसी मध्य युग की बात है। मलूकदास, धरनीदास, जगजीवन, दूलन आदि सन्तों की भाषा में अवधी का पुट तो है, किन्तु वह सामान्यतः इस युग की वही हिन्दी है जिसे 'सधुक्कड़ी' कहा गया है।

इस काल में अवधी के तीन रूप निखर कर आये हैं—१. मलिक मुहम्मद जायसी, कुतबन, मंझन, आलम, नूर मुहम्मद, निसार आदि सूफ़ियों की ठेठ अवधी जिसमें अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्द और मुहावरे बड़े स्वाभाविक रूप से आये हैं; २. पुहुकर, नरपति व्यास, गोवर्धनदास, दुःखहरन आदि प्रेमाख्यानकार हिन्दू कवियों की पश्चिमी परम्परा से सम्पृक्त अवधी जिस में अपभ्रंश का क्षीण होता हुआ और संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है; और ३. गोस्वामी तुलसीदास, अग्रदास, लालदास आदि रामकवियों की साहित्यिक अवधी जो अपनी प्रांजलता और सुन्दरता के कारण तत्कालीन ब्रजभाषा से बराबरी कर सकती है।

सूफ़ी काव्य-परम्परा तो इस युग के बाद भी चलती रही है, किन्तु उसको हम लोक-साहित्य में ही स्थान दे सकते हैं। साहित्यिक अवधी की धारा तुलसी के बाद धीरे-धीरे क्षीण होती गयी और रीति-काव्य के उत्थान से कुछ पहले ही अवधी मात्र लोकभाषा बन कर रह गयी।

नमूने—अबहू जागु अजान, होत अब निसि भोर।

—तब किछु हाथ न लागहि, मूसि जांहि जब चोर ॥ —(जायसी)

—गएउ तहाँ सो हित-रंग बोरा। सरब मंगला माडिहि ओरा।

—आपु अकेले गएउ तेहि तरें। दरसन कै आसा मन धरें ॥ —(नूरमुहम्मद)

—रोवत नैन रकत कै धारा। टेसु फूलि बन भा रतनारा ॥

जौ सिंगार कोई बरबस करई। अनिल समान होइ सो जरई ॥—(दुःखहरन)

—छिन छिन प्रभु पद कमल विलोकी। रहिहहुं मुदित दिवस जिमि कोकी ॥

प्रभु करुणामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छाह किमि छेकी ॥ (तुलसी)

अवधी पश्चिमी प्रभाव से कभी मुक्त नहीं रही। इसके अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

११.२. (३) तीसरी भाषा जिसकी धारा धीरे-धीरे क्षीण ही होती गयी, वह है राजस्थानी। इस युग में डिंगल काव्य बोलने वाले चारण तो हुए हैं, किन्तु उनका स्वर मन्द होता गया है, उनकी भाव-ज्वाला ठण्डी पड़ती गयी है। मरुभाषा में लिखने वाले कल्लोल (ढोला मारू रा दूहा वाले), छीहल, ईसरदास, पृथ्वीराज (वेलि क्रिसन रुकमणी री वाले), दुरसाजी, नैणसी, आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हुए हैं, किन्तु व्यापक हिन्दी से सम्पर्क छूट जाने के कारण इनकी लोकप्रियता संकुचित थी। राजस्थान के अधिकतर बड़े-बड़े कवि ब्रजभाषा में लिखते थे। मीराबाई, माधौदास, महाराजा जसवन्त सिंह, नरहरिदास, वृन्द, जोधराज, आदि ब्रजभाषा के कवि थे, भले ही उन की भाषा में राजस्थानी का पुट स्पष्ट है।

११.२. (४) खड़ीबोली हिन्दवी के दो रूप हो गये—दक्खिनी हिन्दी और उत्तरी हिन्दवी। यह बात पहले ही स्पष्ट की गयी है कि आरम्भ से ही दक्खिनी हिन्दी इस्लाम के प्रचारकों के हाथ में पलने लगी थी। दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र से जाकर दक्षिण में बसने वाले हिन्दीभाषियों में शत-प्रतिशत लोग मुसलमान थे, और उनके साहित्य का विषय प्रधानतः धर्म था। अतः अरबी-फ़ारसी शब्दावली का प्राधान्य स्वाभाविक था। उत्तर में बहुत से मुसलमान कवि इस युग में हुए हैं जो दक्खिनी हिन्दी की शैली में लिखते रहे हैं। इस्लाम के साथ इसका सम्बन्ध हो जाने के कारण, हिन्दुओं ने इस बोली को अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनाया। बात यह थी कि उत्तर में दिल्ली के दरबार में फ़ारसी की धाक थी। दरबारी कवि या तो फ़ारसी में लिखते थे या ब्रजभाषा में। १७वीं शताब्दी में वली के दिल्ली आने पर उत्तर में भी फ़ारसीनिष्ठ हिन्दी का प्रचार बढ़ा। अब वह वर्गीय बोली बनने लगी जिसका नाम उर्दू पड़ा। जिस खड़ीबोली को खुसरो आदि ने

उठाया था, उस का प्रभाव तो सब बोलियों में बना रहा, और गंगाभाट, जटमल, प्राणनाथ आदि लेखकों ने इसको अपनी कृतियों का माध्यम भी बनाया, किन्तु खड़ी-बोली प्रदेश में कोई सांस्कृतिक या धार्मिक केन्द्र न होने के कारण और राजधानी के कुछ काल के लिए आगरा बदल जाने के कारण, खड़ीबोली साहित्य की धारा लुप्त हो गयी। नमूने—"आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुर्निश बजाय जुहार कर के अपनी बैठक पर जाया करें अपनी-अपनी मिसिल से।" —(चंद छंद बरनन की महिमा–गंगाभाट) "हैं बात की चीतौड़गढ़ को गोरा बादल हुआ है, जिनकी वार्ता की किताब हिन्दी में तैयार करी है।"—(गोराबादल, जटमल)

११.२. (५) कबीर बनारस के थे, दादू राजस्थान के और नानक पश्चिमी पंजाब के रहने वाले थे, किन्तु इन सबकी भाषा का स्वरूप बहुत-कुछ एक-सा है। सामान्यतः वह भाषा खड़ीबोली है और साथ में ब्रजभाषा के प्रयोग भी होते हैं, यद्यपि कबीर की इस भाषा में पूर्वीपन, दादू की भाषा में राजस्थानीपन और नानक की वाणी में पंजाबीपन अवश्य है। खड़ीबोली के सर्वनामों के साथ ब्रजभाषा के क्रियारूप और ब्रजभाषा के सर्वनामों के साथ खड़ीबोली के क्रियारूप सहज रूप में आ गये हैं। यह भाषा किसी क्षेत्र-विशेष की नहीं, बल्कि हिन्दी प्रदेश की तत्कालीन सामान्य भाषा है। उसे हीं लोगों ने 'सधुक्कड़ी', 'खिचड़ी' 'पँचरंगी' भाषा कहा है। सिखों के 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत पीपा, रैदास, धन्ना, गुरु अंगद, गुरु अर्जन देव, आदि की भाषा का आधारभूत स्वरूप यही है। प्रायः सन्तों की भाषा में अपनी-अपनी मातृ-भाषा का पुट रहता ही है। कबीर के अतिरिक्त रैदास, गुलाल, भीखा, शिवनारायण आदि की रचनाओं में भोजपुरी; मलूकदास, जगजीवन, दूलन आदि में अवधी; नानक के अतिरिक्त फ़रीद, गरीबदास और सिख गुरुओं की वाणियों में पंजाबी; दादू, रज्जब, सुन्दरदास, बषना, आदि में राजस्थानी; यारी, बावरी आदि, में ब्रजभाषा का अनुपात कुछ अधिक अवश्य है। किन्तु, सामान्यतः सभी संतों की भाषा में सभी प्रदेशों के शब्द और प्रयोग मिल जाते हैं। ये लोग भारत की सर्वसामान्य, सर्वमान्य भाषा का निर्माण कर रहे थे। इसी उद्देश्य से इन्होंने फ़ारसी और संस्कृत शब्दों से भी यथोचित आवश्यकतानुसार काम लिया। इनमें अधिक संख्या ऐसे सन्तों को थी जो अनपढ़ या कमपढ़ थे। अतः इनकी भाषा जनभाषा के निकट थी। इस में अक्खड़पन भी था, तीव्रता भी।

नमूने—**मन थिर रहै न घर ह्वै मेरा। इन मन घर जारे बहुतेरा॥**
घर तजि बन बाहरि कियो बास। घर बन देखौं दोऊ निरास॥—(कबीर)
—**कूपु भरिओ जैसे दादिरा, कछु देस बिदेस न बूझै।**
ऐसे मेरा मनु बिखिआ बिमोहिआ, कछु आरापार न सूझै।—(रविदास)

—जहँ देखा तहँ एक तूँ, सतिगुरि दीश्रा दिखाइ।
जोत निरंतरि जाणीअै, नानक सहजि सुभाइ। —(नानक)
—क्यौं बिसरै मेरा पीव पियारा। जीव की जीवरि प्रांण हमारा॥ —(दादू)
—पांच चोर परदेश पहूंता, मिलि खेलै ता मांही।
मनां जोर मुखि कहै गरीबी, असलि गरीबी नाही। —(हरिदास निरंजनी)
—बस्तु अमोलक गुप्तै पाई, ताती वाय न लावौं।
हरि हीरा मेरा ज्ञान जौहरी, ताही सों परखावौं॥ —(मलूकदास)
—जब लग जाण्या कहै, तब लग कछू न जाण।
जब रज्जब जाण्या तबै जाणिर भये अजाण॥ —(रज्जब)
—मूंदि गईं अँखियाँ तब तें, जब तें हिय में कछु हेरन लागे। —(धरनीदास)

११.२. (६) हिन्दी का सब से अधिक व्यापक, सुन्दर, परिष्कृत और सुसंस्कृत रूप वह है जिसे पिछले युग में पिंगल और इस युग में 'भाखा' और ब्रजभाषा कहा गया। कबीर की रमैनी पर ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव है। रविदास के कई पद शुद्ध ब्रजभाषा में हैं। दादू, नानक आदि सभी सन्तों की वाणी से ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, जिन में ब्रजभाषा है। तुलसी ने साहित्यिक अवधी में अपना महाकाव्य तो लिखा, किन्तु उन्हें भी ब्रजभाषा का महत्त्व स्वीकार करके 'विनयपत्रिका', 'कवितावली' और 'कृष्ण गीतावली' में समुचित स्थान देना पड़ा। जायसी आदि ठेठ अवधी के कवि भी ब्रजभाषा के प्रभाव से बचे हुए नहीं हैं। दक्खिन के कवियों को छोड़कर हिन्दी प्रदेश की सभी क्षेत्रीय भाषाओं पर ब्रजभाषा का व्यापक प्रभाव रहा है। कृष्ण-काव्य की तो मानो एकमात्र भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों ने ब्रज की बोली का परिष्कार करके और उसे साहित्यिक-परम्परा के साथ जोड़कर एक सांस्कृतिक धरातल पर लाकर भाषा बना दिया। कृष्ण-काव्य के लालित्य और माधुर्य का इतना प्रभाव पड़ा कि क्रमशः इसकी श्रेष्ठता सब क्षेत्रों में प्रतिष्ठित हो गयी। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक मैथिली, अवधी, राजस्थानी एवं हिन्दवी (दक्खिनी और खड़ीबोली) सब अपने-अपने क्षेत्र में सिकुड़ कर रह गयीं, बल्कि इन क्षेत्रों की काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही हो गयी। यदि रीतिकाल में आकर ब्रजभाषा ने जनभाषा से अपना सम्पर्क न छोड़ दिया होता, और वर्ण्य विषय को अत्यन्त संकुचित एवं सामाजिकताहीन न बना लिया होता तो इसके भाषागत रूप का अन्त इतनी जल्दी न हो जाता। केशव, रसखान, सेनापति, बिहारी, मतिराम, देव, दास, रसलीन, घनानन्द आदि कवियों ने इसे कोमल-कांत, अलंकृत, सरस, भावमयी और प्रौढ़ तो बना दिया; एवं भूषण, रसलीन आदि ने वीर रस में इसका प्रयोग करके इसको शृङ्गारी गर्त से निकालने की चेष्टा भी की;

किन्तु सामान्य रूप से ब्रजभाषा सामाजिक चेतना की नहीं, सामन्ती विलास की भाषा बनी रह गयीं ।

नमूने— मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनों, तोहि जसुमति कब जायो
कहा कहौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात
पुनि-पुनि कहतु कौन तुव माता, कौन तिहारो तात ॥ —(सूरदास)

—मधुबन सुधि बिसराय कै आये गोकुल माँहि,
इहाँ सबै प्रेमी बसैं तुमरा गाहक नाहिं । — (नन्ददास)

—पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ॥—(रसखान)

—वैरस के खानखाना, तेरे डर वैरी वधू
लीवे को उसास, मुख दीवै ही को दोस है । —(रहीम)

—आई उनै मुंह माँहि हँसी कहि तिय पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई ।
आँखिन तें गिरी आँसु की बूंद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाँई ॥ —(मतिराम)

—घरु-घरु डोलत दीन ह्वै, जनु-जनु जाचतु जाइ ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥ —(बिहारी)

— वृषभान कुमारि मुरारि की ओर बिलोकन कोरनि सो चितवै ।
चलिबे को धरै न करै मन नैक, भरै फिर फेरि भरै रितवै ॥ —(देव)

—छाक-छाक तुव नाक सौं, यों पूछत सब गाँव ।
किते निवासिन नासि के लह्यो नासिका नाँव ॥ —(रसलीन)

—ओट भएँ फिरि या जिय की मति जानत जीवनि ह्वै जु जनावत ।
मीत सुजान अनूठियै रीति जिवाय कै मारत मारि जियावत ॥ —(घनानन्द)

याद रहे कि इतनी दीर्घ परम्परा होने पर भी ब्रजभाषा का कोई परिनिष्ठित रूप नहीं बन पाया । कहने को तो इसे ब्रजभाषा कहा जाता है, किन्तु किसी कवि की भाषा में ग्वालियरी, किसी में बुंदेली, किसी में कन्नौजी, किसी में पूर्वी का पुट अधिक पाया जाता है; बल्कि एक ही कवि की रचना में भी कई बोलियों के रूप मिल जाते हैं ।

११.३. आधुनिक युग [सन् १८०० से]

आधुनिक युग खड़ीबोली का युग है ।

इस युग के आरम्भ में तीन प्रकार की भाषाशैलियाँ प्रचलित थीं--१. ब्रजभाषा; २. खड़ीबोली; ३. ब्रजभाष' और खड़ीबोली का मिश्रित रूप ।

११.३. (१) ब्रजभाषा में थोड़ा-बहुत गद्य मिलता तो है, किन्तु सामान्य रूप से यह काव्य-भाषा रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक काव्य में ब्रजभाषा का व्यवहार होता रहा। द्विजदेव, चन्द्रशेखर, पजनेस, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, आदि की काव्य-भाषा ब्रजभाषा थी। प्रायः ये सब कवि ब्रज-मण्डल के बाहर के थे। चलती भाषा से इनका कोई सम्पर्क नहीं था। इनकी भाषा में क्षेत्रीय शब्द ही नहीं, क्रियारूप और वाक्य-योजन भी अन्य बोलियों से आ गये हैं। इन लोगों का कहना था कि 'भाव अनूठा चाहिये, भाषा कैसिहु होय।' भारतेन्दु को छोड़कर अन्य कवियों की ब्रजभाषा ह्रासोन्मुख और आदर्शच्युत है। बीसवीं शती के प्रथम चरण में सत्यनारायण कविरत्न और जगन्नाथदास रत्नाकर ने इस गिरती-पड़ती भाषा को उबारने की चेष्टा की, किन्तु खड़ीबोली के वेगपूर्ण उत्थान और व्यापक प्रभाव के सामने इसने हथियार डाल दिये। नमूने—

—हाय इन कुंजन में पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समय में दुखदाइनि भई री लाजि,
चलन समैं में चल पल न दगा दई॥ —(द्विजदेव)

—इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरजौई नाहिं।
देखे बनैं न देखते, बिनु देखे अकुलाहिं॥ —(हरिश्चन्द्र)

—तब लखिहो जँह रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥ —(प्रतापनारायण मिश्र)

—सारे जग सों अधिक कियो का ऐसो हमने पाप।
नित नव दई निर्दई बनि जो देन हमैं सन्ताप॥ —(सत्यनारायण कविरत्न)

इस ब्रजभाषा में मानो अब जान नहीं रह गयी है। लोकभाषा के रूप में आज भी इसमें कविताएँ लिखी जाती हैं, किन्तु उनकी व्यापक ग्राह्यता समाप्त हो चुकी है।

११.३. (२) संत-परम्परा की मिलीजुली भाषा पलटू साहब, तुलसी साहब, निश्चलदास, शिवदयाल और सालिगराम की रचनाओं में प्रयुक्त हुई है, जैसे—

—धुबिया रहै पियासा जल बिच, लागि जाय मुंह लासा।
जल में रहै पिये नहि मूरख, सुन्दर जल है खासा॥ —(पलटू)

—मन है पूरा दूत, सूत से रचना ठानी।
ब्रह्मा कियो बनाइ रजोगुन ताको जानी। —(तुलसी साहब)

—सोता मन कस जागे भाई। सो उपाव मैं करूँ बखान।
अस उपाव हम बहुतक कीन्हें। तो भी यह मन जगा न आन ।।
—(शिवदयाल)

लौकिक साहित्य में ग्वाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि की भाषा में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के मिश्रित प्रयोग बहुधा प्राप्त होते हैं। ये सभी कवि ब्रजभाषा में भी लिखते थे और खड़ीबोली में भी। वे अपना माध्यम विषयानुसार बदल लेते थे। भारतेन्दु-युग के सब कवि गद्यकार भी थे, और गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग करते थे। अतः इनकी शब्दावली और वाक्य-योजना में दोनों बोलियों का सम्मिश्रण अनायास हो जाता था। जैसे—

—पी प्याला छक-छक आनन्द सौं, नितहिं सांझ अरु प्रात !
झूमत चलु डगमगी चाल से, मारि लाज को लात ।। —(भारतेन्दु)

—बनदेवी : अरी का तू याहि नायँ जानै ?
यह राजा चन्द्रभानु की बेटी चन्द्रावली है ।। —(भारतेन्दु)

—भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घिरी घटा बिपता की कारी।
सब गये बनज व्यापार इतै सों भागी।
उद्यम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी ।। —(प्रेमघन)

—बाना पहिरे बड़न का, करैं नीच का काम
ऐसे ठग को न मिलै, नरकहु में कहुँ ठाम ।। —(सुधाकर द्विवेदी)

खड़ीबोली के प्राबल्य, निखार और आदर्शीकरण के साथ यह मिश्रित भाषा भी समाप्त हो गयी।

११.३. (४) खड़ीबोली को फिर से हिन्दी साहित्य में लाने का श्रेय इस युग में अँग्रेज़ों को दिया जाना चाहिये। साहित्य की भाषा तो ब्रजभाषा थी, किन्तु जन-साधारण के दैनंदिन कार्य की भाषा खड़ीबोली ही थी। नवागंतुक अँग्रेज़ भी नित्य के व्यवहार की भाषा से परिचित होते थे, ब्रजभाषा से नहीं। अतः इन लोगों ने खड़ीबोली को ही प्रोत्साहित किया। इस संदर्भ में श्रीरामपुर मिशन और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज उल्लेखनीय हैं। ईसाई मिशनरियों ने बाइबिल की पुस्तकों के अनुवाद और प्रचारात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इनकी भाषा देखिए—

तब योहन यह कहके उसे वर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है।—(बाइबिल, १८१६ ई०)

उनकी दृष्टि बरामदे की ओर जा पड़ी तो क्या देखते हैं—वह अनाथ

बालक चटाई पर बैठा हुआ इंजील पढ़ रहा है और उसका अर्थ अपने कहार को समझाता जाता है। पहले तो साहेब को निश्चय हुआ। जाना, मैं स्वप्न देखता हूँ।
--(प्रियानाथ, १८५७ ई०)

जॉन गिलक्रिस्ट की अध्यक्षता में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के चार लेखकों ने खड़ीबोली की अनेक शैलियों की नींव रखी। इन्शा अल्ला खाँ ने उस रूप की स्थापना करनी चाही जिसे बाद में 'हिन्दुस्तानी' कहा गया, "जिसमें हिन्दी छुट और न किसी बोली का मेल है न पुट।" यह शैली कुछ लेखकों का विलास मात्र बनकर रह गयी। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में हरिऔध ने भी इसका प्रयोग किया। किन्तु, सफलता किसी को नहीं मिली, क्योंकि यह गढ़ी हुई भाषा थी। लल्लूजी लाल ने दिल्ली-आगरे की खड़ीबोली में 'प्रेमसागर' लिखा। उनकी भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित हिन्दी थी—

जब ऊषा सात वर्ष की भई तब उसके पिता ने शोणितपुर के निकट कैलाश था, यहाँ कई एक सखी-सहेलियों के साथ उसे शिव-पार्वती के पास पढ़ने को भेज दिया। ऊषा गणेश सरस्वती को मनाय हाथ जोड़ शिर नाय बोली।

यह भाषा भारतेन्दु युग तक बराबर चलती रही है। सदल मिश्र की भाषा व्यावहारिक है। किन्तु, उसमें पूर्वीपन खटकता है—

"मोतिन्ह से पूरा हुआ चौक में रतन जड़ा पीढ़ा रखवा उस पर बर-कन्या दोनों को पटम्बर वो बगलों में हीरे की माला पहिरा बैठाया और वेद-विधि से विवाह आरम्भ किया।"

इस तरह की भाषा पूर्वी प्रदेश के अनेक लेखकों में आज भी देखी जा सकती है।

सदासुख लाल की भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ थी—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो...। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और असत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये।"

राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द, पं० भीमसेन शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास, प्रसाद आदि की भाषा इसी शैली का क्रमशः परिष्कृत होता हुआ रूप है। यही शैली सामान्यतः आज हमारे निबन्ध-साहित्य में प्रयुक्त होती है। छायावादी काव्य में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। शिक्षित वर्ग की लिखित भाषा का साधारण स्वरूप भी यही है।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने चाहा था कि हिन्दी और उर्दू में बहुत अन्तर न रहे। वे कहते थे कि "हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े, चुनने में उन

शब्दों को लेना चाहिये जो आमफ़हम और ख़ासपसन्द हों, अर्थात् जिनको ज़्यादा आदमी समझ सकते हों।'' किन्तु, उनका अनुकरण करने वाले हिन्दी में बहुत थोड़े हुए हैं। प्रेमचन्द, सुदर्शन, अश्क आदि ने कथा-साहित्य में इसके थोड़े कम उर्दूनिष्ठ रूप को अपनाकर सफलता प्राप्त की है। प्रगतिवादी कवियों ने इसे काव्य में भी स्थान दिया है एवं गद्य साहित्य में भी; और आज भी एक अच्छा-खासा लोकप्रिय वर्ग है जो इस शैली को पसन्द करता है।

खड़ीबोली का परिनिष्ठित रूप बहुत धीरे-धीरे विकसित हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ की फ़ोर्ट विलियम कॉलेज वालों की हिन्दी और भारतेन्दु-युग के लेखकों की हिन्दी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है वह वस्तुतः शैलियों का है। व्याकरण-सम्बन्धी बहुरूपता, लिंग-वचन-कारक-प्रयोग में अस्थिरता, शब्द-चयन की अनिश्चितता, वाक्य-योजन की शिथिलता एवं अन्वयहीनता, यह सब कुछ प्रताप-नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट जैसे सावधान और अभ्यस्त लेखकों में भी मिलता है। भाषा का आदर्शीकरण और स्थिरीकरण करना महावीरप्रसाद द्विवेदी का काम था। उन्होंने यह अनुभव किया कि भाषा की एकरूपता और परिनिष्ठतता के लिए खड़ीबोली की एकच्छत्र सत्ता को मानना पड़ेगा और आंचलिक उपभाषाओं को छोड़ना ही पड़ेगा। साहित्य में दो भाषाओं का होना ही इसकी अस्थिरता और अनेक-रूपता का कारण है। इस धारणा के विरुद्ध ब्रजभाषा-प्रेमियों ने एक वितण्डावाद खड़ा किया। हिन्दी साहित्य के सौभाग्य से खड़ीबोली का पक्ष सबल रहा। इसके बाद द्विवेदी जी ने भाषागत दोषों को दूर करने का ज़िम्मा लिया। बीसियों लेखकों पर उनका प्रभाव पड़ा। दुर्भाग्य से द्विवेदी-युग में कोई बहुत बड़े साहित्यकार नहीं हुआ। जो थे, वे ब्रजभाषा छोड़कर खड़ीबोली की ओर प्रवृत्त हुए थे—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', भगवानदीन, बाल मुकुन्द आदि-आदि। भाषा का परिष्कार करने में सबसे अधिक योग मैथिलीशरण गुप्त ने दिया। छायावादी कवियों को यह श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने खड़ीबोली को काव्योपयुक्त बनाया। बाद में तो वह उन्मुक्त होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विचरने लगी। खड़ीबोली को परिनिष्ठित रूप देने में नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के अध्यापकों का बहुत हाथ है।

इस व्यक्तिवादी युग में हिन्दी की अनेक शैलियों का होना स्वाभाविक ही है। साहित्य में भले ही यह व्यक्तिवाद न हो, किन्तु यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति की भाषा दूसरे से भिन्न होती है। इसीलिए जितने लेखक हैं उतनी शैलियाँ हैं।

वर्तमान युग की खड़ीबोली सब के सामने है। नमूने देने की न तो आवश्य-कता है और न ही उनके लिए यहाँ कोई स्थान है।

११·४. उर्दू, संस्कृत और अँग्रेज़ी

अन्त में अरबी-फ़ारसी, संस्कृत और अँग्रेज़ी के प्रभाव पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है ।

भारतीयों के लिए अरबी-फ़ारसी को पचा पाना बहुत कठिन रहा है। इसी कारण से उर्दू हिन्दी से अलग हुई । उर्दू भारतीय संस्कृति की भाषा नहीं हो पायी । फिर भी जो अरबी-फ़ारसी शब्द जनता में प्रचलित रहे हैं, उनको आवश्यकतानुसार हिन्दी साहित्य में बराबर प्रयुक्त किया जाता रहा है । हिन्दी की यह उदारता है कि उसने सैकड़ों ऐसे शब्दों को खपा लिया है, वरना उर्दू में एक भी संस्कृत शब्द मान्य नहीं हो पाया । हिन्दी साहित्य के आदिकाल से, विशेषतः १३वीं शती से, हमें विदेशी शब्द मिलने लगते हैं । चारणों, सन्तों, सूफ़ियों, और यहाँ तक कि रामभक्तों के काव्य में इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है । आश्चर्य की बात है कि रीतिकाल में इनकी संख्या कम है । इसका कारण यह जान पड़ता है कि आरम्भ से ही कृष्ण-काव्य में (अर्थात् ब्रजभाषा में) इनका प्रयोग संकुचित रहा है । खड़ीबोली के उत्थान के साथ फिर इनका अनुपात बढ़ा , क्योंकि बहुत से साहित्यकार उर्दूदान भी थे । छायावादी युग में यह अनुपात घट गया, किन्तु प्रयोगवादी साहित्य में इसकी पुनः वृद्धि हुई और आज के व्यक्तिवादी युग में बहुत से साहित्यकार ऐसे हैं जिनकी भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्द प्रचुर मात्रा में होते हैं । सामान्यतः कथा-साहित्य में, गद्य और पद्य में, हास्य-व्यंग के स्थलों में, देश-काल-पात्र की अनुकुलता के कारण भी ऐसे शब्द अधिक प्रयुक्त होते हैं । एक बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि मध्ययुग में उर्दू के तद्भव रूप अधिक मिलते हैं और आधुनिक युग में उनके शुद्ध तत्सम रूपों का प्रयोग होता है ।

संस्कृत का प्रभाव क्रमशः बढ़ता ही रहा है, और आज यह स्थिति है कि ८०% संस्कृत का शब्द-भण्डार हिन्दी शब्दकोश में आ गया है । हिन्दी का साहित्यिक विकास उसकी संस्कृतनिष्ठता के साथ जुड़ा हुआ है । पिंगल में डिंगल की अपेक्षा और 'सधुक्कड़ी' में पिंगल की अपेक्षा अधिक संस्कृत शब्द है । संतमत के संस्थापकों—कबीर, दादू, नानक—में तत्सम शब्द कम हैं, किन्तु बाद में बढ़ते रहे हैं । सुन्दरदास में सबसे अधिक हैं । सूरदास आदि ने प्रायः संस्कृत शब्दों को लेकर उन्हें तद्भव रूप दिया, तुलसी ने तद्भव और तत्सम दोनों रूपों को ग्रहण किया । रीतिकाल में कृष्ण-कवियों की तद्भव-प्रधान परम्परा चलती रही । खड़ीबोली-काल में आरम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं—प्रधानता सदा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की रहती आयी है । छायावादी युग में संस्कृत शब्दों का प्रयोग सबसे अधिक हुआ, किन्तु प्रगतिवादियों ने अपनी

भाषा को जनभाषा के निकट रखने की चेष्टा में तत्सम तत्त्व को कम कर दिया। आज साहित्य में बौद्धिकता के आग्रह के कारण संस्कृत शब्द-भण्डार की प्रधानता अनिवार्य हो गयी है, बल्कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही परिनिष्ठित हिन्दी मानी जाती है। आज से तीस वर्ष पहले प्रसाद की नहीं, प्रेमचन्द की शैली को आदर्श माना जाता था, किन्तु आज स्थिति बिल्कुल उलट गयी है।

ब्रजभाषा साहित्य में ब्रजभूमि के बाहर के और खड़ीबोली साहित्य में कुरु-प्रदेश के बाहर के लोगों ने संस्कृत का अधिक आश्रय लिया है। यह स्वाभाविक ही है कि ठेठ ब्रजभाषा या खड़ीबोली से गहरा परिचय न होने के कारण उन्हें संस्कृत शब्दावली द्वारा अपने साहित्य को व्यापक बनाना अभीष्ट रहा है।

अँग्रेज़ी का प्रभाव राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह के समय से दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु-युग में नये विषयों के लिए बहुत कुछ प्रेरणा अँग्रेज़ी से मिलती थी। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि ने तो अँग्रेज़ी के तत्सम शब्दों तक का प्रयोग किया और वह भी रोमन लिपि में। कभी-कभी अँग्रेज़ी शब्द के साथ कोष्ठक में हिन्दी शब्द दे दिया गया और आगे चलकर अँग्रेज़ी का मात्र हिन्दी पर्याय प्रयुक्त होता रहा। यह शैली द्विवेदी-युग में जारी रही। हास्य-व्यंग्य में अँग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है, किन्तु सामान्यतः अनूदित शब्दों, मुहावरों और अभिव्यक्तियों की संख्या अधिक रही है। छायावादी युग में अँग्रेज़ी भाषा का अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखायी देता है। प्रगतिवादी युग में और उससे भी अधिक वर्तमान युग में अँग्रेज़ी के तत्सम शब्दों का अनुपात पहले की अपेक्षा बढ़ गया है। इसके अनेक कारण हैं। साहित्य में बौद्धिकता का प्राधान्य, समाज में आधुनिक संस्कृति की प्रगति, राजनीति में अँग्रेज़ीदानों की ज़बर्दस्ती, साहित्य में शहरी जीवन और मध्यम वर्ग का यथार्थवादी चित्रण, एवं अमेरिकी साहित्य का प्रभाव, और फ़ैशन।

संक्षेप

हिन्दी साहित्य के आदि युग में अपभ्रंश, अपभ्रंश-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी, सिद्धों और नाथों की सामान्य हिन्दी, डिंगल, पिंगल, मरुभाषा, पूर्वी और हिन्दवी का प्रयोग हुआ; किन्तु खड़ीबोली को छोड़कर किसी बोली का परिनिष्ठित रूप अभी विकसित नहीं हुआ था। मध्ययुग में आकर सांस्कृतिक और राजनीतिक केन्द्रों के बदल जाने के कारण राजस्थान में प्रचलित भाषारूप पिछड़ गये, और खड़ीबोली का व्यवहार क्रमशः कम होता गया। पूर्वी हिन्दी में से मैथिली सीमित क्षेत्र में और अवधी कुछ व्यापक साहित्यिक स्तर तक विकसित हुई, किन्तु इस काल के अन्त तक

दोनों की स्थिति लोकभाषा की-सी हो गयी। संत-साहित्य की भाषा में कई तत्त्व थे, किन्तु आगे चलकर इसे भी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिली, और यह साम्प्रदायिक क्षेत्र तक सीमित रह गयी। खड़ीबोली भी इस्लामी अधिकार के कारण एक वर्ग-विशेष तथा एक सम्प्रदाय-विशेष की भाषा मानी जाने लगी। बोल बाला हुआ ब्रजभाषा का। किन्तु बाद में, बहुधा कवि ऐसे हुए जिनका सीधा सम्बन्ध ब्रजभूमि से नहीं रहा। अनेकरूपता के कारण ब्रजभाषा का कोई मानक रूप नहीं बन सका। आधुनिक युग खड़ीबोली के विकास का युग है। आरम्भ से ही इसमें कई शैलियाँ रही हैं, किन्तु आज राजा लक्ष्मणसिंह, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल आदि से चली आती हुई संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही साहित्यिक भाषा मानी जाती है जिसके कलेवर में उर्दू, अंग्रेज़ी, पूर्वी, सब तरह की शैलियाँ समाहित हैं। यही इसकी उदारता, सर्वग्राह्यता, और सर्वव्यापिता का प्रमाण है।

१२. देवनागरी लिपि

१२. १. भारतीय लिपि की प्राचीनता

यूरोपीय विद्वान् कहते आये हैं कि सम्राट् अशोक से एक-आध शताब्दी पूर्व भारतीय लिपि का विकास हुआ होगा । मैक्समूलर के अनुसार चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व से पहले भारत में कोई लिखना नहीं जानता था । बर्नेल का कहना है कि भारतीयों ने चौथी या पाँचवीं शती ई० पू० में फ़िनिक जाति के लोगों से लिखने की कला सीखी थी । डॉ० बूह्लर ने बड़ी खोजवीन के बाद निश्चित किया कि ५०० ई० पू० से कुछ ही पहले भारतवासियों ने सामी (सेमेटिक) लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया था। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग (६३०-६४४ ई०) यहाँ से ६५० पुस्तकें बीस घोड़ों पर लाद कर ले गया था। ये ६५० ग्रंथ एक युग में नहीं लिख डाले गये थे। मैगस्थनीज़ (४थी शती ई० पू०) ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में जन्मपत्रियाँ बनाने और प्रस्तर-फलकों पर खोदकर लिखने का उल्लेख किया है । सिकन्दर के नावाधिपति निआर्कस ने अपने इतिवृत्त में लिखा है कि भारतवासी रूई के कपड़े या कागज़ पर अक्षर-योजना करते थे। यूरोपीय विद्वानों को अशोक के पहले कोई शिलालेख प्राप्त नहीं हो सके थे किन्तु इधर पिपरावाकोट (कपिलवस्तु के पास), बड़ली (जिला अजमेर) और जरासन्ध की राजधानी गिरिब्रज से प्राप्त पत्थरों पर फुटकर लेख मिल जाने से सिद्ध होता है कि भारतीय लिपि का इतिहास बहुत पुराना है । ये लेख ईस्वी सन् से ५-६ सौ वर्ष से भी अधिक पुराने हैं । राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में अनेक ताम्रपत्र और प्रस्तर-खण्ड संगृहीत हैं जिन पर की लिपि इन से भी पुरानी है। सिंधुघाटी की सभ्यता की खोज ने तो इन पश्चिमी विद्वानों को चकित कर दिया है। मोहन-जो-दड़ो (सिंध), हड़प्पा (पश्चिमी पंजाब) और रोपड़ (पूर्वी पंजाब) आदि स्थानों से प्राप्त मोहरों की लिपि आज से पाँच हज़ार वर्ष पुरानी बतायी जाती है। यह भी ध्यान रहे कि सिंधुघाटी की सभ्यता के काल से लेकर पिपरावाकोट अथवा अशोक के शिलालेखों के काल तक भारतवासी अनपढ़ नहीं थे। इतना विशाल वैदिक साहित्य बिना लिपि के नहीं लिखा गया। ऋग्वेद (६.५३.७) में 'आरिख' शब्द 'आलिख' का ही दूसरा रूप है। रेखाओं से ही लेखन-कार्य हुआ करता है। वेदों में ज्योतिष-सम्बन्धी अनेक सूत्र हैं। बिना अंक-

पात के इतनी कठिन गणना सम्भव नहीं थी। ऋग्वेद (१०।७१।४) में दृश्य और श्रव्य दो तरह की वाणी का स्पष्ट उल्लेख है। शुक्ल यजुर्वेद (१५।४) में 'क्षुरोभ्रजश्छन्दः' का अर्थ है 'विलेखन या खनन द्वारा भ्राजमान छन्द, अर्थात् अक्षरबद्ध छन्द'। अथर्ववेद (२०।२३।८) में आता है—क एवां कर्करीः आलिखत, अर्थात् इन पुरालेखों को किसने लिखा था? ऐतरेय ब्राह्मण (३ ३. ४; १.५) में छन्दों के अक्षरों का विश्लेषण मिलता है, एवं ग्रंथांश या पटल का उल्लेख हुआ है। 'संहिता' शब्द भी लिखित पाठों के संदर्भ में ही चरितार्थ हो सकता है, वरना कथ्य भाषा का संग्रह तो हो नहीं सकता था। वेदांगों में वेदमन्त्रों को स्वरतः-वर्णतः दोनों तरह पढ़ने की विधि हैं। स्वर का सम्बन्ध कथ्य भाषा से और वर्ण का लिखित भाषा से ही होता है। शिक्षा (ध्वनिशास्त्रीय) ग्रन्थों में लिखित भाषा का ही ध्वन्यात्मक विश्लेषण हुआ है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य (१५) में रेफ और रेफ के कारण व्यंजन का द्वित्व-विधान बताया गया है, जैसे कर्म्म, आर्य्य आदि में। यह बात केवल लिखित भाषा में ही कही जा सकती है। वाल्मीकि-कृत रामायण में 'ग्रन्थ' शब्द आया है, जैसे 'ग्रन्थेनानेन लोकोऽयमस्मात्संसारसंकटात्', अर्थात् यह ग्रन्थ (रामायण) लोक को संसार-संकट से बचाने के लिए है। पुरुषों को ही नहीं, वैदिक युग के इस अन्तिम भाग में, भारत की स्त्रियों को भी लिपि का ज्ञान था। हनुमान् सीता को विश्वास दिलाने के लिए राम की अँगूठी देते हुए कहते हैं—'रामनामांकितञ्चेदं पश्य देव्यगुंलीयकम्' (सुन्दरकाण्ड, २६.२), देवि, यह लो अँगूठी, देखो इस पर राम का नाम लिखा है। महाभारत में आता है, 'धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः' (शान्तिपर्व ३००/१२), तुमने तो वेद और धर्मशास्त्र दोनों तरह के शास्त्र पढ़े हैं। वेदव्यास का अर्थ ही है वेदों का सम्पादन करने वाला। क्या लिपि के बिना कोई सम्पादन-कार्य हो सकता है? वेदव्यास द्वारा लिखाये जाने और शीघ्रलिपिक गणेश द्वारा लिखे जाने की कथा तो बाद की है, किन्तु उसमें भी पुरानी परम्परा का संकेत है। यास्क ने स्पष्ट कहा है (१.६.५) कि मंत्रों की शिक्षा 'ग्रन्थतः' और 'अर्थतः' दी जाती थी। पाणिन ने लिपि, लिवि, लिपिकर, ग्रन्थ, वर्ण, अक्षर प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया है और बताया है कि उनके समय में 'शिशुक्रन्दीय' नाम का एक बालबोध प्रचलित था।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस बात को बहुत उभार कर कहा है कि ब्राह्मण लोग वेदों को कण्ठस्थ कर लेते थे; इसका कारण यही रहा होगा कि वे लिखना नहीं जानते थे। यह तो कोई तर्क नहीं है। इत्सिंग ने ८वीं शती में लिखा कि मैंने भारत में कई ब्राह्मण-वंश देखे हैं जिनमें लोगों ने सारे वेदमन्त्र कण्ठस्थ किये हुए हैं। बौद्ध समाज में भी धर्मग्रन्थों को कण्ठस्थ करने की रीति थी। इसका यह अर्थ

कदापि नहीं कि बौद्ध युग में लिपि थी ही नहीं। आज भी सैंकड़ों हिन्दू, सिख, मुसलमान मिल जायेंगे जिन्होंने अपने-अपने धर्मग्रन्थ कण्ठस्थ कर रखे हैं।

'जातक कथा' (छठी सदी ई० पू०) में स्वर्ण-पत्रों पर अक्षर खुदवाने, राजकीय पत्र और ऋणपत्र लिखने का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के प्रसंग में इस ग्रन्थ के अन्तर्गत लिखाई का वर्णन कई बार हुआ है। बुद्धवचन (विनयपिटक आदि) में लेखन-कला की प्रशंसा की गयी है। इस काल के 'सुत्तंत' ग्रन्थ में 'अक्खरिका' नाम के एक खेल का उल्लेख हुआ है जिसमें आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखे जाते थे। जैनों के 'समवाय सूत्र' नामक चौथे अंग में अठारह भारतीय लिपियों के नाम हैं। इनमें ब्राह्मी, यवनानी, खरोष्ट्रिका, उत्तरकुरुका, द्राविडी, और माहेश्वर उल्लेखनीय हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' (दूसरी शती ई० पू०) में ६४ लिपियों के नाम गिनाये गये हैं। ये ६४ की ६४ लिपियाँ दो-तीन शताब्दियों में एकदम नहीं उग आयी थीं। इसी पुस्तक में लिपिशाल और लिपिशास्त्र का उल्लेख भी हुआ है।

जिन भारतीय आचार्यों ने भाषा में एक-एक अंग-प्रत्यंग—ध्वनि, अक्षर, निरुक्त, अर्थ, व्याकरण—आदि पर इतने सूक्ष्म और भाषावैज्ञानिक ढंग से विचार किया है, और जिन ऋषियों ने इतना विशाल वैदिक वाङ्मय रचा है, वे लिखने-पढ़ने की कला में किसी से पीछे नहीं थे। यह सारा वाङ्मय बिना लिपि के रचा भी नहीं जा सकता था। वेदों के लिए जो 'श्रुति' शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि आर्य लोग सब कुछ सुन-सुना कर कण्ठस्थ कर लेते थे, बल्कि इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वे वेद की संहिताओं को गुरुमन्त्र के रूप में सुनकर हृदयङ्गम कर लेते थे। उतना भर उन्हें कण्ठस्थ रहता था। शेष साहित्य निश्चयपूर्वक लिखित रूप में ही था।

१२. २. भारत की प्राचीन लिपियाँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'ललितविस्तर' में प्राचीन भारत की चौंसठ लिपियों के नाम आते हैं। इनमें ब्राह्मी, खरोष्ठी, नाग, द्राविड़, कनारी, दक्षिण, अंग, वंग, मागध, दरद, खास्य, उत्तरकुरुद्वीपी, अपगौड़, पूर्वविदेह उल्लेखनीय हैं। किन्तु, यह स्थिति दूसरी शती ई० पू० के आसपास की थी जबकि बहुत-सी क्षेत्रीय और वर्गीय लिपियों का विकास हो गया था। ब्राह्मी और खरोष्ठी देश की राष्ट्रीय लिपियाँ थीं; इसीलिए इनके विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त है। शेष, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, प्रायः ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। हो सकता है कि इन में एक-आध लिपि ब्राह्मी से स्वतन्त्र हो, किन्तु इसका कोई प्रमाण या नमूना नहीं मिला है। इनसे अधिक प्राचीन लिपि केवल सिन्धु घाटी की थी।

१२.२.१. **सिन्धु घाटी की लिपि** ताम्र युग (ई० पू० ४००० से पहले) की बतायी गयी है। इस लिपि का प्रचार पूरे उत्तर-पश्चिमी भारत के अतिरिक्त बिलोचिस्तान, कंधार, और मकरान तक था। सिन्ध में मोहन-जो-दड़ो, पश्चिमी पाकिस्तान में हड़प्पा, और पूर्वी पंजाब में रोपड़ से जो पुरातत्त्व प्राप्त हुए हैं, उनमें मोहर लगाने वाले ऐसे ठप्पे भी हैं जो नरम पत्थर को खोदकर बनाये गये हैं। इन पर कुछ चिह्न हैं जो किन्हीं पुरुषों, देवताओं और स्थानों के नाम समझे गये हैं। ये पूरी तरह अभी पढ़े नहीं जा सके, किन्तु अनुमान किया गया है कि इन पर २५० और ४०० के बीच विभिन्न चिह्न हैं—कुछ चित्राक्षर और कुछ ध्वन्यक्षर; जैसे—
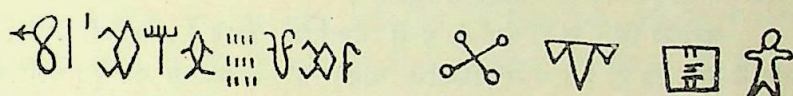
इनमें ब्राह्मी से मिलत-जुलते चिह्न भी हैं, जैसे—

कुछ विद्वान् इनका सम्बन्ध मिश्र की और कुछ सुमेर की लिपि से जोड़ते हैं। हो सकता है कि इन ठप्पों में भारतीय और अभारतीय दोनों लिपियों का प्रयोग हुआ हो, अथवा यह लिपि उस युग की हो जबकि चित्र संकेत-लिपि विकसित होकर अक्षरात्मक होने की संक्रमण-स्थिति में थी। इस मत को बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है कि यह लिपि पूर्णतया आर्यलिपि है। आर्य या असुर ही उस युग में सिन्धु घाटी में रहते थे और उन्होंने ही इस लिपि का प्रयोग किया। मिश्र और सुमेर में भी इन्हीं के माध्यम से भारतीय लिपि उन-उन देशों में पहुँची। शिल्प-विभाग, नयी दिल्ली के एस० के० राय ने अपनी गवेषणा के आधार पर हाल में यह दावा किया है कि सिन्धु घाटी के इन ठप्पों की भाषा प्राचीन संस्कृत या पालि थी।

१२.२.२. **खरोष्ठी**—तक्षशिला से थोड़ी दूर पर शाहबाज़गढ़ी और मानसेरा से कुछ अशोककालीन शिलालेख मिले हैं जिनकी लिपि दाहिने से बायें लिखी हुई है। विद्वानों का अनुमान है कि इस लिपि का प्रचार उत्तर-पश्चिमी भारत में एक हज़ार वर्ष तक रहा। डाडवेल, भंडारकर आदि इतिहासज्ञों का मत है कि खरोष्ठी का विकास अरमाइक या सीरियाई से हुआ था जो कि छठी शताब्दी ई० पू० में सम्पूर्ण हख़मानी साम्राज्य की राजलिपि थी और जिसका प्रयोग मिश्र से हिन्दुस्तान तक होता था। हख़मानी राज्य से स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी उत्तर-पश्चिमी सीमाक्षेत्र में ख़रोष्ठी का व्यवहार होता था।

खरोष्ठी नाम की व्युत्पत्ति खरोष्ठ (एक ऋषि का नाम, किन्हीं के मत से काशगर का पुराना नाम, और किन्हीं के अनुसार सीमा-प्रान्त के अर्धसभ्य लोगों का नाम—खर की तरह ओंठ हैं जिनके) में बतायी जाती है। डॉ० प्रज़िलुस्की के मतानुसार यह लिपि प्रारम्भ में गधे की खाल पर लिखी जाती थी—खरपृष्ठी से खरोष्ठी शब्द बना। डॉ० राजवली पाण्डेय का कहना है कि खर (गदहे) के ओष्ठ के समान भद्दे होने के कारण इन अक्षरों को खरोष्ठी कहते थे। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'खरोष्ठ' शब्द हिब्रू के खरोशेथ से बना है जिसका अर्थ 'लिखावट' है। किन्तु, ये सब मत आनुमानिक हैं, प्रामाणिक नहीं हैं।

खरोष्ठी लिपि न तो पूर्ण है, न ही वैज्ञानिक। इसके ११ वर्ण तो अरमाइक लिपि से लिये गये हैं, शेष में से अधिकांश ब्राह्मी लिपि के अपनाये गये हैं। वर्णों की कुल संख्या ३७ है। खरोष्ठी में दीर्घ स्वरों के चिह्न नहीं हैं—तब ह्रस्व-दीर्घ का अन्तर नहीं समझा गया था। मात्राएँ भी नहीं हैं। संयुक्त व्यंजन नहीं के बराबर हैं। कुल मिलाकर यह एक कामचलाऊ लिपि थी।

भारत की वर्तमान लिपियों के अध्ययन के लिए खरोष्ठी का कोई महत्त्व नहीं है।

नमूने के लिए खरोष्ठी से कुछ वर्ण नीचे दिये जा रहे हैं। ये क्रमशः अ, ओ, क, ज, ज़, द, न, प, ब, म, र, ल, व, ह के चिह्न हैं—

१२.२.३. ब्राह्मी

ब्राह्मी शताब्दियों तक भारत की व्यापक और श्रेष्ठ लिपि रही है। इसके प्राचीनतम नमूने पिपरावा, बिड़ली आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं जिनका काल पाँचवीं शती ई० पू० निर्धारित किया गया है। जिस विकसित रूप में यह उन शिलालेखों में है, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे कई शताब्दी पूर्व इसका प्रचलन रहा होगा। किन्तु, उस काल में भूर्ज और ताड़ के पत्तों और ऐसे ही दूसरे पदार्थों पर लिखने का रिवाज था जो टिकाऊ नहीं थे। अलबरूनी (११वीं शती) के समय में भी "लोग चमड़े पर नहीं, छाल, ताड़, भोजपत्र आदि पर लिखते थे," "ये पत्ते गज-भर लम्बे और बीता-भर चौड़े होते" थे। किन्तु, राजाज्ञाएँ पत्थरों पर लिखकर राज्य के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से प्रसारित की जाती थीं। यह तब से संभव हो सका जब से (लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से) भारत में कुछ बड़े-बड़े राज्य स्थापित होने लगे। इससे पहले इसकी आवश्यकता ही नहीं थी। ब्राह्मी

का विकास वैदिक काल की ही आर्यलिपि से हुआ । ब्राह्मी का अर्थ ही है वैदिकी । ब्रह्मावर्त से सम्बद्ध होने के कारण भी ब्राह्मी नाम पड़ सकता है । अलबरूनी, भारतीय पण्डितों के मुख से सुनकर, लिख गये हैं कि "हिन्दुओं की वर्णमाला पहले लुप्त हो गयी थी । बाद में व्यास पराशर ने ५० बर्णों की वर्णमाला खोज निकाली । कहते हैं कि पहले इन अक्षरों की संख्या कम थी, पर पीछे से धीरे-धीरे बढ़ती रही है । यह स्वाभाविक ही है ।" याद रहे कि व्यास का सम्बन्ध वेदों के सम्पादन से भी है, वेदपीठ (कुरुक्षेत्र) और ब्रह्मावर्त से भी । वेदों का सम्पादन सारस्वत (ब्राह्म) प्रदेश में ही हुआ था । सारस्वत प्रदेश की वैदिक संस्कृति रामायण-काल से कई सौ बर्ष पूर्व की है । तब तक आर्य गंगा-यमुना के दुआब तक नहीं फैले थे । डॉ० राजबली पाण्डेय का भी यही मत है कि ब्राह्मी का आविष्कार ब्रह्म या वेद की रक्षा के लिए किया गया था ।

इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिये कि इस लिपिमाला में वैदिक ध्वनियों के पूरे प्रतीक विद्यमान हैं । लृ लॄ ध्वनियाँ तो संस्कृत में रही ही नहीं, बौद्ध काल में ॠ और ऐ औ स्वर भी नहीं रह गये थे । ब्राह्मी वर्णमाला वैदिक ध्वनियों को लिखने के लिए बनी है ।

कुछ लोग ब्रह्मा से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं । चीनी विश्वकोष 'फ़ा-युअन-शुलिन' (६६८ ई०) में इसके प्रवर्तक ब्रह्म नाम के कोई आचार्य बताये गये हैं । ब्राह्मण अथवा शिक्षित वर्ग के प्रयोग में आने के कारण भी ब्राह्मी नाम पड़ सकता है ।

पाश्चात्य विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो यह आग्रह करता है कि ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से विकसित हुई है । डिरिंजर अपनी पुस्तक 'द अलफ़ाबेट' में अपना निर्णय देते हुए कहते हैं कि "किसी प्रकार भी भारतीय लिपि इस देश के लोगों की स्वतन्त्र उद्‌भावना नहीं हो सकती । यह अवश्य है कि बाहर से लेकर उसमें भारतीयों ने अद्‌भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन कर लिये ।" सेनार्ट, हालवे, विलसन, प्रिंसेप और एल्फ्रेड मुलर आदि मानते हैं कि ब्राह्मी लिपि यूनानी से उत्पन हुई है । बूह्लर ने इस मत का अच्छी तरह खण्डन किया है; क्योंकि भारतीय लिपि उससे अधिक पुरानी है । यूरोपीय विद्वानों में अधिकतर ऐसे हैं जो ब्राह्मी लिपि की उत्पति किसी सेमेटिक (सामी) लिपि से मानते हैं । बूह्लर और डिरिंजर आदि उत्तरी सामी से, टेलर और केनन आदि दक्षिणी सामी से, एवं वेबर, जेन्सन और बेनफ़े फ़िनीशी लिपि से इसका विकास मानते हैं । तीनों धारणाओं का समर्थन करने वाले विद्वान् नाना तर्क और तथ्य प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इनका खण्डन दूसरी धारणा के पोषक इतने युक्तियुक्त रूप में करते हैं कि हम तीनों पर

अविश्वास करने लगते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने ('इन्डियन पैलियोग्राफ़ी' में), गौरीशंकर हीरानंद ओझा ने ('भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में), कोलब्रुक, कनिंघम, फ़्लीट आदि ने अपनी-अपनी खोजों में इन सब के मतों का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि ब्राह्मी लिपि भारत की अपनी लिपि है। जैसा कि पहले कहा गया है भारतीय लेखन-कला सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल में भी ज्ञात थी। उसी सिन्धु-लिपि से, जो भाववर्णमूलक थी, ब्राह्मी के वर्णों का विकास हुआ। हाल की खोजों से यह अच्छी तरह प्रमाणित हुआ है। तुलना कीजिए—

सिन्धुलिपि	ब्राह्मी		नागरी	सिन्धुलिपि	ब्राह्मी		नागरी
⁘	∴	=	इ	ɸ	⊙	=	थ
+	+	=	क	□	□	=	ब
∧	∧	=	ग	⩓	⩓	=	श
(	(	=	ट	|	|	=	र
○	○	=	ठ	ꝛ	७	=	ह

अधिकतर यूरोपीय विद्वान् फ़िनीशी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। बताया जाता है कि फ़िनिक या फ़निक लोग दक्षिण भारत से व्यापार करते थे। इतिहासकारों ने पता लगाया है कि ये फ़निक भारत के ही पणिक या वणिक थे जो उत्तर-पश्चिम से चलकर ईरान में भ्रमण करते हुए मध्य एशिया में फैल गये थे। उनके इस नये बसाये जाने वाले देश को यूनानी में फ़िनिक और लैटिन में फ़िनिशिया कहा गया। फ़िनिक लोग व्यापारी तो थे ही, अपने साथ कोई भारतीय लिपि भी ले गये। व्यापारी लोगों को लिपि की सूक्ष्मताओं से कोई मतलब नहीं रहता। फ़िनीशी लिपि में २२ अक्षर थे—हो सकता है कि बाद में इसमें कुछ वर्ण पड़ोस के सीरिया और अरब देशों से अपना लिये गये हों। कालान्तर में फिनीशी और सामी लिपियों में थोड़ी-बहुत समानता आ गयी। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने ठीक ही कहा है कि सामी लिपि ब्राह्मी लिपि से ही है जिसे सामी लोगों ने भारतीय वणिकों से सीखा था। यह भी याद रहे कि उक्त सामी लिपियाँ अपूर्ण हैं और केवल १०-१२ भारतीय ध्वनियों को संकेतित करने में समर्थ हैं। ये दायें से बायें लिखी जाती हैं, किन्तु ब्राह्मी बायें से दायें चलती है। उनके अक्षरों में संयोग से केवल एक ज ब्राह्मी से मिलता-जलता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति भारत में वैदिक साहित्य की रक्षा के लिए अत्यन्त प्राचीन काल में हुई; और यह उन्हीं आचार्यों का आविष्कार है जो ध्वनिशास्त्र, व्याकरण और शब्दविज्ञान में विश्व के अग्रणी रहे हैं। जब तक इस मत का खण्डन करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते, हमें इसी को स्वीकार करना होगा।

ब्राह्मी की विशेषताओं के लिए आगे देखिए "देवनागरी की विशेषताएँ।"

१२.३. ब्राह्मी का विकास

विकास की दृष्टि से ब्राह्मी लिपि को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—प्रागैतिहासिक काल (वैदिक युग से छठी शती ई० पू० तक); बौद्धकाल (५वीं-छठी ई० पू० से ३५० ई० तक); और गुप्त-काल, जिसके बाद ब्राह्मी आधुनिक लिपियों के रूप में विकसित हो गयी।

प्राचीन काल में भारतीय आचार्यों ने लिपि का विकास कर लिया था, इसके प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। वह लिपि कैसी थी, इस बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता; क्योंकि जिस सामग्री पर वह लिखी जाती थी, वह नश्वर होने के कारण काल-कवलित हो गयी।

बौद्धकाल की जो सामग्री प्राप्त हुई है उसमें पिपरावा और बिड़ली के शिलालेख सबसे प्राचीन हैं। इन में स्वरों की दीर्घ मात्राएँ नहीं हैं। हो सकता है कि ये लेख ब्राह्मी की किसी प्रादेशिक शैली में लिखे गये हैं जिसमें मात्राओं की विशेष चिन्ता नहीं थी। आज भी महाजनी जैसी अनेक लिपियाँ हैं जिनमें मात्राओं का अभाव है। अशोककालीन लिपि इस दृष्टि से पूर्ण और शुद्ध है। अशोक के जो शिलालेख राज्य के विभिन्न केन्द्रों से मिले हैं, उन में भी थोड़ा-बहुत प्रादेशिक भेद है। पृष्ठ २६३ पर जो वर्ण दिये गये हैं, उनमें प्रत्येक का पहला रूप मौर्यकालीन सामान्य लिपि से लिया गया है। उन्हीं में दूसरा रूप प्रायः कुशान-युग में वर्तमान था। इन वर्णों में धड़ की रेखा में थोड़ी गोलाई आने लगी है, और वह रेखा कुछ-कुछ मुड़ गयी है। ये दोनों लक्षण अ, उ, क, ख, ग, घ, ङ, झ, ड, ण, द, फ, ब, र, ल, व, ष, स, ह में विशेषतया देखे जा सकते हैं। ए और ख के रूप में अधिक अन्तर आ गया है। शेष वर्ण प्रायः वैसे ही बने रहे हैं।

राष्ट्रकूट-सम्राट् दण्डीदुर्ग, राजा रुद्रदामन, और खारवेल के लेख भी इसी युग की लिपि में लिखे गये हैं। कुछ ताम्रपत्र और छोटे-छोटे शिलालेख कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं; किन्तु ब्राह्मी का सामान्य रूप वही है, यद्यपि कतिपय वर्णों की लिखावट में कुछ-न-कुछ परिवर्तन स्पष्ट देखा जा सकता है।

गुप्त-काल के आरम्भ में ही ब्राह्मी के दो भेद स्पष्ट हो गये थे—दक्षिणी और उत्तरी। दक्षिणी लिपि को संपुटशिरा और उत्तरी ब्राह्मी को शंकुशिरा कहा गया है। कालान्तर में दक्षिणी ब्राह्मी (पल्लव) से तेलगू और तमिल लिपियों का और बहुत बाद में तमिल से (७वीं शती में) वट्टेलुत्तु और तेलगू से (१४वीं शती में) कन्नड़ लिपि का विकास हुआ। इनके साथ उत्तरी शैली के घोलमेल से गुजरात और मैसूर में दक्षिणी का पश्चिमी रूप, और विन्ध्याचल के दक्षिण में मध्यप्रदेशी रूप ९वीं शती तक प्रचलित रहा है। अनेक सम्मिश्रणों के फलस्वरूप कलिंग लिपि बनी और दक्षिण में संस्कृत ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त लिपि 'ग्रन्थ' लिपि कहलायी। इस ग्रन्थ लिपि से वर्तमान मलयालम और तुलू लिपियाँ उत्पन्न हुई हैं। ब्राह्मी की दक्षिणी शाखा से ही भारत के बाहर सिंहल, हिंदेशिया, हिंदचीन, बर्मा, कोरिया, स्याम, बाली, बोर्नियो, कम्बोज और फ़िलिपाइन की लिपियाँ विकसित हुई हैं।

उत्तरी ब्राह्मी को गुप्त लिपि कहा गया है। इसका कारण यह है कि इसका व्यवहार दूर-दूर तक फैले हुए गुप्त-साम्राज्य में होता था। एक प्रकार से यह गुप्त सम्राटों की राजलिपि थी। तद्युगीन दानपत्रों और शिलालेखों में जो अक्षर प्राप्त हुए हैं, उनकी विशेषता पं० गौ० ही० ओझा ने वर्णित की है कि "गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियाँ नागरी से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगीं। सिरों के चिह्न जो पहले बहुत छोटे थे, बढ़कर कुछ लम्बे बनने लगे और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नये रूपों में परिणत हो गये।" पृष्ठ २६३ पर दिये गये वर्णों में क्रम से तीसरे वर्ण गुप्त-काल के लेखों से लिये गये हैं। ये वर्ण समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, कलचुरी राजाओं और मालवा के राजा यशोधर्मा के शिलालेखों से लेकर सम्पादित किये गये हैं।

१२.४. देवनागरी लिपि का विकास

गुप्त लिपि से छठी शती में सिद्धमात्रिका नाम की लिपि निकली, जिसे ब्रूह्लर ने न्यूनकोणीय लिपि कहा है। सन् ५८८-८९ ई० का बोधगया का प्रसिद्ध लेख सिद्धमात्रिका में है। अलबरूनी ने लिखा कि "सबसे अधिक प्रचलित लिपि सिद्धमात्रिका है जो कश्मीर में व्यवहृत होती है, पर यह वाराणसी में भी देखी गयी है। कन्नौज के आसपास भी यही अक्षर चलते हैं।" लगता है कि ११वीं-१२वीं शती में इसका चलन बन्द हो गया। कश्मीर की शारदा लिपि इस लिपि से विकसित हुई। शारदा का प्रयोग कश्मीरी ब्राह्मणों में अब भी होता है, किन्तु सामान्य रूप से कश्मीर में फ़ारसी लिपि अधिक प्रचलित है। पहाड़ की बहुत-सी लिपियाँ—डोगरी, चमेआली, कुल्लुई, किश्तवारी, सिरमौरी और जौनसारी—जो अपने-अपने सीमित क्षेत्र में
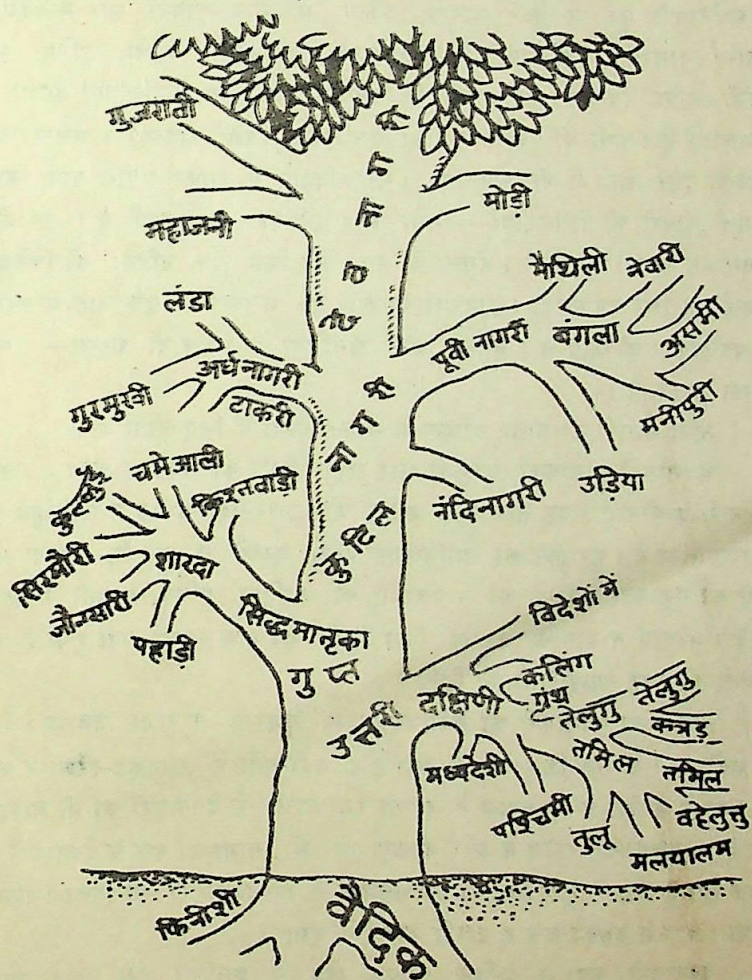
भारतीय लिपियों का विकास

प्रचलित हैं, शारदा लिपि की ही शाखाएँ हैं।

गुप्त लिपि ही कालान्तर में 'कुटिल लिपि' या 'कुटिलाक्षरा' में रूपान्तरित हुई। इस लिपि का प्रयोग ७वीं-८वीं शताब्दी में होता था। इस युग में अक्षरों की आकृति अधिक वक्र हो गयी। इस से चार लिपिभेदों का विकास हुआ—पश्चिम में अर्धनागरी, पूर्व में पूर्वी नागरी, दक्षिण में नन्दि नागरी और मध्यदेश में सामान्य नागरी। पूर्वी नागरी से १०वीं-११वीं शताब्दी में बँगला, उड़िया और मैथिली लिपियाँ विकसित हुईं। मनीपुरी, असमिया और नेवारी लिपियाँ बँगला की ही शाखाएँ हैं। कैथी भी पूर्वी नागरी का एक रूप है जिसे कायस्थों ने चलाया और देखादेखी दूसरे लोगों ने भी अपनाया। सारे बिहार में इसका प्रयोग पाया जाता है। पूर्वी नागरी की दो लिपियाँ—बँगला और उड़िया—महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों का वर्णक्रम नागरी का ही है। बँगला के स्वर कुछ भिन्न हैं। उड़िया की विशेषता है वर्ण के सिर पर पगड़ी। ताड़पत्रों पर लोहे की शलाका से लिखे जाने के कारण वर्ण वर्तुलाकार हो जाते थे। बँगला और असमिया में केवल दो अक्षरों—र और व—का अन्तर है।

नन्दि नागरी का प्रयोग दक्षिण में संस्कृत ग्रन्थों के लिए होता था।

अर्धनागरी से टाकरी, गुरमुखी और लंडा लिपि का विकास हुआ। टाकरी इन सब से प्राचीन है। यह नाम टक्क जाति, जो उत्तर-पूर्वी पंजाब में फैली हुई थी, के कारण बना है। गुरमुखी का आविष्कार सिख गुरुओं ने टाकरी, शारदा और नागरी की सहायता से किया था। पंजाबी का साहित्य अधिकतर इसी में लिखा गया है। मात्राएँ न होने के कारण जिस लिपि का नाम लण्डा पड़ा हुआ है, वह महाजनी की तरह व्यापारियों की लिपि है।

नागरी या देवनागरी का सर्वप्रथम प्रयोग गुजरात के राजा जयभट्ट (७वीं-८वीं शती ई०) के एक शिलालेख में हुआ है। ८वीं शती में राष्ट्रकूट-नरेशों ने और ९वीं शती में बड़ौदा के ध्रुवराज ने अपनी राजाज्ञाओं में देवनागरी का ही व्यवहार किया है। विजयनगर राज्य में और कोंकण में भी सामान्य रूप से देवनागरी का प्रचलन रहा है। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि देवनागरी का विकास दक्षिण में हुआ। बाद में इसका प्रचार उत्तरी भारत में हुआ।

देवनागरी सब से अधिक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित रही है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में प्राप्त प्रायः ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्तलेख नागरी में पाये जाते हैं। आज भी यह भारत की प्रधान लिपि है—हिन्दी, मराठी, नेपाली, संस्कृत, और सभी हिन्दी बोलियों में इसका प्रयोग होता है। १७वीं शती तक गुजरात में भी इसका प्रचार था।

८वीं से लेकर १८वीं शती तक की देवनागरी के विकास का अध्ययन निम्नलिखित राजाओं के पुरालेखों के आधार पर किया गया है।

मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा, मारवाड़ के परिहार राजा, मध्यदेश के हैहय, राठौर और कलचुरी राजा, कन्नौज के गहरवार और गुजरात के सोलंकी राजा।

पिछले पृष्ठ पर ८वीं से १०वीं शती के वर्णरूप चौथे स्तम्भ में और ११वीं शती के रूप पाँचवें स्तम्भ में दिये गये हैं। ग्यारहवीं शती में देवनागरी की वर्तमान वर्णमाला स्थिर हो गयी थी। पहले अ, आ, ध, प, म, य, श और स की शिरोरेखा दो अंशों में विभाजित थी, बाद में ये दोनों अंश मिलकर एक शिरोरेखा बन गयी। यह शिरोरेखा अक्षर की चौड़ाई जितनी लम्बी होती है। आधुनिक प्रवृत्ति शिरोरेखा को हटा देने की है। १७वीं शती से शिरोरेखा हटाकर गुजराती ने अपना स्वतन्त्र विकास कर लिया है। देवनागरी को जल्दी-जल्दी लिखने के लिए यह आवश्यक माना जा रहा है। अधिकतर अक्षरों की खड़ी पाई सीधी और लम्बी हो गयी है। अक्षरों की वर्तुल आकृति बहुत सुन्दर लगने लगी है।

पिछले पृष्ठों पर दो चित्र दिये गये हैं। एक में ब्राह्मी का सामान्य विकास दिखाया गया है, और दूसरे में मौर्यकाल की ब्राह्मी से लेकर आधुनिक काल (११वीं शती) तक के विकसित देवनागरी अक्षरों की आकृतियाँ दी गयी हैं।

१२.५. देवनागरी अङ्क

अंकों की उत्पत्ति सब से पहले भारत में हुई। अरबी में गणित को हिन्दसः इसीलिए कहा जाता है कि यह हिन्द से लिया गया है। वैदिक साहित्य में जो ज्योतिष-गणना के प्रमाण मिलते हैं, उन्हीं से अंकों के आरम्भ को जाना जा सकता है। जब से प्राचीन लिपि के चिह्न मिलते हैं, तभी से अंकों के चिह्न भी प्राप्त हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई विचार प्रस्तुत किये गये हैं। एक तो यह कि अनपढ़ आज भी जिस तरह रेखाएँ खींचकर गिनती करते हैं, जैसे — = ≡ ≢ ≢ #

—	=	≡	+	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	२	३	४	५	६	७	८	९

आदि। उसी प्रकार प्राचीन युग की गिनती के अंक विकसित हुए। एक विद्वान् का कहना है कि अंकों के सूचक शब्दों में प्रथम अक्षर—ए(क), द्व(ौ), त्र(ेणि) च(त्वारि), प(ञ्च), ष(ष्), स(प्त), अ(ष्ट), न(व) से इनका विकास हुआ है। अंकों की दो शैलियाँ हैं—प्राचीन शैली में शून्य का चिह्न नहीं था; दस, बीस, सौ, हजार आदि के लिए अलग-अलग चिह्न थे, किन्तु नवीन शैली में शून्य के कारण बहुत सरलता आ गयी है। यह नवीन शैली ५वीं शती ई० से प्रचलित है। विकास की पाँच दशाएँ पिछले चित्र से समझी जा सकती हैं।

१२·६. नाम

नागरी या देवनागरी नाम की व्युत्पत्ति के विभिन्न आधार सुझाये जाते हैं। कुछ विद्वानों ने बौद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तर' की नाग लिपि को ही नागरी माना है, किन्तु डॉ० बार्नेट का कहना है कि नाग लिपि का नागरी से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोग इसे गुजरात के 'नागर' ब्राह्मणों से और कुछ 'नगर' से व्युत्पन्न मानते हैं। देववाणी संस्कृत के लिखने में इसका प्रयोग होता रहा है, इस लिए नागरी के साथ 'देव' शब्द जोड़ कर 'देवनागरी' नाम बना लिया गया है। पं० आर० श्याम शास्त्री का मत है कि देवताओं की प्रतिमाओं के निर्माण से पहले उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी जो कई प्रकार के त्रिकोणादि यन्त्रों के बीच में लिखे जाते थे। ये यन्त्र 'देवनगर' कहलाते थे। इन 'देवनगरों' के चिह्नों को देवनागर कहा जाने लगा; उसी से देवनागरी नाम पड़ गया। एक मत यह भी है कि पाटलिपुत्र को 'नगर' और चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'देव' कहते थे। देवनगर से प्रचलित किये जाने के कारण इसे देवनागरी कहा गया है, जैसे दक्षिण में नन्दिनगर से नन्दिनागरी कहलायी।

१२·७· देवनागरी की विशेषताएँ

१२.७.१ गुण—देवनागरी भारत की प्रधान लिपि है। संविधान ने इसे राज-लिपि का पद प्रदान किया है। हिन्दी और हिन्दी बोलियाँ ही नहीं, मराठी और नेपाली भी इसी लिपि में लिखी जाती हैं। सारा संस्कृत वाङ्मय, चाहे वह उत्तर भारत का हो चाहे दक्षिण भारत का, देवनागरी में मिलता है। बहुत-सा पंजाबी और गुजराती साहित्य भी वर्तमान युग में इस लिपि में लिखा जा रहा है। हजारों बंगाली और द्रविड़ भाषाभाषी भी देवनागरी लिपि से परिचित हैं। लगभग सभी राष्ट्रवादी मनीषियों का मत है कि सब भारतीय भाषाओं में एक ही लिपि हो तो तत्तद् भाषा के साहित्य का अधिकाधिक प्रचार और भावात्मक एकता का प्रसार हो, एवं वह लिपि नागरी ही हो सकती है, क्योंकि प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य इसमें लिखा ही

जा रहा है। अशोक के समय में भी भाषाएं भले ही अनेक थीं, लिपि एक ही थी। मुसलगानी शासन-काल में मी सारे साम्राज्य की एक ही लिपि देवनागरी होती थी।

देवनागरी अधिकांशतः वर्णात्मक लिपि है। केवल व्यंजन के पूर्ण रूप में कोई और स्वर न लगा हो तो ह्रस्व **अ** जुड़ा रहता है। इस एक **अ** के कारण लोग इसे अर्ध-अक्षरात्मक लिपि कह देते हैं। इसमें १४ स्वर और ३५ मूल व्यंजन और संयुक्त व्यंजन क्ष, त्र, ज्ञ हैं। मूलतः ये अक्षर वैदिक और संस्कृत के लिए बने हैं। हिन्दी प्रदेश में **ड़, ढ़** और **क़, ख़, ग़, ज़, फ़** अतिरिक्त चिह्न हैं। ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन के लिए कुछ अतिरिक्त चिह्न भी गढ़ लिये गये हैं। आशा की जा रही है कि सभी भारतीय भाषाओं की ध्वनियों की उपयोगिता की दृष्टि से इस लिपि में ५-६ चिह्न और बढ़ाये जायँगे।

अ को छोड़ कर अन्य स्वरों की ह्रस्व और दीर्घ मात्राएँ अलग से विद्यमान हैं। हिन्दी ह्रस्व **ए॒, ओ॒** के लिए सामान्य लिपि में भेदक चिह्न नहीं हैं।

स्वरों और व्यंजनों का क्रम बड़ी वैज्ञानिक रीति से रखा गया है। स्वरों की ह्रस्वता और दीर्घता एक ही आकृति में थोड़ा-सा अन्तर करके दिखा दी गयी है। व्यंजनों में पहले २५ स्पर्श हैं, फिर अन्तःस्थ और ऊष्म। स्पर्शों के पाँच वर्ग हैं। वर्ग के पहले और दूसरे अघोष हैं—पहले अल्पप्राण, दूसरे महाप्राण। वर्ग के तीसरे, चौथे और पाँचवें सघोष हैं—तीसरे अल्पप्राण, चौथे महाप्राण और पाँचवें अनुनासिक।

देवनागरी वर्णों के नाम उच्चारण के अनुरूप हैं। तुलना कीजिए कि उर्दू **बे, जीम, दाल, काफ़, तोय,** अथवा अँग्रेज़ी **ए, बी एफ़, आई, क्यू, आर** आदि में कोई एक ढंग नहीं है। देवनागरी सब से सुगम लिपि है।

व्यंजन-संयोग अंकित करने की पद्धति पूर्ण है।

प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग चिह्न और एक चिह्न की एक ही ध्वनि इस वैज्ञानिक लिपि की अन्यतम विशेषता है। ऐसा नहीं कि अंग्रेज़ी की तरह S की चार ध्वनियाँ ज़, स, श और य हैं, या **क** ध्वनि के लिए C, K, Q तीन का प्रयोग होता है।

इस लिपि का प्रत्येक वर्ण उच्चरित होता है। अँग्रेज़ी Half में जैसे l मूक है, या Knife में K। ऐसे मूक वर्ण देवनागरी में नहीं हैं।

देवनागरी वर्णों की लिखावट कलात्मक, सुन्दर और सुगठित है और इससे अपेक्षाकृत कम जगह लगती है, जैसे हिं० चन्द्रिका, अँग्रे० Chandrika अथवा हिं० धर्म, अँग्रे० Dharma.

१२.७.२. **दोष**—कोई भी लिपि मूलतः जिस भाषा के लिए बनती है, उसके लिए तो पर्याप्त और उपयुक्त होती है, किन्तु कालान्तर में ध्वनियाँ बदल जाती हैं और चिह्न वही रह जाते हैं; तो किन्हीं चिह्नों का अभाव और किन्हीं का

आधिक्य पैदा हो जाता है। हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों में ह्रस्व ए, ओ हैं, इनके चिह्न व्यवहार में लाने की आवश्यकता है।

अखिल भारतीय लिपि बनाने के लिए इस में द्रविड़ के ष, र, न की, मराठी च, ज की, और कश्मीरी वर्त्स्य च, ज, थ की व्यवस्था हो जानी चाहिये। मराठी का ळ तो स्वीकृत कर लिया गया है।

मराठी से अ, छ, श ल, झ, ज्ञ, क्ष अपनाये जाने के कारण लिपि में वर्णद्वैध आ गया है। सुधारकों ने इन्हीं को अपनाने का आग्रह किया है—सरकारी काग़ज़ात में इन्हीं का प्रचलन होगा, दूसरों का नहीं। इस प्रकार लिपि का स्थिरीकरण किया गया है।

कहा जाता है कि अक्षरात्मक होने के कारण इसका ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन नहीं हो सकता, जैसे धर्म में पाँच ध्वनियाँ हैं—ध् अ र् म् अ, किन्तु लिखी गयी हैं तीन। यदि मात्राओं का ध्यान रखें (वे स्वर ही तो हैं), तो यह कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

ख के बारे में कहा गया है कि इसे रव भी पढ़ा जा सकता है। यह सुझाया गया है कि इसकी जगह जुड़वाँ ख का प्रयोग करना चाहिये।

संयुक्त व्यंजनों को लिखने की कई पद्धतियाँ हैं—कभी तो पहला व्यंजन आधा होता है, जैसे सप्त या अम्ल में, कभी दूसरा आधा लिखा जाता है, जैसे चिह्न या ट्राम में; कभी संयोग ऊपर-नीचे होता है, जैसे सत्त या श्रु क्र में और रूप ही नया हो जाता है, जैसे क्त (क्त), क्ष (क्ष), त्र (त्र), ज्ञ (ज्ञ) का। धर्म, प्रेम, राष्ट्र में र् की अनेक आकृतियाँ हैं। सुझाया यह गया है कि पाई वाले व्यंजनों के आधे रूप और शेष के हलन्त रूप लिखने चाहिये, जैसे प्रेम, कष्ट, ट्राम।

मात्राएँ आगे-पीछे नीचे-ऊपर सब जगह लगती हैं, जैसे ि ु े ी—इससे टंकण और उच्चारण में विशेष कठिनाई होती है। किन्तु, हमें लगता है कि यह कठिनाई भी काल्पनिक है।

कहते हैं कि वर्णों, संयुक्ताक्षरों आदि की संख्या मुद्रण में ४०३ तक जा पहुँचती है। इसलिए इनके रूपों में छँटाई होनी चाहिये। काका कालेलकर के सुझाव से वर्धा में अ की बारहखड़ी चलती है, जैसे अि अी अु अू आदि। यह भी आग्रह किया जाता है कि यदि मात्राएँ व्यंजन के बाद लगायी जायें, जैसे क ु, ल ु, ख े ल में, तो करण टाइपों की आवश्यकता नहीं होगी। विनोबा भावे कई वर्षों के ऐसे प्रयोग 'भूदान-यज्ञ' पत्रिका, वाराणसी, के माध्यम से कर रहे हैं। उन्होंने ह्रस्व इ की मात्रा *j* सुझायी है। संयुक्ताक्षरों में हलन्त का प्रयोग करने से टाइपों की बचत

हो सकती है। कुछ लोग आग्रह करते हैं कि मशीन को ही असली लिपि का ठीक-ठीक मुद्रण करने के उपयुक्त बनाना चाहिये—हमें मशीन का दास नहीं हो जाना है।

त्वरालेखन के लिए शिरोरेखा को हटा देने का आग्रह किया जाता है।

लेखन और मुद्रण में कभी-कभी घ म की शिरोरेखा इतनी बढ़ जाती है कि घ म का भ्रम होता है, अतः सुझाया गया है कि घ और म का प्रयोग किया जाय।

अंकों में ५ ५, ६ ' ६ ९ ९ का द्वैधभाव नहीं रहना चाहिये। संविधान के अनुसार कुछ समय से हिन्दी में अँग्रेज़ी अंक भी चल रहे हैं, किन्तु ऐसी बातों को जैसे साहित्य में कटि को ४ के अंक के समान बताया गया है, नागरी अंकों के न रहने पर कौन समझ पायगा?

१२.७.३. सुधारों का इतिहास—ऊपर कुछ लिपि-सुधारों की ओर संकेत किया गया है। इनका श्रीगणेश लोकमान्य तिलक ने सन् १९०४ में अपने पत्र 'केसरी' के द्वारा किया था। सन् १९२६ तक उन्होंने टाइपों में छँटाई करते-करते १९० टाइपों का एक फ़ांट बना लिया जिसे 'तिलक टाइप' कहते थे। महात्मा गांधी के 'हरिजन-सेवक' में काका कालेलकर द्वारा सुझायी हुई अ की बारहखड़ी का प्रयोग किया जाता था। संयुक्त अक्षरों के बारे में भी नये प्रयोग किये गये। डाक्टर श्यामसुन्दर दास का मत था कि ङ् ञ् के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिये, जैसे अंक, मंच (अङ्क, मञ्च नहीं)। डॉ० गोरखप्रसाद (प्रयाग) मात्राओं को व्यंजन के बाद दाहिने हाथ रखने के पक्ष में थे। काशी के श्रीनिवास ने सुझाया कि महाप्राण ध्वनियाँ हटा दी जायँ और उनकी जगह अल्पप्राण के पैर में कोई चिह्न ৩ जैसा लगा दिया जाय।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तो चाहते हैं कि देवनागरी लिपि को ही हटाकर रोमन लिपि को प्रचलित करना चाहिये। उनकी हिन्दी-विरोधी परिकल्पना की चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे। रोमन पर उनके कुछ विचार अगले पृष्ठ पर दिये जा रहे हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा ने भी क्रमशः १९३५ और १९४५ में कुछ सुझाव दिये थे, किन्तु विद्वानों का पूर्ण सहयोग न होने के कारण बात आयी-गयी हो गयी। १९४७ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में लिपि-सुधार की एक ठोस योजना बनायी। नरेन्द्रदेव समिति ने पहले के सभी सुझावों का अध्ययन करने के बाद अपनी सिफ़ारिशें प्रस्तुत कीं कि (१) अ की बारहखड़ी भ्रामक है; (२) मात्राएँ यथास्थान बनी रहें, किन्तु उन्हें थोड़ा दाहिनी ओर हटा कर रखा जाय; (३) अनुस्वार और पंचमाक्षर की जगह शून्य ○ का प्रयोग किया जाय; (४) द्विविध अक्षरों में से अ, झ, ध, भ, ण, क्ष, ल

स्वीकृत किये जायँ; (५) पाई वाले व्यंजनों को छोड़कर संयोग में हलन्त चिह्न लगाया जाय; और (६) ळ को वार्णमाला में स्थान दिया जाय। सन् १९५३ में उत्तर प्रदेश सरकार ने अन्य प्रदेशों के सरकारी प्रतिनिधियों और विद्वानों की एक गोष्ठी में उपर्युक्त सिफ़ारिशों को थोड़े हेरफेर के साथ स्वीकार किया। इस के अतिरिक्त ख की जगह ख और ि की जगह छोटा-सा चिह्न ॰ निर्णीत किया गया। इस ॰ का बड़ा विरोध हुआ—लोगों को छोटे-बड़े आकार का अन्तर हास्यास्पद जान पड़ा। १९५७ में वह ॰ हटा कर पुनः ि की मात्रा स्वीकृत कर ली गयी।

उपर्युक्त सुधार प्रायः टंकण, मुद्रण, तार आदि की सुविधा के लिए किये जाते रहे हैं, किन्तु अधिकतर लोग पुराने रूपों को चलाते जा रहे हैं।

१२.८. रोमन लिपि

जो लोग रोमन लिपि के पक्ष में हैं, उन से निवेदन है कि पहले वे किसी सीमित क्षेत्र में इसका प्रयोग करके देखें। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, हुमायूँ कबीर आदि इसे बँगला में चलाना नहीं चाहते; हिन्दी में अराजकता और भ्रष्टता फैलाने के लिए रोमन लिपि का आग्रह करते हैं। कहते हैं कि यह अन्तर्राष्ट्रीय लिपि है, इस से यूरोप की ज्ञानराशि सुलभ हो जायगी, किन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि लिपि जानने से (बिना भाषाज्ञान के) वह ज्ञानराशि कैसे प्राप्त हो जायगी? दूसरी बात इसके पक्ष में यह बतायी जाती है कि इसके लिखने में हाथ नहीं उठाना पड़ता। किन्तु आप ticket शब्द लिखकर देखें, तीन बार हाथ उठाना पड़ता है। तीसरा गुण यह बताया जाता है कि इससे राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा। इन लोगों की मनोवृत्ति अत्यन्त निन्द्य है कि जो यही सोचते रहते हैं कि अँग्रेजी भाषा और रोमन लिपि से राष्ट्रीय एकता होगी। कल यही लोग दावा करने लगेंगे कि अँग्रेजी शासन से ही हमारे राष्ट्र का कल्याण होगा। भारत की सभी लिपियों का सम्बन्ध देवनागरी से है और सारे देश के लोगों के लिए यह सुगम और सुग्राह्य है। अपनी स्वदेशी लिपि को सब अपना लें तो राष्ट्रीय एकता नहीं हो पाती और विदेशी लिपि से यह काम हो जाता है, यह तो बड़ा विचित्र विचार है! रोमन लिपि में हमारी सब ध्वनियों के चिह्न नहीं हैं। रोमन लिपि में एक ध्वनि का एक ही चिह्न नहीं होता, और एक चिह्न से एक ही ध्वनि नहीं निकलती, जैसे इ ध्वनि के लिए busy, mill, women, sympathy में चार चिह्न हैं, और C की cat, city, chat, coercion में चार ध्वनियाँ मिलती हैं। right, write, wright, rite का उच्चारण एक ही है। shan को शैन पढ़ें या शान? बर्नार्ड शा ने कहा था कि रोमन लिपि की अवैज्ञानिकता के कारण अँग्रेजी सीखने में बालकों का बहुत-सा

अमूल्य समय नष्ट होता है।

देवनागरी में सभी भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को लेने पर भी ७० से अधिक वर्ण नहीं होंगे, किन्तु रोमन में पहले से ही १०४ वर्ण हैं— २६ छोटे, २६ बड़े; २६ छपाई के छोटे, २६ छपाई के बड़े। भारतीय ध्वनियों को लेंगे तो रोमन में वर्ण-संख्या ३०० से कम नहीं होगी। महाप्राण ध्वनियों के लिए अलग चिह्न नहीं हैं। याद रहे कि फ और प्ह में उच्चारणगत अन्तर है, अतः ph से प्ह हो सकता है फ नहीं। फिर अँग्रेज़ी में इसका उच्चारण फ़ है। द, त के लिए d, t रखने में भी बड़ी द्विविधा रहेगी। अतः अँग्रेज़ीदान भारतीय ध्वनियों का भ्रष्ट उच्चारण करते रहेंगे। यदि अँग्रेज़ी की रोमन और हिन्दी की रोमन में अन्तर रखा जायगा, तो इससे अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की दिक़्क़त बढ़ जायगी।

देवनागरी के गुणों के अन्तर्गत रोमन लिपि की बहुत-सी त्रुटियों का उल्लेख किया जा चुका है।

रोमन की लिखाई में प्रायः देखा गया है कि घसीट में u n, w m, h b, g q, p f एक से लगते हैं।

रोमन लिपि को अपनाने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती का जो विशाल साहित्य है, उसका क्या होगा ? क्या करोड़ों-अरबों रुपये खर्च करके भी उसे रोमन में उतारना सम्भव होगा ? देवनागरी के साथ तो भारत की सारी संस्कृति जुड़ी हुई है। कहते हैं कि तुर्की ने रोमन लिपि अपना ली है। इस से क्या ? तुर्की या किसी अन्य देश की अपनी कोई लिपि न हो तो वह किसी लिपि को ग्रहण कर ले, हम क्योंकर देवनागरी जैसी सुन्दर, पूर्ण, वैज्ञानिक और स्वदेशी लिपि को छोड़कर उसे स्वीकार करेंगे ?

संक्षेप

यदि सिंधु घाटी की सभ्यता को प्राग्वैदिक या आर्यपूर्व-काल की सभ्यता माना जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय लिपि अत्यंत प्राचीन है। वैदिक, बौद्ध, जैन और पौराणिक साहित्य में भारतीयों की लेखन-कला का बराबर परिचय मिलता है। सिन्धु लिपि से ही ब्राह्मी का विकास हुआ। खरोष्ठी भले ही सामी लिपि से प्रभावित थी, किन्तु वह भी भारतीय आचार्यों द्वारा आविष्कृत हुई थी। ब्राह्मी से क्रमशः गुप्तकालीन, कुटिल और नागरी लिपियाँ विकसित हुईं। ब्राह्मी से ही दक्षिण भारत की सब लिपियाँ बनीं। नागरी से ही उत्तरी भारत की उड़िया, बँगला, असमी, मैथिली, कैथी, टाकरी, लंडा और गुरमुखी

(पंजाबी); एवं मध्यदेश की देवनागरी (गुजराती, महाजनी सहित) अनेक शाखाएँ बनीं। इनमें देवनागरी सर्वप्रधान, सुन्दर, पूर्ण एवं वैज्ञानिक लिपि है। सारा संस्कृत साहित्य इसमें लिखा गया है। मराठी और नेपाली की भी यही लिपि है। जो लोग इसके सुधार की बात उठाते हैं, अथवा इसके स्थान पर रोमन लिपि का प्रचलन चाहते हैं, वे प्रायः हिन्दी के नाना प्रश्नों में अधिकाधिक उलझनें पैदा करने के लिए चालें चलते हैं। जो सुधार सुझाये गये हैं, उन्हें हमें अपने दृष्टिकोण से ही सोचना होगा। उदाहरणस्वरूप हम ख, ध, भ का स्वागत करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि देवनागरी त्वरालेखन के उपयुक्त हो सके। मशीन के अनुकूल देवनागरी में भ्रष्ट प्रयोग करना उचित नहीं है, हमें मशीनों को अपनी लिपि के अनुकूल बनाना है।

१३. हिन्दी की समस्याएँ और उनका समाधान

१३.१. युग-युग की स्थिति

भाषा के नाम पर जितनी भावुकता, चेतना और असुदारता आज के युग में वर्तमान है, इतनी पहले कभी नहीं रही। मध्यकाल के अन्त तक भी हम देखते हैं कि राजा अथवा प्रजा में से किसी का आग्रह नहीं रहा कि अमुक भाषा शिक्षा का माध्यम हो अथवा अमुक भाषा शासन-कार्य में चलायी जाय। लोग बस 'अपनी' भाषा में लिखते थे, और यह ध्यान नहीं देते थे कि उस में कौन से शब्द देशी हैं और कौन से विदेशी हैं। मुसलमान बड़े प्रेम से संस्कृत सीखते थे और हिन्दी में कविता लिखते थे। हिन्दू मस्जिदों से संलग्न मकतबों में बैठकर अरबी-फ़ारसी सीखते थे। बड़े लोग फ़ारसी में लिखते-पढ़ते थे, जनसाधारण हिन्दी में सब तरह का काम चलाते थे। महाराजा रणजीत सिंह पंजाब के जागरूक नरेश थे, किन्तु उनके राज्य-काल में फ़ारसी पंजाब की राजभाषा थी। दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के इतिहास में उत्तर और दक्षिण के नरेशों, सूफ़ियों और मुसलमान कवियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुलसी जैसे कट्टर हिन्दू की भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में भी सैकड़ों शब्द अरबी-फ़ारसी के मिल जाते हैं। और भारत में रचित फ़ारसी साहित्य में सैकड़ों शब्द हिन्दी के मिल जायँगे। अमीर खुसरो "अपनी" भाषा में कुछ लिख कर छोड़ गये। अब हिन्दी वाले कहते हैं कि यह हिन्दी है और उर्दू वाले कहते हैं कि यह उर्दू है। विद्यापति की भाषा को हम हिन्दी मानते हैं, कुछ लोग उसे बँगला कहते हैं। नानक, दादू, कबीर किस भाषा में लिख गये ?—यह तो आज की समस्या है। तब यह प्रश्न ही नहीं उठता था। दरबारी कवियों को ही देखिए। वे फ़ारसी के बड़े-बड़े विद्वान् थे और एक तरह से ईरानी ही थे—खानखाना, घनानन्द, आदि; किन्तु जब वे "भाखा" में लिखते थे तो पूरे हिन्दुस्तानी हो जाते थे।

सब जानते हैं कि शासन में फ़ारसी को महत्त्वपूर्ण स्थान देने वाले अकबर बादशाह नहीं थे, राजा टोडरमल थे। फ़ारसी को लोगों ने सीखा, पूरे मनोयोग से, बड़े उत्साह से सीखा—इस के पीछे कोई राजनीति या कूटनीति नहीं थी, कोई नारे

नहीं थे। मुग़ल बादशाहों का काम फ़ारसी में हो चाहे किसी देशी भाषा में, इस बारे में कोई कानून नहीं था। काम होना चाहिये। सिक्कों पर कौन अक्षर हों, कोई नीति निर्धारित नहीं थी। लोग किस भाषा में दरख़ास्तें दें, सरकारी कर्मचारी किस भाषा में बात करें, इस विषय में कोई निर्देश नहीं थे।

इस से पूर्व, न जाने कब और कैसे, संस्कृत का प्रचार-प्रसार दक्षिण तक में हुआ। संस्कृत के बहुत बड़े-बड़े आचार्य उस प्रदेश में हुए हैं जिसे हम द्रविड़ प्रदेश कहते हैं—शंकराचार्य, सायणाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि। हैं कोई ऐसे नाम उत्तरी भारत से? दक्षिण में जब संस्कृत भाषा या ब्राह्मी लिपि का प्रचार हुआ तब उसका बहिष्कार नहीं हुआ, विरोध नहीं हुआ। संस्कृत और उत्तरवर्ती आर्यभाषाओं में सैकड़ों-हज़ारों शब्द, प्रयोग और रूप द्रविड़ भाषाओं से आ गये हैं—आज वे सब हिन्दी और दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं को विरासत में मिले हैं। कोई नहीं कह सकता कि कब असम में बँगला का प्रसार हुआ—किसी को चिन्ता नहीं हुई। पंजाब में अम्बाला तक पश्चिमी हिन्दी फैल गयी तो कोई चौंका नहीं। तमिल से मलयालम और तेलगू से कन्नड़ अलग हो गयी, और गुजराती-राजस्थानी की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हो गयीं, सारे बिहार की भाषाएँ सरकते-सरकते पूर्वी भाषाओं से वियुक्त होकर मध्यदेश की सांस्कृतिक भाषाओं से सम्बद्ध हो गयीं—कोई हलचल नहीं हुई।

१३.२. नया रोग

भाषाशोथ की बीमारी प्लेग, डिप्थीरिया आदि व्याधियों और निर्वाचन आदि आधियों की तरह हमारे देश में यूरोप से आयी। वहाँ कई देशों में विजेता विजित जातियों का विचार-स्वातन्त्र्य नष्ट करने के लिए उन पर अपनी भाषा लादने लगे थे। यह ध्यान रखने की बात है कि यूरोपीय जातियों में अँग्रेज़ सब से अधिक साम्प्रदायिक और साम्राज्यवादी जाति है। उसने राजनीति में 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को अपनाकर भारतीयों में बिखराव पैदा किया, साथ ही भाषा और संस्कृति में भेद-नीति का बीज बोकर यहाँ की नाना जातियों को आपस में लड़ाया। उसने हमारी इकाई को तोड़ने के तर्कपूर्ण आधार निर्धारित किये। हिन्दी, उर्दू, ब्रजभाषा और हिन्दुस्तानी का सूक्ष्म भेद दिखाकर अनेकता पर बल दिया। अँग्रेज़ भाषाशास्त्रियों ने बताया कि (१) भारत में ५०० से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं; (२) उनमें हिन्दी भी एक है; (३) हिन्दी के भी दो क्षेत्र हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी में कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है; (४) पहाड़ी, राजस्थानी, और बिहारी हिन्दी क्षेत्र के बाहर की स्वतन्त्र भाषाएँ हैं; (५) हिन्दी का जन्म उर्दू से हुआ है; (६) वर्तमान रूप में हिन्दी एक सौ वर्ष से अधिक पुरानी भाषा नहीं है; (७) हिन्दी हिंदुओं की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की।

किसी देश की भाषाओं और बोलियों का अध्ययन भाषाविज्ञान की दृष्टि से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु गिलक्रिस्ट, ग्रियर्सन आदि अँग्रेज विद्वानों के हाथ में पड़कर भाषाविज्ञान उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और कूटनीति का उपकरण बन गया। हम लोग अनेकता में एकता के दर्शन करने वाले हैं। जिस भाषा की निरंतर सेवा कुतबन, जायसी, रहीम, रसखान, आलम आदि ने की, वह हिन्दी १९वीं शती से पहले तो हिन्दुओं की भाषा नहीं बतायी गयी थी। उर्दू में हिन्दू भी लिखते रहे हैं, और हिन्दुओं का बहुत-सा धार्मिक साहित्य उर्दू में लिखा गया है। किन्तु अँग्रेज़ों का प्रोत्साहन पाकर सर सय्यद अहमद और इक़बाल ने उर्दू पर अपनी साम्प्रदायिक मोहर लगायी। इसका जो परिणाम हुआ, उस से हम १०वें प्रकरण में अवगत हो चुके हैं।

मैकाले ने भारतीय भाषाओं को दीन-हीन और दरिद्र कह कर अँग्रेज़ी की स्थापना की। उनका मन्तव्य यह था कि इस से आगे चलकर एक ऐसा वर्ग तैयार होगा जो रंग और खून से तो हिन्दुस्तानी होगा; किन्तु जिसकी रुचि, मति, बुद्धि और भाषा अँग्रेज की होगी। अँग्रेज़ी ने हमारी स्वदेशी भाषाओं को बढ़ने नहीं दिया। ज्ञान-विज्ञान केवल अँग्रेज़ी पढ़े-लिखों के लिए सुलभ और सीमित रह गया। अँग्रेज़ी की अनिवार्यता के कारण हमारी जनसंख्या का १०% शिक्षित हो पाया है जबकि दूसरे स्वतन्त्र देशों में अपनी भाषाओं में ७०-८०-९०, बल्कि १००% लोग शिक्षित हैं। अँग्रेज़ी पढ़कर हम सूटबूट-टाई तो लगाने लगे, किन्तु पुरुषार्थ और परिश्रम-निष्ठा हम में नहीं रही, देश की संस्कृति से वंचित होने के कारण हम वेद और उपनिषद् की शिक्षा को भूल गये। भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जो भारतीय होते हुए भी अभारतीय रहा है। इसीलिए गांधी जी ने हिन्दी के प्रचार को राष्ट्र के रचनात्मक कार्यों में सम्मिलित किया था। हिन्दी विदेशी शासन की समाप्ति का एक शस्त्र बनी थी। विदेशी वस्तुओं के बायकाट के अन्तर्गत विदेशी भाषा का बायकाट भी था। तब कहा जाता था कि हिन्दी का प्रयोग उन सभी कार्यों में होगा जिनमें अँग्रेज़ी का होता है।

स्वराज्य-प्राप्ति से पहले हिन्दुस्तानी का प्रश्न भी सामने था। कांग्रेस में ही एक वर्ग ऐसा था जो यह मानता था कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी नहीं, बल्कि जन-सामान्य में प्रचलित 'हिन्दुस्तानी' ही देश की भाषा होगी जो दो लिपियों—नागरी और उर्दू (फ़ारसी)—में लिखी जायगी। किन्तु, १९४७ तक इस सम्प्रदाय के लोग बहुत थोड़े रह गये थे।

१३.३. सुलझाव

२६ जनवरी १६५० से स्वतन्त्र भारत का संविधान लागू हुआ। इसमें दिये गये देश के निर्णयों में बहुत-सी स्वातन्त्र्यपूर्ण भाषागत समस्याओं का हल हो गया था। इस में हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू, अँग्रेज़ी, प्रादेशिक भाषा, सब का स्थान निश्चित कर दिया गया। कहा गया कि हिन्दी राजभाषा होगी और लिपि देवनागरी होगी। इससे हिन्दुस्तानी का प्रश्न सदा के लिए समाप्त हो गया। इसके पोषकों में दो-तीन बड़े-बूढ़े लोग रह गये हैं, शेष ने हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी को स्वीकार कर लिया है। उर्दू संविधान में परिगणित चौदह भाषाओं में सम्मिलित है। कश्मीर में यह राजभाषा भी है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक विद्यालय को जहाँ ४० विद्यार्थी माँग करें उर्दू के अध्यापन का प्रबन्ध करना पड़ता है। विश्वविद्यालयों में प्रायः सर्वत्र उर्दू की उच्चतम पढ़ाई का प्रबन्ध है, भले ही प्रत्येक कक्षा में दो-दो, तीन-तीन विद्यार्थी होते हैं, और सुना जाता है कि उन्हें भी अध्यापक अपनी जीविका में से छात्रवृत्तियाँ देकर रखते हैं। बात यह है कि इस पीढ़ी के विद्यार्थी उर्दू से कोई आर्थिक लाभ नहीं देखते, केवल बौद्धिक विलास के लिए वे उर्दू नहीं पढ़ना चाहते। हिन्दी प्रदेश में सभी राज्यों की राज्यभाषा हिन्दी है, और ११वें-१२वें दर्जे तक अनिवार्य विषय भी है, अतः हिन्दी से सब शिक्षित लोग अभिज्ञ हैं। एक पीढ़ी है जिसके भरोसे कुछ पुस्तकें और पत्रिकाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, किन्तु इस पीढ़ी के बाद उर्दू का क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। हिन्दी के *साथ* उर्दू को राज-कार्यों में स्वीकृत करने की माँग कभी-कभी उठती तो है, किन्तु वह न तो सबल होती है, न संगठित और न ही तर्कपूर्ण। अपना काम चाहे न बने, ये लोग हिन्दी का विरोध करने के लिए बड़े विद्वेषपूर्ण और ईर्ष्यायुक्त ढंग से हिन्दी-विरोधियों के दल में सम्मिलित रहते हैं।

१३.४. विरोध क्यों

हिन्दी का विरोध करने वालों में कई तरह के लोग हैं।

एक तो वे लोग हैं जिनका अभीष्ट यही है कि भारतीय सरकार किन्हीं न किन्हीं उलझनों में पड़ी रहे, जैसे कुछ विदेशों के गुप्तचर, राजनीतिक दलों के कुछ नेता और ह्रासशील कांग्रेस के अपने विक्षुब्ध और विमनस कुंठित सदस्य तक; दूसरे (इंग्लैंड और अमेरिका के विशेषतः) वे व्यापारी जिनकी करोड़ों रुपये की आय भारत से अँग्रेज़ी के माध्यम से होती है; तीसरे वे जो अँग्रेज़ी संस्कृति के प्रचारक हैं, जो समझते हैं कि भारत भले ही राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गया है, किन्तु

बौद्धिक दृष्टि से हम उसे अँग्रेजी के माध्यम से परतन्त्र रख सकते हैं (आज जितने अमेरिकन भारत में हैं, उतने मिलकर के भी अन्य देशों के निवासी नहीं हैं; और जितने भारतीय अमेरिका जाते हैं, उतने मिलकर के भी संसार के दूसरे देशों में नहीं जाते, और दोनों ओर आने-जाने वालों पर करोड़ों रुपया अमेरिका का खर्च होता है); चौथे वे जिनका उर्दू और उसकी सहचरी हिन्दुस्तानी को लेकर हिन्दी से अगला-पिछला द्वेष है; पाँचवें वे अहिन्दीभाषी जिनके सामने सदा इस तरह के भय उपस्थित किये जाते रहे हैं कि हिन्दी वाले तुम्हारी नौकरियाँ छीन लेंगे और तुम्हारी प्रादेशिक भाषाओं को कुचल डालेंगे; छठे वे कर्मचारी और बाबू जिन्हें अँग्रेजी में दफ्तरी टिप्पण लिखने का अभ्यास है और जो अपनी इसी योग्यता के कारण आजीविका पा लेते हैं; सातवें वे मन्त्री और उच्चाधिकारी जिनकी प्रतिष्ठा मात्र अँग्रेजी के कारण है, अथवा वे लोग जो अँग्रेजी ही अच्छी तरह जानते हैं, दूसरी भाषा की योग्यता नहीं है; आठवें वे जो राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करना चाहते हैं, जैसे तमिलनाडी 'खजगम' के कार्यकर्ता, जिनका मत है कि द्रविड़ और आर्य संस्कृतियाँ अलग-अलग हैं, इसलिए आर्यावर्त और द्रविडावर्त पृथक् देश होने चाहिये; नौवें वे जो अपना-अपना दावा लेकर आये हैं कि हमारी भाषा श्रेष्ठ है, हमारा साहित्य समृद्ध है, इसलिए हिन्दी अविकसित और दरिद्र भाषा है; दसवें वे जो स्वातन्त्र्योत्तर युग में रंक से राजा हो गये हैं, और जो अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों और कॉन्वेन्टों में पढ़ाकर विदेश भेजना चाहते हैं; और अन्त में वे जिनके कोई-न-कोई स्वार्थ अँग्रेजी के साथ जुड़े हुए हैं, जैसे अँग्रेजी पत्रकार या ईसाई प्रचारक ।

ऐसे प्रतिगामी लोगों की संख्या १०-१५ लाख से अधिक नहीं है । किन्तु, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, राजनीति, शासन, पत्रकारिता आदि जीवन के नाना कार्यों में इनका अधिकारयुक्त स्थान है । पिछले १५-२० वर्षों से ये सब अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर राष्ट्रविरोधी, भावनात्मक एकता के नाम पर स्वार्थी नीतियों का अवलम्बन करते आ रहे हैं । जिस बात को संविधान बनाने वाले मनीषियों ने सुलझा दिया था, उसे इन बरखुरदारों ने उलझा दिया है । संविधान की आज्ञाओं का उल्लंघन करके इन सत्ताधारी लोगों ने उसकी पवित्रता, सर्वमान्यता और गुरुता के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लगा दिया है। अँग्रेजी को २६ जनवरी १९६५ से हमारे देश से उठ जाना चाहिये था। किन्तु, नये कानून के द्वारा उसे अनन्त काल के लिए सहचरी राजभाषा बना दिया गया है । वह अनिवार्य भाषा के रूप में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर आरूढ़ रहेगी । वह ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनकर विश्वविद्यालयों और सेवायोगों में प्रतिष्ठित रहेगी । जनतन्त्रात्मक देश में जन-जन की इच्छा का इससे बड़ा मजाक क्या होगा ? आशा थी कि १५-२० वर्षों में यहाँ शत-

प्रतिशत साक्षर हो जायेगी; हम सोचते थे कि अपनी भाषाओं के माध्यम से भारत के ज्ञानी-विज्ञानी संसार को सचमुच कुछ निजी देन दे सकेंगे और लगता था कि गांधी जी के स्वप्न साकार होने वाले हैं। गांधी अगर तानाशाह होते तो अँग्रेजी समाप्त हो जाती, उन्हें क्या पता था कि आगे चलकर कोई सचमुच का तानाशाह उन पर अट्टहास करता हुआ यह कर दिखायेगा कि लो, तुम्हारी हिन्दी अब नहीं चलेगी।

१३.५. विरोध का स्वरूप

ऐसे तानाशाहों ने अँग्रेज़ी के गुण गाने और हिन्दी की भरसक निन्दा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। १०.४.३. में हमने उनकी अँग्रेज़ी की प्रशस्तियों की गणना की है। हिन्दी के बारे में इन लोगों ने कहा—"हिन्दी दरिद्र भाषा है, इसमें नाना भाव और विचार अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं है"; "हिन्दी श्रेष्ठ भाषा नहीं है, इससे अधिक समृद्ध साहित्य संस्कृत में है, तमिल में है, बँगला में है"; "हिन्दी को अहिन्दीभाषी अपनाने को तैयार नहीं हैं; वे लोग हिन्दी के साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं, किसी पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भाषा लादनी नहीं चाहिये"; "हिन्दी के द्वारा हिन्दी प्रदेश के निवासियों को अनुचित लाभ होता है"; "हिन्दी से राष्ट्रीय एकता नहीं रहेगी"; "हिन्दी स्वतःविकसित होगी तभी उसमें स्वाभाविकता आयेगी, क्रान्ति से कोई भाषा खड़ी नहीं की जा सकती"; "हिन्दी वालों को पहले अहिन्दी प्रदेशों में सद्भावना पैदा करनी चाहिए, तब वे अपने आप हिन्दी का साथ देंगे। इसके लिए हिन्दी प्रदेश में सब को कोई-न-कोई हिन्दीतर भाषा सीखनी चाहिये"; "हिन्दी नहीं, संस्कृत राजभाषा होनी चाहिए, कम-से-कम हिन्दी के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए संस्कृत अनिवार्य होनी चाहिए"; "हिन्दी ही क्यों, भारत की सब भाषाएँ राष्ट्र की भाषाएँ हैं, सब को राष्ट्रभाषा मान लेना चाहिए"; "हिन्दी क्या है, एक बोली ही तो है, इस बोली से श्रेष्ठ बोली ब्रजभाषा है, अवधी है, भोजपुरी है, जिनका विकास हिन्दी के कारण अवरुद्ध है"। डॉ० चटर्जी कहते हैं कि "इन भाषाओं के बोलने वाले अपने को भुलावे में डाले हुए हैं कि उनके घर की भाषाएँ हिन्दी की केवल बोलियाँ हैं।" इत्यादि-इत्यादि।

हिन्दी देशभर की भौजी बनी है, जो आता है मज़ाक कर जाता है; और यह समझकर कि यह दरिद्र है, हर कोई दो ठोकरें भी लगा देता है।

हिन्दी दरिद्र नहीं है। एक तो यह संस्कृत, पालि और प्राकृत की उत्तराधिकारिणी होने के नाते उन सब की भाषागत उपलब्धियों से समृद्ध है, दूसरे उसमें नये-नये संस्कारों, विचारों और अभिव्यक्तियों को ग्रहण करने की क्षमता है. और

तीसरे, इसमें शब्द-निर्माण की अद्भुत शक्ति है। यही बात मैंने अपने 'बृहद् अँग्रेज़ी-हिन्दी कोश' में दिखाने की चेष्टा की है। हिन्दी में ७ लाख के लगभग शब्द हैं जबकि अँग्रेज़ी में २½ लाख से अधिक नहीं हैं। अब तो यह भी झूठ है कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। पिछले पन्द्रह वर्षों में हिन्दी ने लाख-डेढ़ लाख पारिभाषिक शब्द संगृहीत किये हैं। यह ठीक है कि हिन्दी में प्राविधिक और वैज्ञानिक साहित्य की कमी है। किन्तु, इसका कारण यही है कि हमारे विशेषज्ञों की शिक्षा-दीक्षा अँग्रेज़ी के माध्यम से रही है। जिस दिन अँग्रेज़ी को विश्वविद्यालयों से हटाया जायगा, उसी दिन से आपको भरपूर साहित्य हिन्दी में मिलने लगेगा। यह कहना कि पहले साहित्य हो तब हिन्दी को नाना विषयों के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जायगा, मानव-मनोविज्ञान और बुद्धि के साथ छल करना है। कौन प्रकाशक हज़ारों रुपये लगा कर हिन्दी की उच्च कक्षाओं की पुस्तकें छाप-छाप कर अपने गोदामों में भर रखेगा कि आगे चलकर कभी इनकी बिक्री की आशा हो सकती है? और कौन लेखक है जो हिन्दी में अपने ग्रन्थ लिखना चाहेगा जबकि न उनकी माँग है न प्रकाशित होने की आशा है? फिर भी, हिन्दी में इतना साहित्य तो है जितना १९०० ई० तक भी अँग्रेज़ी में नहीं था। रही ललित साहित्य की बात। जो लोग इसे किसी भी भाषा के साहित्य से हीन बताते हैं, उनके अज्ञान पर दया आती है। हिन्दी के बारे में बहुत-सी भ्रान्तियाँ ऐसे ही लोग फैलाते आ रहे हैं जिनका हिन्दी से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली अभी मँजी नहीं है। लोग प्रायः शब्दों को सुनकर मज़ाक करने लगते हैं। यह बात सभी भाषाओं के इतिहास में घटित होती रही है। 'ऐजूकेशन' से जब 'ऐजूकेशनिस्ट' बना, तब इंगलैंड के ही अनेक विद्वान् चौंके और बोले कि यह क्या विचित्र शब्द है! आज तक यह स्थिर नहीं हो पाया कि 'ऐजूकेशनिस्ट' ठीक है या 'ऐजूकेशनलिस्ट'। जर्मन विद्वान् ह्वेलेल्म वुंट के 'मानवीय और पशु विज्ञान' का अँग्रेज़ी अनुवाद करते हुए अनुवादक ने भूमिका में लिखा था—"मनोविज्ञान-संबंधी अँग्रेज़ी शब्दावली अभी बहुत अव्यवस्थित है।" किंतु, इङ्गलैंड के शिक्षा-मंत्रियों ने यह नहीं कहा कि जब तक हमारी भाषा विकसित नहीं हो जाती, हम अँग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम नहीं बना सकते, और तब तक जर्मन से काम लेना पड़ेगा, वरना हम विश्व-ज्ञान से वंचित हो जायेंगे। शासन की भाषा और विज्ञान की भाषा में क्या संबंध है, यह हम नहीं जान पाये। विज्ञान में कुछ दिन हिन्दी का कार्य रुका रहेगा, यह बात थोड़ी-बहुत समझ में आ सकती है; किन्तु कार्यालय और कचहरी की भाषा हिन्दी क्यों नहीं हो सकती? इसके लिए न तो समृद्ध साहित्य की आवश्यकता है और न ही भाषा की श्रेष्ठता की। यूरोप की श्रेष्ठ भाषाओं में अँग्रेज़ी नहीं,

फ़्रेंच और जर्मन को जाना-माना जाता है। आप उनको क्यों नहीं अपना लेते ? भाई, हिन्दी को तो इसलिए प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है कि वह भारतीय भाषा है और देश के बहुसंख्यक जन की भाषा है। हम यह भी नहीं समझ पाते कि हिन्दी अयोग्य है, इसलिए हम अँग्रेज़ी चाहते हैं। यह तो ऐसा कहने के समान है कि हमारा प्रधान मन्त्री या कोई मुख्य मन्त्री अयोग्य है तो उसके स्थान पर अँग्रेज़ या जर्मन को बना दो। यदि हिन्दी दरिद्र है तो उसके कोश को भरिये, उसे काम में लाइए। यदि हमारे नेत्रों में ज्योति कम है तो नेत्रों का इलाज कराना होगा। ये मशालें कब तक रास्ता दिखायेंगी !

हिन्दी को राजभाषा बनाने में भारत के सभी प्रदेशों के प्रतिनिधियों का हाथ है। जनतन्त्रात्मक राज्य में सभी कानून बहुमत से बनते हैं और फिर वे सारे देश पर सामान्य रूप से लागू होते हैं। लादने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु, दुर्भाग्य से बहुत से लोगों ने देश को उत्तर और दक्षिण में ऐसा बाँट दिया है कि लगता है आगे चलकर प्रत्येक प्रदेश के लिए अखिल भारतीय सरकार अलग-अलग नियम बनाया करेगी। एक राष्ट्रपति उत्तर का हो एक दक्षिण का, संसद् का एक सत्र उत्तर में हो एक दक्षिण में, देश की एक भाषा दक्षिण के लिए हो, दूसरी उत्तर के लिए, इत्यादि। बताइये, अराष्ट्रीयता इन बातों के कारण है अथवा हिन्दी के कारण ? जो लोग हिन्दी और संस्कृत का, संस्कृत और अनार्य भाषा का एवं हिन्दी और हिन्दी बोली का प्रश्न खड़ा करके दीवारें खड़ी कर रहे हैं, उनको भी भावनात्मक और राष्ट्रिक एकता की चिन्ता रहती है, यह देखकर हँसी आती है।

यदि संक्रमण-काल में हिन्दी से किसी को अनुचित लाभ होता हो तो इसका प्रबंध किया जा सकता कि सभी प्रदेशों की जनसंख्या के अनुपात से नौकरियों में प्रत्येक का यथांश निश्चित किया जाय। वैसे हिन्दी के बारे में यह सोचना कि वह उत्तर प्रदेश या मध्यप्रदेश के लोगों को अनायास आ जाती है, ग़लत है। हिन्दी सामान्य भाषा होने के नाते सब के लिए एक-सी सरल या कठिन है। दक्षिण में कितने ही हिन्दी डाक्टर बन गये हैं। गोपीनाथन नाम के एक दक्षिणी विद्यार्थी ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय की १६६४ की एम० ए० परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया—हिन्दीभाषियों को पछाड़ दिया। मैं स्वयं अहिन्दीभाषी हूँ और हिन्दी प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाता हूँ। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। संविधान में इसीलिए १५ वर्ष की अवधि निर्धारित की गयी थी कि अहिन्दीभाषी तैयार हो जायें। अब तो यह कहना पड़ेगा कि अँग्रेज़ी के कारण किन्हीं प्रदेशों को अनुचित लाभ है। हिन्दी प्रदेश के बच्चे ने क्या पाप किया है कि सरकार की नीति के अनुसार उसने हिन्दी सीखी और अब उस बेचारे को केन्द्रीय सरकार की कोई नौकरी

नहीं मिल सकती, क्योंकि वह अँग्रेजी धड़ल्ले से नहीं बोल पाता।

आज भाषा के साथ लाभ का प्रश्न जुड़ा है। अहिन्दीभाषी राजभाषा सीख कर नौकरियों में अधिक स्थान पा सकेंगे, देश के व्यापार में लाभ उठा सकेंगे, क्योंकि ८० प्रतिशत भारतीय व्यापारियों की भाषा हिन्दी है। किन्तु, हिन्दीभाषी कोई दूसरी भाषा किस उद्देश्य से सीखेगा ? केवल बौद्धिक विलास के लिए तो कोई भाषा सीखी नहीं जाती !

संस्कृत भारत की आधुनिक भाषा नहीं है। जन-जन का सम्पर्क इससे कदापि नहीं हो सकता। संस्कृत के पक्ष में स्वर उठाने वाले वस्तुतः हिन्दी के प्रश्न को उलझाना चाहते हैं। और, मज़े की बात यह है कि इनमें प्रायः ऐसे लोग हैं जो संस्कृत का एक अक्षर भी नहीं जानते। हिन्दी ने संस्कृत की लगभग सारी शब्दावली और शब्द-निर्माण की पद्धति को अपना रखा है, तो फिर अनिवार्य संस्कृत से हिन्दी का विद्यार्थी क्या ग्रहण करेगा ? अनुभव से जाना गया है कि ऐसे विद्यार्थी न संस्कृत जान पाते हैं और न हिन्दी।

हम यह कह आये हैं कि हिन्दी पूर्णतया विकसित भाषा है। उसके स्वतः विकसित होने अथवा उसे अविकसित या अस्वाभाविक कहने की बात नहीं उठनी चाहिये। भाषाविज्ञान का एक साधारण-सा नियम है कि प्रत्येक बोली अपने जनसमाज के सभी भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। यह ठीक है कि हिन्दी अँग्रेजों की संस्कृति का माध्यम नहीं बन सकती, बिलकुल ऐसे जैसे अँग्रेजी भारत या ईरान या जापान की संस्कृति का माध्यम नहीं बन सकती।

मैं जानता हूँ कि हिन्दी के नेता देश की प्रादेशिक भाषाओं का बड़ा आदर करते हैं। ये भाषाएँ हमारी व्यापक संस्कृति की वाणियाँ हैं। ये राष्ट्र की सुरक्षणीय सम्पत्ति हैं। देश की मामूली से मामूली बोली का कोई गीत मर्म को छू जाने वाला है तो वह भी संग्रहणीय निधि है। हिन्दी वाले तो चाहते ही हैं (यदि अँग्रेज़ी वाले सहमत हो सकें) कि प्रत्येक बच्चे की प्रारम्भिक शिक्षा उसकी मातृभाषा में और उच्च शिक्षा क्षेत्रीय भाषा में होनी चाहिये। प्रत्येक प्रदेश का शासन-कार्य वहाँ की भाषा में होना चाहिये। माना कि वे राष्ट्रीय भाषाएँ हैं, किन्तु हिन्दी सर्वसामान्य की भाषा है, संघ की भाषा है, सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा है। इसका किसी भारतीय भाषा से विरोध नहीं है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में (जिसे नेहरू युग भी कहा जाता है) भाषावार प्रान्त बनाकर हमारे राजनीतिक नेताओं ने ऐसे भूत खड़े कर दिये हैं जो इन्हीं की जान लेकर दम लेंगे। आज प्रादेशिक भाषा की उन्नति के नाम से देश में वैमनस्य और प्रान्तीयता का विकास हो रहा है। भावनात्मक एकता को इन अँग्रेज़ीदाँ

नेताओं ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसीलिए हिन्दी का मोह पीछे रह गया है, प्रान्तीय भाषा और साहित्य के संरक्षण की चिन्ता सर्वोपरि हो गयी है। यह बात सोचने की है कि हिन्दी के सहयोग से प्रादेशिक भाषाओं को अधिक सुविकसित होने की सम्भावनाएँ मिलती हैं। हिन्दी ने सदा चाहा है कि अँग्रेज़ी जाये और उसके स्थान पर प्रत्येक प्रदेश में अपनी-अपनी भाषा प्रतिष्ठित हो। यही हिन्दी की सद्भावना का प्रमाण है। हिन्दी सह-अस्तित्व में विश्वास रखती है, अँग्रेज़ी साम्राज्यवाद में। हम यह भी जानते हैं कि हिन्दीतर प्रान्तों में हिन्दी के प्रति पूरी आस्था है, तभी तो वहाँ के लोग लाखों की संख्या में हिन्दी सीखते हैं। अनास्था और दुर्भावना की बात कुछ राजनीतिक खिलाड़ियों के मन में है, और वे उसे काल्पनिक व्यापकता देकर प्रदर्शित करते हैं। अँग्रेज़ी प्रेस उनका साथ देता है।

कहते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता बहुत पिछड़ी हुई है। इसका उत्तर यही है कि यदि सचमुच सरकार संविधान के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हुए हिन्दी का विकास करने की चेष्टा करती और अँग्रेज़ी के दूरमुद्रक और तार बन्द कर देती तो फिर हम देखते कि अँग्रेज़ी का प्रेस उन्नत है अथवा हिन्दी का। स्थिति की पूरी समझ तभी आ सकती जब अँग्रेज़ी पत्रकारों को हिन्दी से अनुवाद करना पड़ता।

हिन्दी और हिन्दी बोलियों में लड़ाई कराने वाले ऐसे ही षड्यन्त्रकारी लोग हैं जिनके स्वार्थों की बात हम ऊपर उठाते रहे हैं। यह तथ्य सर्वविदित है कि हिन्दी का विकास हिन्दी प्रदेश की बोलियों से होता आया है, और हिन्दी के अध्ययन के साथ बोलियों के अध्ययन का विकास हुआ है। नाना बोलियों के भाषावैज्ञानिक, सांस्कृतिक अथवा लोकवार्तिक अध्ययन का श्रेय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को है। जनपदवाद शरीर की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के विवाद के समान है। संगठन के इस युग में असंगठन की बात भारत ही के भाग्य में आ गयी है क्या ? परिवारों के छिन्न-भिन्न होने का परिणाम हम महाभारत-काल से भोगते चले आ रहे हैं। अब तो सचेत हो जाना चाहिए।

हिन्दी का प्रश्न वस्तुतः संकल्प का है। संविधान बनाने वालों ने एक संकल्प किया था, तब सब समस्याएँ सुलझ गयी थीं। अब भी यदि हमारे मन्त्री, राष्ट्रवादी नेता और भारतीय एकता के शुभचिन्तक सत्संकल्प कर लें तो सारे प्रश्न हल हो जायें। किन्तु, सत्ताधारी लोग समझते हैं कि उलझनें बढ़ाने से राजनीति और नेतागीरी को बल मिलता है। ये लोग एक जगह तो कहते हैं कि हिन्दी ही राजभाषा होगी। विदेशी भाषा किसी स्वाभिमानी देश की राजभाषा नहीं हो सकती और, दूसरी जगह (उसी दिन) कहते हैं कि हिन्दी को राजभाषा बनाने में देश की एकता को खतरा है। हिन्दी सभाओं में बुलाये जाने पर कहते हैं कि कम-से-

कम हिन्दी प्रदेश में तो हिन्दी ही शिक्षा और परीक्षा का माध्यम होनी चाहिये । और मन्त्रालय में जाकर विश्वविद्यालयों के नाम परामर्श-पत्र भेजते हैं कि अँग्रेज़ी क़ायम रहेगी । यही तो समस्या है । ये लोग शपथ तो लेते हैं संविधान और हिन्दी के लिए, किन्तु संकल्प करते हैं अँग्रेज़ी को चलाये रखने का !

१३.६. हिन्दी की स्वरूपात्मक त्रुटियाँ

हिन्दी के विरुद्ध कई षड्यन्त्र चल रहे हैं । उनमें एक ऐसे लोगों का सुव्यवस्थित और संगठित षड्यन्त्र भी है जो चुप्पे-चुप्पे हिन्दी की जड़ें खोदने में लगे हुए हैं । ये लोग विद्वान् हैं और बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से हिन्दी को कलुषित और विश्रृंखल करके उसकी 'हीनता' को प्रचारित करते हैं । डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी वर्षों से हिन्दी भाषा का 'गम्भीर' अध्ययन करते आ रहे हैं । उन्हें इन खोजों से जो उपलब्धि हुई है, उसका निष्कर्ष यहाँ दिया जा रहा है—

१. हिन्दी का लिंगभेद अत्यन्त जटिल है क्योकि इसमें संज्ञा, विशेषण और क्रिया तक में स्त्रीलिंग-पुंल्लिग रूप होते हैं;

२. क्रियापदों के वचनभेद और वाच्यभेद से नाना विशिष्ट रूप हो जाते हैं;

३. संज्ञा रूपों में कर्ता कारक का (अविकृत) रूप और अन्य कारकों का (तिर्यक् या सम्बन्धकीय) रूप भिन्न-भिन्न होता है;

अतः ये भेद हटा देने चाहिये ताकि हिन्दी अहिन्दीभाषियों के लिए सुगम हो सके । यह माँग भी की गयी है कि भूतकाल में सकर्मक क्रिया के रहते कर्ता के साथ जो 'ने' परसर्ग लगता है, उसे हटा देना चाहिये ।

४. हिन्दी का एक रूप है 'बाज़ारू हिन्दी' जो कलकत्ता के बाज़ारों में सुनी जाती है और जिसमें 'मेरे को', 'मेरे से' आदि प्रयोग प्रचलित हैं । यही वस्तुतः सामान्य हिन्दी है ।

५. नागरी लिपि (अत्यन्त असुन्दर और भ्रष्ट है, इस) की जगह रोमन लिपि का व्यवहार करने से हिन्दी का कल्याण हो सकेगा ।

कुछ और लोगों ने भी कई तरह के दोष ढूंढ़ निकाले हैं, जैसे—

६. जवाहरलाल जी जब भी कोई नया संस्कृत शब्द (जैसे आर्टिफ़िशल प्लेनेटोरियम के लिए कृत्रिम नभमंडल) सुनते थे तो बहुत खीझ जाते थे और कहा करते थे कि हिन्दी सरल होनी चाहिये । उनको रिझाने के लिए प्रसार मन्त्री, डॉ० गोपाल रेड्डी ने आकाशवाणी से हिन्दी के सरलीकरण के बहाने पुनः हिन्दुस्तानी का रूप (१९६१-६२ में) ला खड़ा किया । हिन्दी के बहुत-से 'हितैषी' उसे सरल बनाने की चिन्ता में रहते हैं ।

७. कुछ लोगों ने हिन्दी की लेखन-शैली में दोष बताये हैं—भगवान्, जगत्, परिषद् आदि में हलन्त चिह्न हो कि न हो; लिए, बाधाएँ आदि को -ए से लिखा जाये या -ये से; परसर्ग को संज्ञा-सर्वनाम के साथ सटा कर लिखना चाहिये या अलग; समासयुक्त शब्दों के बीच में हाइफ़न लगायें या उन्हें जुड़वाँ लिखें या अलग-अलग; अनुस्वार कहाँ लिखें, अनुनासिक कहाँ और पंचमाक्षर (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) कहाँ; इत्यादि।

शुरू-शुरू में हमें लगता था कि हिन्दी का अहोभाग्य है जो एक बंगाली विद्वान् इसके विश्लेषणात्मक अध्ययन में इतनी रुचि लेते हैं। मजे की बात यह है कि उन्होंने अनेकों जगह कहा कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा है। हिन्दी वालों की बाछें यह सुनकर खिल जाती थीं, और इसके साथ वे हिन्दी के 'दोषों' को भी स्वीकार करते रहे हैं। किन्तु, जब से भाषाविज्ञान के ये मान्य प्रोफ़ेसर बंगाल की विधान-सभा के अध्यक्ष बनकर अपने राजनीतिक रूप में प्रकट हुए, और इन्होंने हिन्दी को दरिद्र, अविकसित, अयोग्य, बिल्कुल नयी और हीन; एवं अँग्रेजी को शासकीय दक्षता और ज्ञान-संचार के लिए अनिवार्य बताया, तब से इनकी खोजों की ईमानदारी पर सन्देह किया जाने लगा है। लोग ताड़ गये हैं कि इनके द्वारा दिये गये शास्त्रीय आधारों और छिद्रान्वेषण से प्राप्त मान्यताओं का उद्देश्य क्या था। नेहरू जी की बात और थी। वे हिन्दी-संस्कृत जानते नहीं थे, इसलिए अपने अज्ञान पर उन्हें रोष होता था। उसका अर्थ न समझने वाले हिन्दी के सरलीकरण का प्रश्न उठा लेते थे।

वस्तुतः हिन्दी के सामने कोई ऐसी समस्याएँ नहीं हैं। प्रत्येक भाषा की प्रकृति किसी भी दूसरी भाषा से भिन्न हुआ करती है, इसलिए एक समाज के लोगों को दूसरी भाषाओं में विचित्रता लगने लगती है। हिन्दी के जानकार के लिए ऊपर गिनाये गये व्याकरण, शब्दावली और लिपि के 'दोष' न तो दोष हैं और न ही समस्या। इसके अतिरिक्त हिन्दी लिंग-वचन की जो विशेषता एक बंगाली के लिए कठिनाई बन गयी है, वही पंजाबी, गुजराती और मराठी बोलने वाले के लिए उसका सरलतम गुण है। जिस संस्कृतनिष्ठ शब्दावली को पंजाबी और कश्मीरी कठिन मानते हैं, वह बंगाली और मलयाली के लिए सुगम और सुबोध है। जो रोमन लिपि चटर्जी जैसे अँग्रेज़ी के उपासकों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय होने के नाते सामान्य हो रही है, वही अँग्रेज़ी और फ्रेंच ध्वनियों तक को अभिव्यक्त न कर पाने के कारण उनके लिए मुसीबत बनी हुई है (देखिए पृ० २६९); और जिस देवनागरी लिपि को विश्व के भाषाज्ञानी सम्पूर्ण और वैज्ञानिक मानते हैं, उसे ईसाई प्रचारक और हिन्दी के विरोधी भ्रष्ट कह रहे हैं। [देखिए पृ० २६६-२६९ भी]।

अतः हमारा कहना तो यही है कि समस्या हिन्दी में नहीं, हिन्दी के विरोधियों की भावना में है। सारी ऐंठन या उलझन वहीं पड़ी हुई है। कठिनाई अज्ञान के कारण है। अभ्यास से हमने जैसे अँग्रेज़ी और संस्कृत की कठिनाइयों को पचा लिया है, वैसे ही अहिन्दीभाषी हिन्दी की एक-दो विशेषताओं को आत्मसात् कर लिया करते हैं। विशेषण और क्रिया में लिंगभेद रूसी में भी तो है। संस्कृत में तीन लिंग थे, अँग्रेज़ी में चार हैं। संस्कृत के विशेषण तो लिंग-वचन-कारक के अनुसार रूपान्तरित होते हैं। संस्कृत सर्वनामों में भी लिंगभेद था, हिन्दी में अब नहीं रहा। संस्कृत में कृदन्तीय क्रियाओं में लिंगभेद था ही, वही हिन्दी ने अपनाया है। हिन्दी विशेषणों और क्रियाओं में लिंगभेद जानना कितना सरल है कि जो शब्द आकारान्त हैं, उन्हें ईकारान्त कर देना है—बस। जैसे, अच्छा से अच्छी, करता से करती, लिखा से लिखी। रह गये संज्ञापद। इन का लिङ्ग-निर्णय संस्कृत-प्राकृत की परम्परा, अर्थ, प्रत्यय, और अरबी-फ़ारसी आदि की परम्परा के अनुसार हुआ है। इनको समझने में यदि कोई कठिनाई है तो वह उतनी ही जितनी किसी भी अन्य भाषा में हो सकती है, जैसे संस्कृत में रश्मि (पुं०), भूमि (स्त्री०); अंजलि (पुं०), अंगुलि (स्त्री०); अरबी में ज़िक्र (पुं०), फ़िक्र (स्त्री०); फ़ारसी में ज़हर (पुं०), नहर (स्त्री०); फ्रेंच में चाय पुंल्लिग और पानी स्त्रीलिंग; स्पेनिश में बरफ़ पुंल्लिग और दूध स्त्रीलिंग; जर्मन में सूर्य स्त्री० और चन्द्रमा पुं०; डच में मेज़ नपुं० और कुर्सी स्त्रीलिंग है। संस्कृत में घरवाली हो के लिए तीन शब्दों के तीन अलग-अलग लिंग हैं—पत्नी (स्त्री०), दारा (पुं०), कलत्र (नपुं०)। द्रविड़ का लिंगभेद अत्यन्त जटिल है।

हिन्दी व्याकरण-सम्बन्धी शेष बातों के लिए देखिए आठवाँ प्रकरण। यह व्याकरण तो इतना सरल और संक्षिप्त है कि इस के नियम एक पृष्ठ पर दिये जा सकते हैं।

हम यह समझ नहीं पाये कि सरलीकरण का अर्थ क्या है ? हिन्दी वह भाषा है जिसे मजदूर और बच्चे भी बोलते हैं, जिसमें सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, और जिस में उच्चतम वैज्ञानिक और पारिभाषिक साहित्य भी लिखा जाता है। इसके कई स्तर हैं, कई शैलियाँ हैं। सब का अपना-अपना महत्त्व और स्थान है। विषय, स्थिति, वातावरण और पात्र के अनुसार भाषा को सरल या कठिन होना ही पड़ता है। हर अंग्रेज़ीदान इलियट और चासर की कविता, ह्वाइटहेड का दर्शन, वुंट का मनोविज्ञान, फ़रेडे और आइन्स्टाइन का विज्ञान नहीं समझ सकता। किन्तु, भारत का हर उर्दूदान, हर अँग्रेज़ीदान, प्रत्येक बंगाली-मद्रासी-कश्मीरी-संथाली, और प्रत्येक ज्ञानी-अज्ञानी, अपेक्षा ही नहीं, आग्रह करता है कि हिन्दी उसके लिए

सुगम होनी चाहिये। वस्तु-स्थिति यह है कि इन में बहुत से ऐसे हैं जो हिन्दी को उलझाये रखना चाहते हैं। सरलीकरण की माँग के पीछे भी कूटनीति है। वरना, हिन्दी तो सरल है ही—इसकी लिपि, इसका उच्चारण, इसका शब्द-भण्डार और इसका व्याकरण भारत की भाषाओं में सरलतम है। इसका प्रमाण इतना ही पर्याप्त है कि हिन्दी सारे भारत में व्याप्त है। पाकिस्तान के सीमा-प्रान्त या कश्मीर और हिन्दी प्रदेश के बीच में पंजाब पड़ता है। लेकिन पठान या कश्मीरी जब मैदान में आता है और पंजाबी नहीं बोल पाता, तो हिन्दी बोलता है। विदेश से जितने लोग आते हैं, चाहे वे किसी प्रदेश में रहें, सर्वप्रथम हिन्दी से परिचित हो जाते हैं और उसे आसानी से सीख लेते हैं।

शब्दावली के बारे में थोड़ा मतभेद शिक्षित वर्ग में अवश्य है। प्रश्न यह है कि हमारे ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली संस्कृतनिष्ठ हो या अँग्रेज़ीनिष्ठ, हमारी साहित्यिक भाषा बोलचाल के अधिक निकट हो या रसज्ञों की भाषा के निकट। पिछले १५ वर्ष के विचार-संघर्ष का निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी या किसी भी भारतीय भाषा के लिए संस्कृत का आश्रय लेना इतना ही स्वाभाविक है जितना अँग्रेज़ी या यूरोप की किसी अन्य भाषा के लिए लैटिन अथवा ग्रीक का आश्रय लेना। ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली सर्वसाधारण के लिए नहीं है।

लेखन-शैली या वर्तनी के सम्बन्ध में जो द्विविधाएँ ऊपर गिनायी गयी हैं, उन में स्थिरीकरण की आवश्यकता है। इंग्लैंड और फ्रांस में यह काम विद्वत्परिषदें करती हैं। वर्तनी की थोड़ी-बहुत समस्या प्रत्येक भाषा में है। इसका कारण यह है कि लिपियाँ अपेक्षतः पुरानी हैं और नवीन उच्चारण-पद्धतियों का साथ नहीं देतीं। हिन्दी के उन्नायकों को इस विषय में अवश्य सोचना चाहिये। मेरा विचार तो यह है कि संस्कृत के शब्दों को शुद्ध संस्कृत व्याकरण के अनुसार गढ़ना और लिखना चाहिये, वरना बहुत-सी भ्रान्तियाँ पैदा हो जाने का डर है। उदाहरणस्वरूप, जगत को हलन्त करके नहीं लिखते तो जगत+नाथ को जगन्नाथ कैसे बना पायेंगे? इस तरह दूसरी प्रादेशिक बोलियों में विविधता होने से दुर्बोधता बढ़ जायेगी। अनुस्वार और चन्द्रविन्दु का व्यवहार भी समझ कर करना चाहिये ताकि उच्चारण की शुद्धता बनी रहे। चाहिये, चाहिए आदि यदि दो तरह से लिखे जायें तो कोई हानि नहीं है। परसर्ग स्वतन्त्र शब्द हैं, इसलिए संज्ञा-सर्वनाम से अलग रखने चाहिये। समासों में हाइफ़न आदि लगाने के स्पष्ट नियम हैं, जैसे अँग्रेज़ी में। उन्हें समझ लेने की आवश्यकता है संस्कृत में समासयुक्त शब्द जुड़वाँ लिखे जाते हैं।

लिपि-सम्बन्धी स याओं की चर्चा पिछले प्रकरण के अन्त में की जा चुकी है।

संक्षेप

हिन्दी के सामने कुछ अपनी समस्याएँ अवश्य हैं—किन्तु सभी भाषाओं की अपने-अपने ढंग की समस्याएँ हो सकती हैं, कुछ बाहर की कुछ भीतर की। हिन्दी-सम्बन्धी बाहर की समस्या अँग्रेजी साम्राज्य-काल की पैदा की हुई व्याधि है। इस से पहले भाषा-सम्बन्धी ऐसी भावुकता कभी नहीं थी। स्वराज्य से पहले भी हमारे सामने इस तरह के प्रश्न अवश्य थे कि हिन्दी राजभाषा क्यों न हो? हिन्दी हो या उर्दू या हिंदुस्तानी? हिन्दी हो या अँग्रेज़ी? किंतु संविधान ने सब झगड़े समाप्त कर दिये हैं। गांधी युग के बाद नेहरू युग आया। इस युग में दो बातें ऐसी हुईं कि जिनके कारण भाषा का प्रश्न इतने भयानक रूप में खड़ा हो गया—एक तो भाषावार प्रान्तों का निर्माण जिससे प्रांतीयता और भाषा-भक्ति को प्रोत्साहन मिला, और दूसरी अँग्रेज़ी की प्रवर्धना। हिन्दी को उलझाने वाले कई तरह के लोग प्रयत्नशील हैं—राजनीतिक दल, ब्रिटिश कौंसिल और विदेशी गुप्तचरों के अभिकर्ता, अँग्रेज़ी के पुराने उपासक, सत्ताधारी और नौकर, उर्दू के छिपे-छिपे प्रचारक, हिंदुस्तानी के भक्त, प्रांतीय भाषाओं के ध्वजधारी, आदि-आदि। ये लोग झूठे-सच्चे कई तरह के आरोप और नारे लगाते हैं—हिंदी में साहित्य नहीं, हिंदी दरिद्र है, हिंदी से देश बँट जायगा, इत्यादि। हिन्दी वालों को ऐसे षड्यन्त्रकारियों से सावधान रहना चाहिए। मजे की बात यह है कि हिन्दी इन विरोधों के रहते भी उन्नति की राह पर अग्रसर है, और इस समय वह किसी दृष्टि से भी किसी भाषा से हीन नहीं है, यद्यपि सरकारी तौर पर इसकी राह में रोड़े अटकाये जा रहे हैं। सारी कठिनाई इस कारण से है कि संविधान द्वारा आदिष्ट कर्तव्य को सरकार ने पूरा नहीं किया। दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रति हिन्दी अपनी सद्भावनाएँ बार-बार घोषित कर चुकी है, क्योंकि हिन्दी को सब से कुछ-न-कुछ लेना ही लेना है, किसी से विरोध नहीं।

हिन्दी की कुछ आन्तरिक समस्याएँ भी बतायी जाती हैं— जैसे लिंग-भेद की समस्या, 'ने' का प्रयोग, वर्तनी की एकरूपता, आदि। वास्तव में ये कोई समस्याएँ नहीं हैं—हिन्दी-विरोधियों के चोचले हैं।

१४. हिन्दी-सम्बन्धी भाषावैज्ञानिक कार्य

कोई भाषा कितनी ही पुरानी क्यों न हो, उसका अध्ययन तभी प्रस्तुत होता है जब उस भाषा के सीखने की चाह उन लोगों में जागृत होती है जिनकी वह मातृ-भाषा नहीं है, अथवा उस भाषा का सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं सामान्य स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह सारे समाज की होकर भी किसी प्रदेश विशेष की नहीं रह जाती। तब उसके 'सीखने की माँग' होती है और उस माँग को पूरा करने के लिए तरह-तरह की खोजें होती हैं, पद्धतियाँ निकाली जाती हैं। 'माँग' के बिना न तो कोई कार्य विस्तृत होता है और न ही उसे बढ़ा ले चलने की कोई परम्परा बनती है। पर, आज की स्थिति कुछ भिन्न है। आज तो भाषाविज्ञान विश्वविद्यालयों और विशिष्ट विद्यापीठों में अध्ययन-अध्यापन का विषय है। इस नाते अनेक भाषाओं की समस्याओं से जूझना भाषाशास्त्र के विद्यार्थी की मजबूरी है। किन्तु, प्राचीन काल में वैदिक भाषा का अध्ययन (छः वेदांगों के रूप में) और बाद में संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि का विश्लेषण उसी उद्देश्य से हुआ।

प्रायः भाषाध्ययन के दो पक्ष आरम्भिक अवस्था में उभर कर आते हैं—शब्द-भंडार और शब्दानुशासन। आगे चलकर भी इन्हीं दो पक्षों की प्रधानता बनी रहती है, भले ही इनसे सम्बन्धित विविध समस्याओं पर गम्भीर और व्यापक विचार होने लगता है तथा इनकी पद्धतियाँ *क्रमशः* वैज्ञानिक होती चलती हैं।

१४.१. हिन्दी शब्दशास्त्र

हिन्दी का पहला कोश अमीर खुसरो-कृत 'खालिकबारी' है। बाद में वैष्णव कवि नंददास-कृत 'मानमंजरी नाममाला' (१५६८ ई०) प्राप्त है। इसी कोटि की नाम-मालाएँ अनेक कवियों द्वारा लिखी मिलती हैं। कुछ एक के नाम यहाँ दिये जा रहे हैं :—बनारसीदास जैन १६१३, शिरोमणि मिश्र १६२३, भीखाजन १६२६, बदरीदास १६६८, मियाँ नूर १६६७, हमीरदास रत्नू १७१७, भिखारीदास १७३८, हरि १७६३, खुमान कवि १७८०, हरिचरनदास १७८१, सुवंश शुक्ल १७८७, प्रयागदास १८१२, हरिविलास १८३१, नवलसिंह १८४६, कविराज चंदनराय १८८२, लाडली प्रसाद १९०६। ये कोश पद्यबद्ध हैं। इनमें प्रायः नाम (संज्ञापद) ही हैं, जैसे देवतानाम, समुद्र-नाम, स्त्रीनाम, तरत्वारिनाम, इत्यादि। इनकी उपयोगिता अत्यन्त सीमित है। सबसे

छोटी नाममाला में ८० और सबसे बड़ी नाममाला में २५०० शब्द हैं। ये एक प्रकार के पर्यायवाची कोश हैं, जैसे संस्कृत का अमरकोश। इनकी शैली प्रबन्धात्मक है, अतः शब्द-चयन की सीमा कथावस्तु से निर्धारित होती है, जैसे नंददास की नाममाला में राजा मानसिंह की और नवलसिंह की नाममाला में रामायण की कथा वर्णित है।

श्रीकृष्ण शुक्ल और भोलानाथ तिवारी के पर्यायवाची शब्दकोश अपेक्षाकृत उपयोगी हैं। शुक्ल का संग्रह अमरकोश का हिन्दी-संस्करण ही समझिए, किन्तु तिवारी का कोश अधिक विस्तृत और संतोषजनक है। इसमें यत्र-तत्र विलोमार्थक शब्द भी दिये गये हैं। रामचन्द्र वर्मा ने पर्यायों के सूक्ष्म अर्थभेदों का विवेचन—'शब्द-साधना,' 'शब्दार्थक ज्ञानकोश' और 'शब्दार्थ-मीमांसा'—प्रकाशित कराके हिन्दी कोशविज्ञान में एक नया प्रकरण जोड़ा है।

१४.१.२. दूसरे प्रकार के पुराने कोश वे हैं जिन्हें 'अनेकार्थ-संग्रह' कहा गया है। इनमें ऐसे शब्दों का संचयन हुआ है जिनके एकाधिक अर्थ होते हैं। इस क्षेत्र में भी नंददास अग्रणी हैं। उनकी 'अनेकार्थ मंजरी' में २२८ पद्य और लगभग ७०० शब्द हैं। इनके बाद भगवतीदास अग्रवाल १६३०, विनयसागर उपाध्याय १६४६, महासिंह पाण्डे १७०३, केसर कीर्ति १७२६, दयाराम त्रिपाठी १७३८, रामहरि जौहरी १७४७, चंदनराय १८०६, सागर कवि १८२०, उदयराम १८३५, मातादीन १८४२, आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें हिन्दी का तत्कालीन शब्द-भण्डार संगृहीत करने की चेष्टा की गयी हो। इस कोटि में मिर्ज़ा ख़ाँ का 'तुहफ़तुल हिन्द' विशेषतः महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें शब्द अकारादि क्रम से दिये गये हैं।

१४.१.३. यूरोपीय विद्वानों के कार्य से एक नया मोड़ आया। हिन्दी सीखने की आवश्यकता तीव्र हो गयी। सरकारी कर्मचारियों और ईसाई मिशनरियों को भारतीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य था। उन्होंने नयी पद्धति के शब्दकोश प्रस्तुत किये। अग्रलिखित हिन्दी शब्दकोश उपलब्ध हैं—

जे० फ़र्गुसन	:	हिन्दुस्तानी भाषा का कोश, १७७३, रोमन अक्षरों में।
गिलक्रिस्ट	:	हिन्दुस्तानी-अँग्रेज़ी शब्द-संग्रह, १७६८। १००० शब्द (सं० तत्सम शब्द नहीं हैं)।
विलियम हन्टर	:	हिन्दुस्तानी-अँग्रेज़ी शब्दकोश, १८०८। कुछ बड़ा संग्रह। रोमन अक्षर।
जॉन शेक्सपीयर	:	हिन्दुस्तानी-अँग्रेज़ी शब्दकोश, १८१७। २२३६ पृष्ठों में, कुल ७०,००० शब्द। इसमें कतिपय शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयत्न भी किया गया है। हिन्दी शब्द देवनागरी में हैं।

केप्टन प्राइस : प्रेमसागर का शब्द-भण्डार।

पादरी टी० एडम : हिन्दी शब्दकोश, १८२६। हिन्दी शब्दों के हिन्दी में अर्थ। २०,००० शब्द।

जे० टी० टॉम्पसन : हिन्दी और अँग्रेज़ी कोश, १८४६। ३०,००० शब्द, बोलचाल और साहित्य से संगृहीत। व्युत्पत्ति नहीं दी। उच्चारण रोमन में।

डन्कन फ़ोर्ब्स : हिन्दुस्तानी और अँग्रेज़ी कोश, १८४८। सामान्य।

पादरी जे० डी० बेट : हिन्दी भाषा का शब्दकोश, १८७०। आरम्भ में हिन्दी व्याकरण और ध्वनि-गठन पर निबन्ध। बोलियों के शब्द भी सम्मिलित हैं। बाइबिल के शब्द अधिक हैं। पचास-साठ वर्ष इसका आदर रहा।

एम० डब्ल्यू० फ़ालन : हिन्दुस्तानी शब्दकोश। शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों का अच्छा संग्रह। साहित्यिक शब्दों का बहिष्कार अखरता है।

जे० टी० प्लॉट्स : उर्दू-हिन्दी-अँग्रेज़ी कोश, १८८४। शब्दों का क्रम उर्दू वर्णमाला के हिसाब से। हिन्दी-संस्कृत शब्द देवनागरी में भी। सुन्दर शब्द-संग्रह। आज तक प्रामाणिक माना जाता है। शेष कोशों में से कोई भी अब प्रचलित नहीं है, क्योंकि उनमें व्याकरण तथा उच्चारण-सम्बन्धी अनेक दोष हैं। [illegible] शब्द-चयन भी बेढंगा है। प्लॉट्स का कोश [illegible]लीन हिन्दी का अच्छा शब्दार्थ-भण्डार है।

१४.१.४. अँग्रेज़ी विद्वानों को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति को संगृहीत करने के महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। उन्होंने अकारादि क्रम से कोश-सम्पादन की कला को स्थिर किया। उन्होंने इस कला में कई तत्त्व समाहित किये—उच्चारण, व्याकरण, व्युत्पत्ति, पर्याय और अनेकार्थ, बोलचाल तथा साहित्य दोनों स्रोतों के शब्द, समासयुक्त शब्दों तथा मुहावरों का समावेश, इत्यादि। इसी पद्धति के अनुसार आज एक सौ वर्ष से हिन्दी शब्दकोश लिखे जाते रहे हैं। भारतीय विद्वानों ने उनसे बहुत अधिक लाभ उठाया है। निम्नलिखित कोश उपर्युक्त हिन्दी-अँग्रेज़ी कोशों के आधार पर लिखे गये हैं—

हिन्दी कोश (बुक एंड लिटरेचर सोसाइटी) १८७१, शब्दकोश (राधेलाल मुन्शी) १८७३, कोश-रत्नाकर (सदासुख लाल) १८७६, मंगल कोश (मंगली लाल) १८७७, देवकोश (देवदत्त तिवारी) १८८३, कैसर-कोश (कैसर-बख़्श मिर्ज़ा) १८८६,

मधुसूदन निघंटु (मधुसूदन पंडित) १८८७, विवेक कोश (बाबा बैजूदास) १८९२, श्रीधर भाषाकोश (श्रीधर त्रिपाठी) १८९९, गौरी नागरी कोश (गौरीदत्त) १९०१। इनमें 'कैसर कोश' की अपनी विशेषता यह है कि इसमें स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों की शब्दावली का संग्रह किया गया है। 'श्रीधर भाषाकोश' में लगभग २० हज़ार शब्द हैं और अब तक इसके कई संस्करण हो चुके हैं। अभी हाल तक यह बहुत लोकप्रिय कोश था। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त हिन्दी कोशों की कोई अपनी विशेषता नहीं है और कोशकला के विकास में इनका कोई योगदान नहीं है।

सन् १९१२ और १९२९ के बीच में एक बहुत बड़े कोश 'हिन्दी शब्द सागर' का श्री श्यामसुन्दर दास की प्रधानता में सम्पादन हुआ। इसमें एक लाख के लगभग शब्द, मुहावरे आदि हैं। इस कोश की मान्यता सब जगह हुई है और यह कहा जा सकता है कि अब तक के कोशों में यह सबसे बड़ा और वैज्ञानिक है। इसी के आधार पर आगे चलकर अनेक छोटे, बड़े, मझोले कोश तैयार हुए। शब्दों का संकलन बहुत सावधानी से किया गया है। संस्कृत के शब्दों की अधिकता अवश्य है और अरबी-फ़ारसी के शब्दों का चयन विवेकपूर्ण नहीं बन पाया। व्युत्पत्ति भी प्रायः दोष-पूर्ण है। प्रत्ययों और प्रसार-खण्डों की व्युत्पत्ति प्रायः नहीं दी गयी। बहुत-से ऐसे शब्दों को, जिनकी व्युत्पत्ति अब ज्ञात है, देशी कहा गया है। पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्धित शब्दों की अधिकता है। अर्थ प्रायः वैज्ञानिक क्रम से हैं, यद्यपि इसमें भी बहुत सुधार की गुंजाइश है। कई शब्दों के अर्थों के रूप में बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ दी गयी हैं। अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए साहित्य और भाषा से बहुत अच्छे उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु, इस नियम का पालन सदा नहीं किया गया। कोश का अन्तिम भाग अनुपाततः छोटा है और इसमें अर्थों में बड़ी किफ़ायत से काम लिया गया है। उदाहरण भी यहाँ कम हैं। अब इस कोश का नया संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस समय तक जो खण्ड सामने आये हैं, इनसे यह तो अवश्य लगता है कि शब्द-संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। किन्तु, आधुनिक कोशकला की दृष्टि से यह कोश निराशाजनक ही है। द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी का 'शब्दार्थ पारिजात' (१९२४) वास्तव में ब्रजभाषा और संस्कृतगर्भित हिन्दी का कोश है। इसकी व्युत्पत्तियाँ पंडिताऊ ढंग की हैं।

जब से हिन्दी राजभाषा बनी है, हिन्दी संदर्भ-ग्रन्थों की वृद्धि हो रही है। रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' (१९४९) अर्थों की दृष्टि से पहले के कोशों से आगे है। यह कोश सम्पूर्ण भाषा का संग्रह तो नहीं, किन्तु जो कुछ इसमें है, वह साफ़-सुथरा और सही है। 'नालन्द शब्दसागर' (१९५०) और 'प्रचा-

रक शब्दकोश' (१९५०) साधारण ग्रंथ हैं जिनमें कई तरह की अशुद्धियाँ हैं और जिनकी एक मात्र विशिष्टता यही है कि कुछ इधर-उधर के कोशों से शब्द लेकर उनका कलेवर बढ़ा दिया गया है। ज्ञानमण्डल, काशी, द्वारा प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' आजकल के कोशों में सर्वोत्तम कहा गया है, किन्तु उसमें भी संस्कृत और उर्दू के सैंकड़ों ऐसे शब्द और अर्थ भर दिये गये हैं जिनका हिन्दी में प्रचलन नहीं है। इस कोश की आधुनिकता इस बात में अवश्य है कि मुख्य शब्द से विकसित शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों को उसी शब्द के पेटे में दे दिया गया है। हाल ही (१९६३–६६) में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने पाँच खण्डों में अपना 'मानक हिन्दी कोश' प्रकाशित किया है। इस कोश की तैयारी में १२ वर्ष लग गये। सम्पादक प्रसिद्ध कोश-कार रामचन्द्र वर्मा हैं। किन्तु, वैज्ञानिक दृष्टि से इसे आधुनिकतम नहीं कहा जा सकता। व्युत्पत्तियाँ ऐसी शब्दावली में दी गयी हैं जो हिन्दी पाठकों के लिए दुरूह हैं। तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति प्रायः नहीं दी गयी। अर्थों का क्रम भी बहुत वैज्ञानिक नहीं है।

१४.१.५. हिन्दी से अन्य भाषाओं में भी कोश लिखे गये हैं: हिन्दी-फ़ारसी (१८०० ई०), हिन्दी-रूसी (१९५३), हिन्दी-संस्कृत (१९१५, १९४०, १९५७), हिन्दी-उर्दू (१९०१, १९४७), हिन्दी-पंजाबी (१९५३), हिन्दी-बंगाली (१९१५, १९३३), हिन्दी-मराठी (१९२९, १९३९, १९४८, १९५१), हिन्दी-गुजराती (१९३९), हिन्दी-सिन्धी (१९६२), हिन्दी-असमी (१९५२), हिन्दी-उड़िया (१९५१), हिन्दी-तमिल (१९५९), हिन्दी-तेलगू (१९२२, १९५०), हिन्दी-कन्नड़ (१९३७, १९५०), हिन्दी-मलयालम (१९५०, १९६४)। किन्तु, इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हिन्दी में त्रिभाषी और चतुर्भाषी कोश भी तैयार किये गये हैं और हाल ही में विश्वनाथ दिनकर नरवाणे द्वारा एक कोश प्रकाशित हुआ है जिसमें हिन्दी के शब्दों को आधार मान करके भारत की १५ भाषाओं में पर्याय दिये गये हैं, किन्तु शब्द-संख्या बहुत सीमित है।

१४.१.६. हिन्दी में पारिभाषिक कोशों की कमी है। गरीबदास का 'अनभय-प्रबोध' (१६१५) प्राचीन कोश है जिसमें संत साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों का संग्रह है और नाममालाओं में एक ऐसी भी है जिसमें मध्यकालीन भक्ति-काव्य में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दों का संकलन हुआ है। जो कोश रघुवीर, सुख-सम्पत्ति राय भण्डारी, भारतीय हिन्दी परिषद्, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारत सरकार के हिन्दी-निदेशालय तथा वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित हुए हैं, वे अँग्रेजी से हिन्दी में हैं, इसलिए उनका हिन्दी कोशविज्ञान के विकास में कोई महत्त्व नहीं समझा जा सकता। हिन्दी से अँग्रेजी में रघुवीर काएक कोश अवश्य है, किन्तु

उसमें हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों को मूल स्रोतों से संकलित नहीं किया गया, बल्कि अँग्रेज़ी से हिन्दी में जो शब्द बने हैं, उन्हीं का उल्टा कर दिया है। बदरीनाथ कपूर का 'परिभाषा-कोश' है तो संक्षिप्त, किन्तु इससे एक नयी दिशा का निर्देश प्राप्त होता है। यदि वे स्वयं अथवा आने वाले विद्वान् इस काम को आगे बढ़ायें तो शब्दों की परिभाषाएँ निश्चित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सकता है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित कृषि-शब्दावली भी उल्लेखनीय है। इसका आधार ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित 'बिहार पेज़ेण्ट लाइफ़' है। इस तरह का क्षेत्रीय कार्य बहुत आवश्यक है। आगे देखिए १४.१.१०. भी।

१४.१.७. मुहावरा-कोशों में ब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा (१९३८), अम्बिका प्रसाद वाजपेयी (१९४०), रामदहिन मिश्र (१९५९) और भोलानाथ तिवारी (१९५१) के संग्रह कुछ अच्छे हैं। अन्तिम कोश शायद सबसे अच्छा है। किन्तु, सम्पादक प्रायः मुहावरे और शब्दों के आलंकारिक रूपों या प्रयोगों और वाक्य-खण्डों तथा लोकोक्तियों में बहुत कम भेद कर पाये हैं। सबसे पहला लोकोक्ति-कोश सन् १८८४ में फ़ालन ने सम्पादित किया था। इसके बाद हिन्दी में कई संकलन हुए हैं, किन्तु १९२३ में प्रकाशित विश्वम्भरनाथ का लोकोक्ति-कोश सम्भवतः अच्छा माना जा सकता है, किन्तु यह भी हिन्दी भाषा की सम्पत्ति का पूरा परिचायक नहीं है। राजस्थानी लोकोक्तियों पर वैज्ञानिक कार्य कन्हैयालाल सहल का है।

१४.१.८. खेद का विषय है कि आज तक हमारे हिन्दी कोशकारों ने दूसरे कोशों की सहायता से कोश तैयार किये हैं। साहित्य और लोक तक पहुँचकर कोश-सम्पादन का प्रयत्न एक मात्र 'हिन्दी-शब्दसागर' के माध्यम से हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति लाखों तक गिनी जा सकती है। लेकिन, इस क्षेत्र में कोई खोज नहीं हुई और हमारी पूरी सम्पत्ति अभी कोशगत नहीं हो पायी। कोशों में शब्दों का क्रम भी अभी निश्चित नहीं हो पाया। अनुस्वारयुक्त वर्ण क्रमशः मात्रा के पश्चात् आना चाहिए अथवा सब मात्राओं के पहले, यह भी एक विवादास्पद विषय हैं। शब्दों के स्रोत का भी निश्चय होना चाहिए। कोशों में ब्रजभाषा, अवधी, पंजाबी, भोजपुरी, बुन्देली आदि अनेक बोलियों के शब्द संगृहीत हैं, किन्तु ऐसा संकेत नहीं किया जाता कि यह शब्द अमुक बोली का है। शब्द का प्रयोग किस विषय में होता है : दर्शन में, विज्ञान में, मनोविज्ञान में अथवा आयुर्वेद में, और किस अर्थ में किस विषय से इसका सम्बन्ध है, यह संकेत भी नहीं दिया जाता। प्रायः माना जाता है कि हिन्दी की लिपि ध्वनिसम्मत है, किन्तु अब इस पर सन्देह होने लगा है, और यह आवश्यक है कि शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में किसी पद्धति का विकास किया जाये।

शब्द के किस अक्षर पर बलाघात पड़ता है, कम-से-कम इसका संकेत कोशों में अवश्य होना चाहिए। अर्थों के क्रम के सम्बन्ध में भी कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त निश्चित नहीं किये गये। आज की कोशकला में शब्द का पूरा परिप्रेक्ष्य रहता है और कोश न केवल शब्दों और अर्थों का संग्रह है, बल्कि भाषा सीखने-सिखाने का माध्यम भी बन गया है। पश्चिम में इसी दृष्टि से कोश लिखे जा रहे हैं। अर्थों की आवृत्तियों पर भी कोई कार्य अभी तक नहीं हुआ, ताकि यह निश्चित किया जा सके कि अर्थक्रम में किस अर्थ की प्राथमिकता हो और कौन अर्थ बाद में यथाक्रम आयें।

१४.१.६. कोशविज्ञान पर हिन्दी में दो-तीन कार्य उल्लेखनीय हैं। रामचन्द्र वर्मा की 'हिन्दी कोशकला' है तो साधारण-सी पुस्तक, किन्तु इसमें मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का आकलन हो ही गया है। वन्शीधर पण्डा और योगेश्वर पाण्डे ने 'हिन्दी कोशविज्ञान का उद्भव और विकास' शीर्षक से अपने-अपने शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं और इनमें हिन्दी के कोशों के गुण-दोषों का कालक्रम से विवेचन हुआ है।

१४.१.१०. शब्दावली-सम्बन्धी वैज्ञानिक कार्यों में विश्वनाथ मिश्र का 'हिन्दी पर अँग्रेज़ी प्रभाव', अम्बिका प्रसाद वाजपेयी का 'हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव', हरदेव बाहरी का 'फ़ारसी का हिन्दी पर प्रभाव', कैलाशचन्द्र भाटिया का 'अँग्रेज़ी से आगत शब्द', हरदेव बाहरी का 'देशी शब्द-तत्त्व' और सरनाम सिंह शर्मा का 'हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव' उल्लेखनीय हैं। आर्येतर भाषाओं का हिन्दी-शब्दावली के निर्माण में क्या योगदान रहा है, इस पर शोध की अपेक्षा है। यह स्वीकार किया [illegible] है कि अर्थवत्ता की दृष्टि से हिन्दी बोलियों का शब्द-सामर्थ्य बहुत सम्पन्न [illegible] सबल है। इस दिशा में जो कार्य हुआ है, उसमें से हरिहर प्रसाद गुप्त की 'ग्रामोद्योग-सम्बन्धी अवधी शब्दावली', अम्बाप्रसाद सुमन की 'कृषक जीवन-सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली', सालिग-राम शर्मा की 'इलाहाबाद की कृषि-शब्दावली', रामसिंह नाई की 'कूर्माञ्चल की औद्योगिक शब्दावली', हरिदत्त भट्ट की 'गढ़वाली का शब्द-सामर्थ्य', देवीशंकर अवस्थी का बैंसवाड़ी शब्द-सामर्थ्य', आदि शोध-प्रबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं।

१४.१.११. कुछ कवियों की शब्दावलियों पर भी कार्य हुआ है। 'कुतुब शतक और उसकी हिन्दुवी' तथा 'राउल वेल तथा उसकी भाषा' पर माता प्रसाद गुप्त का, कबीर की भाषा पर माता बदल जायसवाल, बिन्दु माधव मिश्र, महेन्द्र कुमार तथा शुकदेव सिंह का, नामदेव की भाषा पर राजनारायण मौर्य का, केशव की भाषा पर भारत भूषण का, बिहारी की भाषा पर राम कुमारी मिश्र का, तुलसी पर रामाज्ञा द्विवेदी का, सूर पर प्रेमनारायण टंडन का, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर सत्यवती अग्रवाल का शोधकार्य उल्लेखनीय है।

विज्ञानों से सम्बद्ध शब्दावली पर जो कार्य हुआ है, उसमें बाँकेलाल का 'गणितीय शब्दावली' पर, गोपाल शर्मा का 'सामाजिक विज्ञानों से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली' पर, तथा मोतीबाबू का 'हिन्दी की विधि-शब्दावली' पर जो कार्य हुआ है, वह भी महत्त्वपूर्ण है।

१४.१.१२. पिछले कई वर्षों से हिन्दी की आधारभूत शब्दावली की खोज होती रही है। यह अध्ययन भाषा के तुलनात्मक, सांस्कृतिक, शैक्षिक अध्ययन के लिए परम आवश्यक और उपादेय है। हिन्दी में किन शब्दों की कितनी प्रधानता है, इसका निर्धारण शब्दों की आवृत्ति-संख्या, उनके स्थान और प्रसंग से किया गया है। हिन्दीतर भाषाभाषियों के लिए इस कार्य का बड़ा महत्त्व है। इस दिशा में निम्नलिखित प्रकाशन उल्लेखनीय हैं—

पादरी जे० सी० कीनिङ्ग	: अध्यापकों और लेखकों के लिए ४००० महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची, १९३७।
ई० डब्ल्यू० मेन्ज़ल	: उर्दू और हिन्दी में साम्य, १९३८।
भारत सरकार, शिक्षा-विभाग	: बेसिक हिन्दी वोकेब्यूलरी (२००० शब्द), १९५८।
बदरीनाथ कपूर	: बेसिक हिन्दी, १९६२।
अ० मा० घाटगे	: फ़ोनीमिक एंड मार्फ़ीमिक फ्रीक्वेन्सीज़ इन हिन्दी, १९६४।
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान	: हिन्दी की आधारभूत शब्दावली, १९६७।
कैलाशचन्द भाटिया	: हिन्दी की बेसिक शब्दावली, १९६८।

१४.१.१३. शब्दशास्त्र का एक अंग शब्द-रचना है। इस पर सर्वाङ्गीण कार्य रूस में हुआ है। बड़े बरान्निकोव ने हिन्दी शब्द-शास्त्र की नींव रखी। उनके कार्य को छोटे बरान्निकोव (हिन्दी शब्द-रचना के सिद्धान्त, अँग्रेज़ी से आगत शब्द, पर्याय), बेस्क्रोवनी (सांस्कृतिक शब्द, संकर शब्द), बर्खुदारोव (हिन्दी शब्द-रचना—रूपात्मक तथा वाक्यात्मक रचना, संस्कृत का सामर्थ्य), चेरनीशेव (शब्दशास्त्रीय समस्याएँ), ज़ोग्रफ़ (ईरानी तथा अरबी तत्व), चेफ़कीना (हिन्दी परसर्ग) आदि विद्वानों ने अनुशासन के रूप में आगे बढ़ाया है। भारत में रमेशचन्द्र जैन का हिन्दी समास-रचना पर, उपरेती का हिन्दी प्रत्ययों पर, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का परसर्गों पर और माई दयाल जैन का सामान्य रूप से 'हिन्दी शब्द-रचना' पर जो कार्य है, वह अनेक दृष्टियों से उपयोगी और सराहनीय है।

१४.१.१४. 'हिन्दी मुहावरों' पर ओम् प्रकाश गुप्त का 'मुहावरा मीमांसा' और प्रतिमा अग्रवाल का 'हिन्दी मुहावरा-अध्ययन' वैज्ञानिक शोधपूर्ण कार्य हैं।

१४.१.१५. शब्दशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है शब्दार्थ-विज्ञान। इस पर बहुत कार्य तो नहीं हुआ, किन्तु हरदेव बाहरी का अँग्रेज़ी में 'हिन्दी शब्दार्थ-विज्ञान', डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'शब्दार्थ-विज्ञान', शिवनाथ का 'हिन्दी भाषा का अर्थतात्त्विक विकास', उमा मोडविल का 'हिन्दी में शब्द और अर्थ के सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक आधार' उल्लेखनीय हैं। रामचन्द्र वर्मा ने 'शब्दार्थ-मीमांसा' में शब्दों के पर्यायों के भेदों पर विचार किया है। इसी विषय पर बदरीनाथ कपूर का शोध-प्रबन्ध भी है जिसका शीर्षक है 'हिन्दी पर्यायों का भाषागत अध्ययन'। इसमें पर्यायों की स्थितियों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। सी० बी० गुप्त ने 'समध्वनि अनेकार्थ' शब्दों पर कार्य किया है, किन्तु वह अभी अप्रकाशित है। शिवनारायण ने 'संस्कृत शब्दों का अर्थमूलक परिवर्तन' शीर्षक से अपना शोध-प्रबन्ध प्रकाशित कराया है।

१४.२. व्याकरण

१४.२.१. हिन्दी का सबसे प्राचीन व्याकरण सम्भवत: मिर्ज़ा खाँ-कृत ब्रजभाषा व्याकरण (१६५८ ई०) है। खड़ीबोली का सबसे पहला व्याकरण डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक कर्मचारी जोहानस जोज़ुवा कैटलियर ने सन् १७१५ के आसपास लिखा था। उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना आधार बनाया। यह कार्य न तो बहुत वैज्ञानिक ही है और न ही इससे भाषा का कोई पूर्ण परिचय मिलता है, किन्तु, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अपना एक स्थान हो सकता है। अँग्रेज़ कर्मचारियों को हिन्दी का अध्ययन करने की आवश्यकता १८वीं शताब्दी के अन्त से अनुभव होने लगी। सन् १७६० में जान गिलक्रिस्ट ने 'हिन्दोस्तानी व्याकरण' लिखा। अँग्रेज़ी पद्धति के अनुसार हिन्दी का यह पहला व्याकरण है। इसके बाद टॉमस रायबेक (१८१०), विलियम गेट्स (१८२४), पादरी एम० टी० एडम (१८२७), डंकन फ़ोर्ब्ज़ (१८४६), पादरी एथ्रिंगटन (१८७०-[illegible]) तथा जान प्लाट्स (१८७४) अपने समय के सफल वैयाकरण कहे जा सकते हैं। इन्होंने हिन्दी के रूपों को अँग्रेजी पाठकों के लिए सुगम बनाने की चेष्टा की है। इस परम्परा में सबसे अच्छा व्याकरण एस० एच० केलॉग (१८७५) का है। ई० ग्रीव्ज़ का 'आधुनिक हिन्दी व्याकरण' (१८९६) भी सफल और लोकप्रिय रहा है। इन व्याकरणों का उद्देश्य भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करना नहीं था, बल्कि विदेशी कर्मचारियों और मिशनरियों के लिए हिन्दी का ज्ञान सुलभ कराना था।

इन विदेशी वैयाकरणों के अतिरिक्त भारतीय विद्वानों के कार्यों में उल्लेखनीय हैं—श्रीलाल का 'भाषा-चन्द्रोदय' (१८५६), रामजतन का 'भाषा-तत्त्वबोधनी,' (१८५८), नवीनचन्द्र राय का 'नवीन चन्द्रोदय' (१८६८), और राजा शिवप्रसाद

सितारेहिन्द का 'हिन्दी व्याकरण' (१८७०)। इनके बाद अनेक छोटे-बड़े व्याकरण लिखे गये जो प्रायः स्कूलों के विद्यार्थियों के काम के रहे हैं। १९२० में कामता प्रसाद गुरु का 'हिन्दी व्याकरण' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण में अँग्रेज़ी और संस्कृत के व्याकरण की नक़ल की गयी है। इस कारण से हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा विश्लेषण नहीं हो पाया। फिर भी, इसमें एक तो जो सामग्री संकलित है, वह बहुत भरपूर है; और दूसरे, एक अर्धशताब्दी तक इस व्याकरण ने देश और विदेश में हिन्दी के पाठकों की सहायता की है। यह बाद के व्याकरणों का प्रेरणा-स्रोत रहा है। गुरु के व्याकरण की त्रुटि का अनुभव करते हुए नागरी प्रचारिणी सभा ने एक दूसरे व्याकरण की व्यवस्था की, और किशोरीदास वाजपेयी का 'हिन्दी-शब्दानुशासन' (१९५७) प्रकाश में आया, किन्तु इसमें एक तो पद्धति के अभाव के कारण, दूसरे किन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण, और तीसरे लेखक की मान्यताओं के पिष्टपेषण के कारण यह कार्य बहुत वैज्ञानिक नहीं बन पाया। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित आर्येन्द्र शर्मा का 'आधुनिक हिन्दी का आधार-व्याकरण' (१९५७) पद्धति और विवरण की दृष्टि से अच्छा है।

रूस में प्रकाशित बड़े बरान्निकोव (१९५६) और कतानीना (१९६०) के हिन्दी व्याकरण भी पारम्परिक हैं। रूसी विद्वान् दीमशित्स का भारत में प्रकाशित व्याकरण नयी और पुरानी पद्धतियों का समन्वित रूप है, किन्तु इसके बहुत-से सिद्धान्त विश्वसनीय नहीं हैं। कामताप्रसाद गुरु के आधार पर लाइपज़िग (पूर्वी जर्मनी) से मारगोट हैल्सिग का व्याकरण हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

इधर विवरणात्मक भाषाविज्ञान की उन्नति के साथ हिन्दी व्याकरण को दोहराने की आवश्यकता का अनुभव हुआ है और इस प्रसंग में यूरोप और अमेरिका में किये गये कार्यों का उल्लेख आवश्यक है। डब्ल्यू० एस० एलन का 'हिन्दी संरचना का विश्लेषण', शिवेन्द्र कुमार वर्मा का 'हिन्दी व्याकरण का विधिवत् विवरण', मणीन्द्र किशोर वर्मा का 'हिन्दी संज्ञा वाक्य-खण्डों का अध्ययन', यमुना काचरू का 'हिन्दी क्रिया का अन्तरणात्मक अध्ययन' तथा 'वाक्य-रचना की भूमिका', एवं कैलाशचन्द्र अग्रवाल तथा हरदेव बाहरी के व्याकरण महत्त्वपूर्ण हैं।

१४.२.२. व्याकरण की अनेक समस्याओं पर भी विचार हुआ है। विदेश में जे० टी० बर्टन पेज का 'हिन्दी की संयुक्त क्रियाएँ' और 'हिन्दी में कृदंत रूप', पी० हैकर का 'आधुनिक हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं का कार्य', रमानाथ सहाय और विश्वजीत नारायण का 'हिन्दी में संज्ञा वाक्य-खण्ड की संरचना', चेक विद्वान् पोरिज़का का 'हिन्दी कृदन्त', 'हिन्दी संज्ञार्थक क्रिया', 'हिन्दी क्रिया का कालपक्ष', 'हिन्दी की संयुक्त क्रियाएँ', रूसी विद्वानों में ज़ोग्रफ़ का 'हिन्दी की निषेधात्मक क्रिया', चेरनोशेव का

'हिन्दी नामधातुएँ', यमातोवा का 'हिन्दी संज्ञार्थक क्रिया', एवं लेप्रोव्स्की का 'हिन्दी के भावार्थ' तथा 'हिन्दी कृदन्त', डच विद्वान् सीगफ्रीड लीनहार्ट का 'हिन्दी कालों का प्रयोग', भारतीय विद्वानों में शिवनाथ का 'हिन्दी कारक', बच्चूलाल अवस्थी का 'हिन्दी क्रियापद' (अप्रकाशित), काशीनाथ सिंह का 'संयुक्त क्रियाएँ', रमानाथ सहाय का 'हिन्दी धातुएँ', चतुर्भुज सहाय का 'हिन्दी की क्रियाएँ (प्रयोग आवृत्ति और रचना)', सुधीर कुमार माथुर का 'हिन्दी परसर्ग'—ये सब बड़े सफल और उयोगी कार्य हैं। रघुवीर शरण ने 'हिन्दी का रूपवैज्ञानिक और वाक्यवैज्ञानिक अध्ययन' प्रस्तुत करते हुए ऊपर के अनेक तत्वों का समाहार किया है। दे० १४.१.१३. भी।

विश्वविद्यालयों में रूप-रचना से सम्बद्ध अनेक विषयों पर कार्य हुआ है, किन्तु बहुत-सा ऐसा कार्य या तो अप्रकाशित है या अभी पुस्तक-रूप में नहीं आया। खेद की एक बात यह भी है कि हिन्दी में जो खोजें हुई हैं, उनका लाभ उठाते हुए कोई विद्वत्तापूर्ण व्याकरण नहीं लिखा गया।

१४.२.३. हिन्दी वाक्य-रचना पर चेरनीशेव का 'हिन्दी में सरल वाक्य का अध्ययन' (रूसी), उल्त्सीफ़िरोव का 'हिन्दी में मिश्र वाक्य का अध्ययन' (रूसी), ब्रजवासी लाल का 'हिन्दी वाक्य-रचना', एवं सुधा गुप्ता, यमुना काचरू, कालीचरण बहल और पीटर गीफ़के का कार्य उपलब्ध है। दयानन्द श्रीवास्तव ने 'आ[illegible] हिन्दी गद्य का वाक्य-योजन' पर अपने ढंग का अच्छा कार्य किया है। [illegible] १४.२.१. के अन्तर्गत जो अन्तरणात्मक व्याकरण का विवरण दिया गया है, उसका सम्बन्ध भी वाक्य-रचना से है।

१४.३. हिन्दी का उद्भव और विकास

हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण अभी तक नहीं लिखा गया, किन्तु 'हिन्दी का उद्भव (अथवा उद्गम) और विकास' शीर्षक से जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमें एक अध्याय हिन्दी व्याकरण के विकास पर भी दिया रहता है। हिन्दी के उद्भव और विकास से सम्बद्ध अनेक समस्याएँ हैं। हिन्दी वैदिक, संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से होकर विकसित हुई है और विकसित होती जा रही है। हिन्दी की ध्वनियों का विकास, रूपों का विकास और मुहावरों का विकास तथा वाक्य-रचना का विकास आदि अनेक विषय हैं जिन पर इन पुस्तकों में विचार किया गया है। श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी का विकास' शीर्षक से एक पुस्तिका लिखी थी, किन्तु वह बहुत संतोषजनक नहीं थी। पहला व्यापक कार्य धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी भाषा का इतिहास' है, इसमें संस्कृत से जो सीधे रूपों का निश्चयन किया गया है, उनमें बीच की कड़ियों का अभाव बहुत अखरता है, किन्तु यह पुस्तक चिरकाल तक विद्यार्थियों और अध्यापकों

का मार्गदर्शन करती रही है और इसमें कई ऐसे सिद्धान्त दिये गये हैं जो पहली बार प्रकाश में आये हैं। इसके बाद उदयनारायण तिवारी, हरदेव बाहरी तथा भोलानाथ तिवारी के ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनमें नाना समस्याओं पर बहुत गम्भीर और व्यापक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। ये पुस्तकें वर्तमान समय में प्रामाणिक मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अम्बाप्रसाद सुमन, गुणानन्द जुयाल, आदि बहुत से विद्वानों ने छोटी-बड़ी पुस्तकें इसी विषय पर लिखी हैं जिनकी अपनी-अपनी कुछ-न-कुछ देन अवश्य है।

दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी से अब तक के हिन्दी काल में जो हिन्दी भाषा का विकास हुआ है उसका क्रमबद्ध अध्ययन नहीं हुआ। १४.१.११., १४.३. और १४.७. में वर्णित कार्य उस अध्ययन की कड़ियों का काम दे सकते हैं। इसी संदर्भ में रामचंद्र राय का '१०वीं १६वीं शती के राजस्थानी प्रलेख' और श्याम कुमारी श्रीवास्तव का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की खड़ी बोली का अध्ययन' (दोनों अप्रकाशित) महत्त्वपूर्ण देन हैं।

१४.४. ध्वनि-विचार

यह बात बड़े खेद से अनुभव की जाती रही है कि हिन्दी की ध्वनियों पर कोई वैज्ञानिक कार्य नहीं हुआ। कादिरी का 'हिन्दी फ़ोनेटिक्स' दक्खिनी हिन्दी की ध्वनियों का अध्ययन है। विश्वनाथ प्रसाद ने लण्डन में रहकर जो ध्वनिशास्त्रीय कार्य किया, उसका सम्बन्ध भोजपुरी से है। रमेश मेहरोत्रा ने ध्वनि-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर लेख लिखे हैं और उदयनारायण तिवारी के 'स्वनिम' (phoneme) पर कुछ लेख उनकी पुस्तक 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा' में संगृहीत हैं। स्वनिम-सम्बन्धी अधिक विस्तृत कार्य आर० पी० दीक्षित का है। रूसी विदुषी एलिजरेन्कोवा ने स्वनिम पर सामान्यतया और व्यंजन-स्वनिमों पर विशेषतः कार्य किया है। इनके अतिरिक्त रूस में रूदिन (१९५८), और दविदवा (१९६१) द्वारा हिन्दी की ध्वनियों से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। कैलाशचन्द्र भाटिया का 'हिन्दी भाषा में अक्षर तथा शब्द की सीमा' अपने विषय का एकमात्र ग्रन्थ है।

१४.५. हिन्दी के रूप

हिन्दी के रूपों पर सबसे पुरानी दो पुस्तकें हैं—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'पुरानी हिन्दी' जिसमें प्राकृत से बिछुड़ती हुई और हिन्दी का रूप धारण करती हुई अपभ्रंश पर बहस की गयी है, एवं पद्मसिंह शर्मा कृत 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी'। वास्तव में इस पिछली पुस्तक में अनेक समस्याओं पर विचार संकलित किये गये हैं। इसी तरह की समस्याओं को गोविन्ददास सेठ ने 'राजभाषा हिन्दी' में और रविशंकर शुक्ल ने

'राष्ट्रभाषा की समस्या' तथा चन्द्रबली पाण्डेय ने उर्दू से सम्बद्ध अनेक छोटी-छोटी पुस्तकों में (जैसे—हिन्दी-उर्दू का प्रश्न, उर्दू का रहस्य, भाषा का प्रश्न, मुग़ल बादशाहों की हिन्दी, इत्यादि) उठाया है और विचारपूर्ण चर्चा की है। इसी प्रसंग में निम्नलिखित पुस्तकें उल्लेखनीय हैं—

नन्ददुलारे वाजपेयी	:	राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ—जिसमें विशेष कर दक्षिण में हिन्दी सीखने वालों को जो कठिनाइयाँ होती हैं, उनकी चर्चा की गयी है।
देवेन्द्र नाथ शर्मा	:	राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और समाधान
लक्ष्मी नारायण सुधांशु	:	सम्पर्क भाषा हिन्दी (लेख-संकलन)
सुनीति कुमार चटर्जी	:	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी
	:	भारत की भाषाएँ और भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ
राम गोपाल	:	स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी-संघर्ष का इतिहास
शितिकंठ मिश्र	:	खड़ीबोली हिन्दी का आन्दोलन
लक्ष्मीकान्त वर्मा	:	हिन्दी आन्दोलन
राम मनोहर लोहिया	:	भाषा
लक्ष्मीचन्द्र जैन	:	हिन्दी भाषा का आन्दोलन
रामविलास शर्मा	:	भाषा और समाज

यह अन्तिम पुस्तक सभी दृष्टियों से अधिक विचारपूर्ण है [illegible] म्भीरता से लिखी गयी है। इन सभी पुस्तकों में भाषाविज्ञान तो [illegible] और किन्हीं-किन्हीं में तो बिलकुल नहीं है, किन्तु भाषा से सम्बद्ध अने[illegible]श्न उठाये गये हैं और बहुत-सा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया [illegible] जिसका एक सामयिक महत्त्व है।

१४.६. बोलियाँ

बोलियों पर अंग्रेज़ी में सबसे अधिक प्रामाणिक और व्यापक कार्य सर जार्ज ग्रियर्सन का है। भारत में ही नहीं, अनेक देशों में इससे पहले ऐसा कार्य नहीं हुआ था। उन्होंने जिस पद्धति को अपनाया, वह आज भले ही दोषपूर्ण अथवा अपूर्ण कही जाय, किन्तु पिछले ५० वर्ष तक यह कार्य बोलियों पर खोज करने वालों के लिए प्रकाश-स्तम्भ रहा है। हार्नले ने पूर्वी हिन्दी बोलियों पर 'गौड़ी भाषाएँ' नाम से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है। सामान्य रूप से ग्रियर्सन के सर्वेक्षण-कार्य को आगे बढ़ाते हुए हरदेव बाहरी की 'ग्रामीण हिन्दी बोलियाँ' और भोलानाथ तिवारी की 'हिन्दी भाषा' के अन्तर्गत कुछ अध्याय उल्लेखनीय हैं। बोलियों पर इधर बहुत संतोषजनक कार्य हुआ है। वास्तव में टर्नर और यूल्स ब्लाख ने जो भाषावैज्ञानिक कार्य-

पद्धति स्थापित की थीं, उसका अनुसरण करते हुए भारतीय विद्वानों ने आरम्भ में अपनी-अपनी बोली का अध्ययन करना अच्छा समझा। इसलिए यह अध्ययन गम्भीर भी है और प्रामाणिक भी। यह अलग बात है कि समय-समय पर अध्ययन की पद्धति बदलती रही है और एक युग में टर्नर और ग्रियर्सन या यूल्स ब्लाख की पद्धति सर्वमान्य थी, किन्तु आज भाषाओं का विवरण देने के लिए एक नयी पद्धति चल पड़ी है। हिन्दी बोलियों पर जो कार्य हुआ है, उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

पश्चिमी हिन्दी

ब्रजभाषा

धीरेन्द्र वर्मा	: ब्रजभाषा
	: ब्रजभाषा-व्याकरण
किशोरीदास वाजपेयी	: ब्रजभाषा का व्याकरण
प्रेमनारायण टंडन	: ब्रजभाषा व्याकरण की रूपरेखा
हरिहरनिवास द्विवेदी	: मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)
रामस्वरूप चतुर्वेदी	: आगरा ज़िले की बोली
चन्द्रभान रावत	: मथुरा ज़िले की बोली

हरियाणी

ग्राहम बेली	: बाँगरू भाषा (पुराना काम)
जगदेव सिंह	: बाँगरू की ध्वन्यात्मक संरचना (अप्रकाशित)
नानक चन्द शर्मा	: हरियाणवी का उद्भव और विकास (अप्रकाशित)

बुन्देली

रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल	: बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
एम० पी० जायसवाल	: बुन्देली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन (अंग्रेज़ी में)

खड़ीबोली

हरिश्चन्द्र शर्मा	: खड़ीबोली (बोली रूप) के विकास का अध्ययन (अप्र०)
महावीर सरन जैन	: खुरजा और बुलन्दशहर तहसीलों की बोलियों का सांकालिक अध्ययन
बहादुर सिंह	: दिल्ली की खड़ीबोली।

कन्नौजी

शंकर लाल शर्मा	: कन्नौजी बोली का अनुशीलन (अप्रकाशित)
आर० आर० पी० द्विवेदी	: एटा ज़िले की अलीगंज तहसील की बोलियों का रूपात्मक अध्ययन

प्रेमा मिश्र : कन्नौजी बोली का अध्ययन (अप्रकाशित)

दक्खिनी

बाबूराम सक्सेना : दक्खिनी हिन्दी

श्रीराम शर्मा : दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास

बिहारी हिन्दी

सर जार्ज ग्रियर्सन : बिहारी के सात व्याकरण (अँग्रेज़ी में)

नलिनी मोहन सान्याल : बिहारी बोलियाँ

विश्वनाथ प्रसाद : बिहारी बोलियों का सर्वेक्षण (मानभूम और सिंहभूम)

मगही

सम्पत्ति आर्याणी : मगही व्याकरण-कोश

सरयू प्रसाद : मगही के ध्वनिशास्त्र का विवरणात्मक अध्ययन (अँग्रेज़ी, अप्रकाशित)

रमाकान्त मिश्र : पटना और गया की मगही भाषा का ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन (अप्रकाशित)

मैथिली

सुभद्र झा : मैथिली का विकास (अँग्रेज़ी में)

योगेश्वर झा : मैथिली व्याकरण

कामेश्वर शर्मा : भागलपुर ज़िले की बोली (अप्रकाशित)

भोजपुरी

उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और [illegible]हित्य

: भोजपुरी [illegible] उद्भव और विकास (अँग्रेज़ी में)

पूर्वी हिन्दी

अवधी

बाबूराम सक्सेना : अवधी का विकास (अँग्रेज़ी में)

विश्वनाथ त्रिपाठी : जायसी-पूर्व अवधी

छत्तीसगढ़ी

हीरालाल काव्योपाध्याय : छत्तीसगढ़ी व्याकरण (अँग्रेज़ी में)

भालचन्द्र राव तैलंग : छत्तीसगढ़ी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन

राजस्थानी

टेसीटोरी : पुरानी राजस्थानी

सुनीति कुमार चटर्जी : राजस्थानी भाषा

सीताराम लालस : राजस्थानी व्याकरण

राजस्थानी बोलियों में मारवाड़ी, मालवी, मेवाती, हड़ौती, आदि पर कार्य हो रहा है ।

पहाड़ी

गोविन्द चातक : मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
हरिशंकर जोशी : कुमाऊंनी का विकास (अप्रकाशित)

बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कैलाशचन्द्र भाटिया का 'ब्रज और खड़ीबोली का तुलनात्मक अध्ययन', गेंदा लाल शर्मा का 'ब्रज और खड़ीबोली का तुलनात्मक व्याकरण', अमर बहादुर सिंह का 'भोजपुरी और अवधी की सीमाक्षेत्रीय बोली का अध्ययन', चतुर्भुज द्विवेदी का 'बुन्देली और ब्रज का तुलनात्मक विश्लेषण' एवं संयुक्ता कौशल का 'हरियाणी और खड़ीबोली की सीमावर्ती बोली का अध्ययन' उल्लेखनीय हैं।

१४.७. शैली

पीछे १४.१.११. के अन्तर्गत हमने कतिपय कवियों की भाषा के सम्बन्ध में शब्दावली के अन्तर्गत एक सूची प्रस्तुत की है, उन कवियों की भाषा का शैलीगत अध्ययन भी उन्हीं पुस्तकों में हुआ है । इनके अतिरिक्त सुरेश कुमार की 'प्रेमचन्द्र की भाषा' और बी० एन० शर्मा की 'प्रसाद की भाषा' भी उल्लेखनाय हैं । सामान्य रूप से काव्य-भाषा पर दो कार्य स्तुत्य हैं—रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'भाषा और संवेदना,' और रामकुमार सिंह का 'आधुनिक हिन्दी काव्य की भाषा' ।

१४.८. व्यावहारिक भाषाविज्ञान

हिन्दी सीखने-सिखाने के लिए सहगल और साहनी की पुस्तकें चिरकाल तक प्रचलित रही हैं; यद्यपि भाषाविज्ञान से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उनमें एक पद्धति अवश्य रही है । इस परम्परा में अनेक हिन्दी स्वयंशिक्षक प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु उनमें भाषाविज्ञान से कोई लाभ नहीं उठाया गया । इधर भाषाविज्ञान की उपलब्धियों का अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए जो पाठ्यक्रम तैयार किये गये हैं, उनमें बोलचाल की हिन्दी पर पी० बी० पंडित और वेण्डर एवं फ़ेयरबैंक्स, गुम्पर्स, ह्विनिंग्सवाल्ड, मोग्रर, रिप्ले, हार्टर, पट्टनायक, पोरिज़्का और लूड राखर की पाठावलियां महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें जीवन की परिस्थितियों को प्रस्तुत करके जो बातचीत से भाषा का गठन निखर कर सामने आता है, उसी का पद्धतिबद्ध और क्रमिक अध्ययन विकसित किया गया है । इनमें पोरिज़्का का 'हिन्दी कोर्स' सबसे अधिक सफल और उपयोगी कहा जा सकता है । व्यावहारिक भाषा-विज्ञान पर केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, से योजनाबद्ध कार्य हो रहा है जिसका हिन्दी-जगत् में बड़ा आदर है ।

१४.९. लिपि

लिपि पर बहुत वैज्ञानिक और प्रामाणिक कार्य गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'भारतीय लिपिमाला' है। देवनागरी लिपि पर जोगलेकर ने अनेक विद्वानों के लेखों का संग्रह करके पुस्तक-रूप में सम्पादित किया है। ब्रजमोहन का 'नागरी लिपि : रूप और सुधार' नागरी लिपि की समस्याओं से सम्बद्ध है। शिवशंकर प्रसाद वर्मा का 'देवनागरी का ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन' (अप्रकाशित) शायद पहला संगठित और वैज्ञानिक कार्य है। वर्तनी अथवा वर्ण-विन्यास पर चर्चा तो बहुत हुई है और अनेक लेख भी प्रकाश में आये हैं, लेकिन पुस्तक-रूप में किशोरीदास वाजपेयी की पुस्तक 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' इस विषय की एकमात्र पुस्तक है।

१४.१०. उपसंहार

ऊपर जिस कार्य का विवरण दिया गया है, वह सारा कार्य तो अभी प्रकाशित नहीं हुआ, लेकिन उसका बहुत-सा अंश प्रकाश में आ चुका है। इसके अतिरिक्त 'भाषा' नाम की पत्रिका के आज तक प्रकाशित ३०-३२ अंकों में हिन्दी भाषाविज्ञान से सम्बद्ध अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं। दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में भी हिन्दी भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रश्न और समस्याओं की चर्चा होती रही है। इन सबका संकलन कर लेने की आवश्यकता है, क्योंकि दुर्भाग्य से हमारी पत्रिकाओं में जो बहुमूल्य ज्ञान संचित है, उसका संरक्षण और उसकी सुलभता अभी संदिग्ध है। भारत के [illegible], बल्कि विदेशों के विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि हिन्दी-सम्बन्[illegible]षावैज्ञानिक कार्य जितने विशाल, व्यापक और गम्भीर रूप में हुआ [illegible]ना भारत की किसी और भाषा का नहीं हुआ। यह स्वाभाविक भी है [illegible]कि हिन्दी बहुत बड़े क्षेत्र की भाषा है। हिन्दी-जगत् भाषाविज्ञान के [illegible] में बहुत जागरूक रहा है। इस क्षेत्र में उसने सारे देश का नेतृत्व [illegible] है। १९वीं-२०वीं शताब्दी में काम करने वाले यूरोपीय विद्वानों से उसने अधिक से अधिक लाभ उठाया है। और फिर, समय-समय पर भाषावैज्ञानिक गतिविधियों का आकलन करके हिन्दी के भाषावैज्ञानिक अध्ययन को समृद्ध किया है। विदेशी (विशेषत: रूसी और दूसरे दर्जे पर अमेरिकी) विद्वानों के काम की भी एक अपनी परम्परा बन गयी है। वे भी हिन्दी के अध्ययन को इस लिए सर्वाधिक महत्त्व देते हैं कि यह २५ करोड़ जनता की भाषा है, भारत की राष्ट्र-भाषा है और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से राजभाषा के पद पर आरूढ़ है। विश्व-विद्यालयों के हिन्दी-विभागों में भी पिछले चालीस वर्षों में व्यवस्थित एवं सन्तोष-जनक कार्य हुआ है। वर्तमान समय में लगभग १५० विषयों पर शोधकार्य चल रहा है।

१५. निर्देशिका

पुस्तक पढ़ते समय जिन पारिभाषिक शब्दों को समझने में थोड़ी-बहुत कठिनाई हो सकती है, उनकी व्याख्या की जा रही है। यह अनुक्रमणिका नहीं है। परिभाषा के अन्त में जो पृष्ठ-संख्या दी गयी है, उसके अनुसार प्रसंग और उदाहरण देखने पर स्पष्टीकरण हो जायगा।

अंगांगी अंतरण अर्थ-परिवर्तन में अंग (भाग) के स्थान पर अंगी (पूरे) का अर्थ होना या अंगी के स्थान पर अंग का अर्थ हो जाना। १६५।

अकर्मक वह क्रिया जिसे कर्म की अपेक्षा न हो।

अक्षर वर्ण, सिलेबल; शब्द के भीतर ध्वनियों की इकाइयाँ जो उच्चारण में एकदम बोली जा सकें।

अघोष ऐसी ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे से इतनी दूर होती हैं कि कम्पन नहीं होता, तरंग नहीं उठती—वर्ग के पहले दूसरे व्यंजन, श ष स ह। १०१-१०२।

अघोषीकरण ध्वनि-परिवर्तन में सघोष ध्वनि का अघोष हो जाना, जैसे पिशाची में।

अधिकरण आधार। जिसमें या पर कोई वस्तु हो, उसके लिए कारक। २३,७०।

अनद्यतन जो आज न हुआ हो न होनेवाला हो, सम्पन्न। २४

अनुनासिक मुख और नाक दोनों से बोली जाने वाली ध्वनि। २७,६८, १२३।

अनुस्वार स्वर के पीछे आनेवाली अनुनासिक ध्वनि। ६८।

अंतरंग भीतरी; वे भाषाएँ जो देश के भीतर (मध्य में) फैली हों। ४२।

अंतःसर्ग वह शब्दांश या अक्षर जो शब्द के बीच में लाया जाता है। १६०।

अंतःस्थ स्वर और व्यजन के बीच की ध्वनि; अर्धस्वर, स्पर्श और संघर्षी के बीच की ध्वनि। २७, ६८।

अन्य पुरुष सर्वनाम का भेद। कहने वाले और सुनने वाले से भिन्न। ७०, ७६, १७५।

अपत्य सन्तान या शिष्य (के अर्थ में प्रयुक्त प्रत्यय)। १५२।

अपश्रुति शब्द में स्वर-परिवर्तन जिससे थोड़ा भिन्नार्थक शब्द हो जाता है।

अपादान अलगाव। जिससे कोई वस्तु अलग हो, उसके लिए इस कारक का प्रयोग। ७०, ७८।

अभिप्राय वैदिक भाषा में क्रियारूप, जिसका अर्थ था उद्देश्य। २४।

अर्थ-प्रसार परिवर्तन में अर्थ का सीमित क्षेत्र से उठकर विस्तृत क्षेत्र में व्यवहार। १६४।

अर्थ-विस्तार एक अर्थ के अनेकानेक अर्थ हो जाना। १६२।

अर्थ-संकोच परिवर्तन से अर्थ का अधिक संकुचित क्षेत्र में व्यवहार। १६२।

अर्थापकर्ष परिवर्तन में अर्थ का बुरा हो जाना। १६५।

अर्थोत्कर्ष अर्थ में अच्छापन आ जाना। १६५।

अर्धतत्सम तत्सम और तद्भव के बीच की (अर्धविकसित) स्थिति वाले शब्द।

अर्धस्वर आधा स्वर आधा व्यंजन, कभी स्वर, कभी व्यंजन—य, व। ३२, १०१, १०२।

अल्पप्राण जिस व्यंजन से उच्चारण करने में कम वायु निकलती है, वर्ग के पहले, तीसरे, पाँचवें, अन्तस्थ, ऊष्म व्यंजन। १०१, १०२।

अविकारी जो लिंग वचन, विभक्ति, पुरुष आदि के अनुसार परिवर्ति[illegible] अविकारी;

अव्यय जिसका व्यय न हो; जो (रूप में) न बढ़े न [illegible]क, विस्मयादि बोधक क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, स[illegible] १८२-१८३।

अव्ययीभाव समास दोनों शब्दों का [illegible]कर अव्यय का काम देना। प्रायः पहला पद अव्यय[illegible] १४४, १४५।

आख्यात क्रिया या क्रियारूप। ३३।

आज्ञार्थ क्रिया का रूप जिससे आज्ञा, अनुमति, प्रेरणा का भाव व्यक्त हो, दे० विध्यर्थ।

उत्क्षिप्त व्यंजन जिसके उच्चारण में जीभ को लपेटकर तालू के मध्य में चोट दी जाती है— ड़, ढ़। ६६, १०१-१०२।

उत्तम पुरुष बोलने वाले के लिए सर्वनाम—मैं, हम। ७०, ७६, १०५।

उदासीन अत्यन्त ह्रस्व। ५।

उपसर्ग शब्द से पूर्व जुड़ने वाले अक्षर। १४६-१४८।

ऊनवाचक दे० लघुतावाचक; प्रत्यय या विशेषण जिससे छुटाई का बोध हो। १५३।

ऊष्म संघर्षी ध्वनि जिसके उच्चारण में संघर्षण के कारण ऊष्मा पैदा होती है–श ष स ह। २७, ६८।

करण क्रिया के साधन का अर्थ देनेवाला संज्ञा या सर्वनाम का रूप। २३, ७०, ७८, १५३, १५८।

कर्ता क्रिया का करने वाला। कर्ता कारक। ७०,७८।

कर्तृवाचक प्रत्यय जिससे अर्थ बनता हो 'करने वाला'। १५१, १५८।

कर्तृवाच्य जो क्रियारूप कर्ता के अनुसार हो। १८०।

कर्म शब्द (का रूप) जिस पर कर्ता की क्रिया का फल (प्रभाव) प्रकट हो। ७०, ७८।

कर्मधारय जिसमें विशेषण लगा हो ऐसा तत्पुरुष समास। १४५।

कर्मवाच्य जो क्रियारूप कर्म के अनुसार हो।

कारक संज्ञा या सर्वनाम का वह रूप जिससे क्रिया से कोई सम्बन्ध निश्चित हो। ३३।

कृदंत क्रिया के अन्त में प्रत्यय लगकर बना हुआ शब्द। १५१-१६०, १७८।

क्रियाविशेषण क्रिया की विशेषता सूचित करने वाला अव्यय शब्द। १५६, १५६, १८२।

क्षतिपूरक दीर्घीकरण संयुक्त या द्वित व्यंजन में किसी अवयव की क्षति हो जाने के कारण पूर्वाक्षर के ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना। ११०, ११६, १८५ आदि।

गति-शब्द ऐसे शब्द जिनका प्रयोग उपसर्ग की भाँति होता है। १४८।

गीतात्मक स्वराघात दे० संगीतात्मक स्वराघात। २२।

घोष दे० सघोष भी। ऐसी ध्वनियाँ जो स्वरतंत्रियों के परस्पर निकट होने के कारण कंपन या तरंग के साथ पैदा होती हैं, जैसे स्वर, वर्ग के तीसरे, चौथे, पाँचवें वर्ण और अन्तःस्थ।

तत्पुरुष समास पहला पद विशेषण के अर्थ में और दूसरा पद प्रधान अर्थ में हो, बीच में विभक्ति-चिह्न का लोप हो। १४४, १४५।

तत्सम मूल भाषा के समान; शुद्ध संस्कृत शब्द या रूप। १३०।

तद्धित क्रिया से भिन्न शब्दों में लगने वाले प्रत्यय। इनसे बनते हैं तद्धितान्त शब्द। १५१-१६०।

बलात्मक स्वराघात शब्द या वाक्य के किसी अंश पर अधिक बल देकर उच्चारण करना, बलाघात । २२, १२७ ।

बहिरंग बाहरी; वे भाषाएँ जो देश के चारों ओर बाहर-बाहर फैली हों । ४२ ।

बहुव्रीहि जब दोनों पद मिलकर तीसरा अर्थ दें, अर्थात् प्रधानता तीसरे पद की हो । १४५, १४६ ।

भाव अर्थ; क्रिया का वह रूप जिससे रीति (आज्ञा, संभावना, आदि) का बोध हो । २४ ।

भाववाचक संज्ञा जिससे भाव, गुण, दशा या कार्य का बोध हो । १५१, १५६ ।

भाववाच्य जो क्रियारूप न कर्ता के अनुसार हो न कर्म के; प्रधानता भाव की हो ।

मध्यम पुरुष जिससे बात की जाय, उसके लिए सर्वनाम—तू, तुम । ७०, ७६, १०५ ।

महाप्राण ऐसी ध्वनि जिसके उच्चारण में अधिक श्वास निकले, वर्ग के दूसरे-चौथे व्यंजन, ह । ६, १०१-१०२ ।

मूर्तीकरण अर्थ-परिवर्तन में अमूर्त के स्थान पर मूर्त वस्तु का अर्थ देने लगना । १६५ ।

मूर्धन्यीकरण परिवर्तन में (तवर्गीय) ध्वनियों का टवर्गीय (मूर्धन्य) ध्वनियाँ हो जाना । २८, ३२, १०६ ।

य-श्रुति एक स्वर से दूसरे स्वर की उच्चारण-स्थिति तक जाने में /य/ का-सा उच्चारण सुनायी देना ।

योजक अव्यय जो दो शब्दों या दो वाक्यों को जोड़ने में प्रयुक्त हो—और, या, किन्तु आदि ।

लकार क्रियाभेद, काल और भाव के अनुसार क्रियारूप । २४, २६, ३३ ।

लघुतावाचक वस्तु का छोटापन बताने वाला (प्रत्यय) । दे० ऊनवाचक भी । १५८ ।

लिंग संज्ञा, विशेषण या क्रिया के जिस विधान से वस्तु की जाति (नर या मादा या जड़) का पता चले । १७० ।

लुण्ठित व्यंजन /र/ जिसके उच्चारण में जीभ तालू से लुढ़क कर स्पर्श करे । १०२ ।

लुप्तपद समास जो कई पदों के लोप होने के बाद बना हो । १४५ ।

वचन एक और इससे अधिक की सूचना देने वाला शब्द-विधान । १६६ ।

व-श्रुति दो स्वरों के बीच में /व/ का सुनायी देना ।

वाच्य क्रिया का रूप जिससे देखा जाय कि वह कर्ता के अनुसार है, कर्म के या भाव के । ६ ।

विकारी जिन शब्दों का लिंग, वचन, कारक, पुरुष आदि के अनुसार रूप-परिवर्तन हो ।

विधेयक वाक्य के उद्देश्य और विधेय से सम्बन्ध दिखाने वाला शब्द ।

विध्यर्थक आज्ञा, आशीर्वाद, विधि के अर्थ में प्रयुक्त क्रियारूप । १८० ।

विपर्यय ध्वनियों का आपस में स्थान बदल लेना । २८, ३२, १०७ ।

विशेषण संज्ञा या सर्वनाम की विशेषता या सीमा निर्धारित करने वाला शब्द । १५४, १५६, १७२ ।

विषमीकरण परिवर्तन में समान ध्वनियों को विषम कर देना । २६, १२३ ।

विस्मयादिबोधक अव्यय जिनसे वक्ता के हर्ष, शोक, विस्मयादि का बोध हो ।

सं० संस्कृत ।

संगीतात्मक स्वराघात शब्द या वाक्य के किसी अंश का सुर के आरोह अव[illegible] साथ उच्चारण करना । ६ ।

संघर्षी ध्वनि जिसके उच्चारण में वायु घर्षण क[illegible], दे० ऊष्म । १०१-१०२ ।

संज्ञार्थक क्रिया क्रिया जो संज्ञा का कार्य [illegible] हिन्दी में -ना रूप । ८० ।

संधि पहले शब्द की [illegible] और दूसरे शब्द की प्रथम ध्वनि का परस्पर मेल [illegible] उस मेल के कारण परिवर्तन ।

संप्रदान [illegible]जसके लिए क्रिया की जाय उस संज्ञा या सर्वनाम का कारक रूप । ७०, ७८ ।

संभाव्य क्रिया होते रहने की संभावना का अर्थ या भाव; यदि के साथ प्रयुक्त क्रियारूप । ७२, ८०, १०८ ।

संयुक्त दो या दो से अधिक, जुड़े हुए—स्वर(६,१२५), व्यंजन(६,१०८) या क्रियापद (१८२) ।

संयोग ध्वनियों का जोड़ । १०८, ११५ ।

सकर्मक वह क्रिया जिसे कर्म की अपेक्षा हो । १८१ ।

सघोष दे० घोष । १०१-१०२ ।

सघोषीकरण परिवर्तन में अघोष ध्वनि का सघोष हो जाना । १०६ ।

समीकरण	समीकरण, दो भिन्न या विषम ध्वनियों का एक जैसा हो जाना। २६,११०-११४।
समास	दो या अधिक शब्दों का, बीच के सम्बन्धसूचक शब्दों का लोप करके, जोड़ देना। १४४।
समुच्चयबोधक	योजक अव्यय। १२२।
सम्बन्ध	कारक का वह रूप जिससे दूसरी वस्तु का इससे सम्बन्ध जान पड़े। ७०,७८।
सम्बन्धबोधक (सूचक)	—अव्यय जो एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध (स्थिति) प्रकट करे; दे० परसर्ग।
सम्बोधन	संज्ञा के जिस रूप से पुकारा जाता है।
सहायक क्रिया	जो मूल क्रियारूप के साथ नाना अर्थ लाने में सहायक हो—है। ७१,७६।
सादृश्यीकरण	किसी शब्द के नमूने पर वैसे शब्द बनाने की प्रक्रिया। २६।
सामान्य स्वर	सरल, अकेले या समान स्वर (जो संयुक्त नहीं)। ११५ इत्यादि।
स्त्री०, स्त्रीलिंग	मादा का अर्थबोध कराने वाला शब्द-रूप।
स्पर्श, स्पृष्ट	व्यंजन जिनके उच्चारण में जीभ या होंठ अन्य मुख-अवयव से स्पर्श करे। २८, ६६, १०१-१०२।
स्वर	/अ/ /आ/ आदि ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में हवा अबाध रूप से बाहर निकलती है ११५ इत्यादि।
स्वरभक्ति	संयुक्त व्यंजन के बीच में स्वर ला कर विभाजन कर देना। २८, ३३,११४।
हेतहेतुमद्भूत	कार्य होने वाला था हुआ नहीं, इस अर्थ में क्रियारूप २४, १७८।
ह्रस्व	छोटा, लघु; अ इ उ ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में थोड़ा समय लगता है। ५,११६।